आगमिक दर्शन

द्वितीय भाग

शैव-सिद्धान्त दर्शन

डॉ० कैलाश पति मिश्र

दर्शन एवं धर्म विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन

वाराणसी

प्रथम संस्करण : १९८२
द्वितीय संस्करण : १९९६

प्रकाशक :
कलावती मिश्रा
अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन
२७, दीनदयाल नगर कालोनी
नवाबगंज, वाराणसी–१०

मूल्य : १५० रुपये

मुद्रक : महाकान्त प्रेस
रेवड़ी तालाब, वाराणसी

लेखकीय

आगमिक दर्शनों के अध्ययन की शृंखला में द्वितीय कड़ी के रूप में 'शैव-सिद्धान्त दर्शन' हम प्रस्तुत कर रहे हैं। शैव-सिद्धान्त दक्षिण भारत में पल्लवित एवं विकसित हुआ धर्म-दर्शन है। आगमिक दर्शनों में शैव-सिद्धान्त विशिष्ट स्थान रखता है। धर्म दर्शन होने से शैव-सिद्धान्त में जहाँ धर्म के व्यावहारिक पक्ष की विशेषताएँ हैं वहीं उच्च कोटि का दार्शनिक चिन्तन भी विद्यमान है। शैव-सिद्धान्त को भक्तिपरक दर्शन भी कहा जाता है, जहाँ भावना पक्ष दार्शनिक चिन्तन को प्रभावित करता हुआ प्रतीत तो अवश्य होता है, किन्तु कहीं भी तर्क (reasoning) भावपक्ष के प्रति अपना समर्पण नहीं करता। समस्त चिन्तन शैवागमों पर आधारित है अथवा यह कहा जा सकता है कि उच्चतर अनुभूति अथवा ईश्वरीय ज्ञान (revelation) पर आधारित है, किन्तु शैव-सिद्धान्ती उसे तार्किक प्रक्रिया द्वारा पुष्ट भी करते हैं।

इस विशिष्ट दर्शन के मूल स्रोत ग्रन्थ तमिल भाषा में हैं तथा संस्कृत भाषा में भी कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इस विषय पर प्रकाशित सामग्री तमिल तथा विशेषकर अंग्रेजी भाषा में ही उपलब्ध है। हिन्दी भाषा में इस विषय पर किसी पुस्तक के होने की जानकारी फिलहाल हमें नहीं है। हिन्दी भाषा में इस विषय पर शोध कार्य अथवा पुस्तकों का लिखा जाना अति आवश्यक है, एक तो इस लिए कि इस उच्च-कोटि के दर्शन का हिन्दी भाषियों में प्रचार एवं प्रसार हो। दूसरे, यह दक्षिण और उत्तर की सांस्कृतिक, धार्मिक एवं दार्शनिक एकता की सुदृढ़ता के लिए भी आवश्यक है। प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा में एक प्रयास है।

यह पुस्तक हमारे पी-एच० डी० के शोध प्रबन्ध पर आधारित है। इसलिए हमें शोध-प्रबन्ध तैयार करने में जिनसे भी सहायता मिली अथवा अमूल्य सुझाव मिले, हम उनके आभारी हैं। डॉ० रेवती रमण पाण्डेय का निर्देशक के रूप में हमें अपूर्व योगदान मिला, हम उनके चिर ऋणी हैं। डॉ० रामशंकर मिश्र, डॉ० एन० एस० एस० रमन, डॉ० ए० के० चटर्जी से हमें अमूल्य सुझाव मिले थे, हम उनके कृतज्ञ हैं।

शैव-सिद्धान्त के प्रति हमारे झुकाव अथवा अध्ययन का कारण शैव-सिद्धान्त के हमारे गुरु डॉ० लक्ष्मी निधि शर्मा का आकर्षक एवं प्रभावशाली अध्यापन रहा है। डॉ० शर्मा द्वारा इसकी पाण्डुलिपि देख लेने के पश्चात् ही यह पुस्तक प्रकाशित हो रही है। डॉ० शर्मा से हमें अपूर्व सहयोग मिला है, जिसके लिए कृतज्ञता ज्ञापन

शब्दों मे नहीं किया जा सकता । इस पुस्तक को तैयार करने में अथवा शैव-सिद्धान्त का अध्ययन करने में भाषा सम्बन्धी कठिनाई को हमारे तमिल भाषा के शिक्षक श्री ए० एन० भारती ने दूर किया । भारती जी ने हमें तमिल भाषा का प्रथम पाठ पढ़ाया तथा शैव-सिद्धान्त को स्पर्श करने मे हमारी सहायता की । हम उनके हृदय से आभारी है ।

शैव-सिद्धान्त का काश्मीर शैव दर्शन से तुलनात्मक अध्ययन हमने काश्मीर शैव दर्शन के अधिकारी विद्वान् श्री कमलाकर मिश्र के सहयोग से प्रस्तुत किया हैं। उनकी सूक्ष्म आलोचनात्मक दृष्टि तथा विचारों की सुस्पष्टता से प्रभावित हुए बिना न तो मैं रह सका हूँ और न ही मेरी लेखनी । मैं उनका चिर ऋणी हूँ ।

प्रस्तुत पुस्तक में भाषा को सरल बनाने का प्रयास किया गया है जिससे विषय सुबोधगम्य हो सके । कहीं कहीं बोल चाल की भाषा भी प्रयुक्त हो गयी है, किन्तु यह विषय को बोधगम्य बनाने के लिए जान बूझ कर किया गया है ।

हम अपने अभिन्न मित्रों सर्वश्री राजदेव दूबे, सन्त प्रसाद मिश्र, चन्द्रबली पाल राम सकल यादव, घनश्याम उपाध्याय, रंगनाथ पाठक, डॉ० देवेन्द्र नाथ तिवारी, डॉ० अरविन्द राय, डॉ० देवव्रत चौबे तथा श्री शशिभूषण मोहन्ती के आभारी हैं जिनसे हमें समय-समय पर प्रोत्साहन मिलता रहा है । डॉ० उमेश दूबे, श्री अभिमन्यु सिंह, डॉ० जोध सिंह डॉ० गंगाधर के भी हम आभारी हैं । इसके अतिरिक्त हम डॉ० मुखर्जी, डॉ० बी० एन० सिंह, श्री केदार नाथ मिश्र, कु० सर्वाणी, मजुमदार के प्रति भी कृतज्ञ हैं, जिनसे प्राप्त शिक्षा का प्रयोग हमने प्रस्तुत पुस्तक को तैयार करने में किया है ।

कैलाश पति मिश्र

प्राक्कथन

भारतीय दार्शनिक चिन्तन मानव संस्कृति की अमूल्य निधि है। शैव-आगम परम्परा को इस चिन्तन-धारा का एक प्रमुख स्रोत माना जा सकता है। शिव-शक्ति की उपासना का प्रचलन वैदिक काल से भी अधिक प्राचीन है। पुरातत्त्व अन्वेषकों के अनुसार हड़प्पा और मोहन जोदड़ो की खुदाई से यदि कोई निश्चित निष्कर्ष निकलता है तो वह है सिन्धु घाटी संस्कृति में शिव की मान्यता की व्यापकता। और यह व्यापक मान्यता हजारों वर्षों के उथल-पुथल के उपरान्त समकालीन भाषा में आज भी अनवच्छिन्न चली आ रही है। काल और देश की सीमाओं को लांघती हुई यह शैव-परम्परा आज भारतीय जन मानस में सर्वाधिक महत्त्व रखती है।

शैव-सिद्धान्त इस परम्परा में एक विशिष्ट स्थान रखता है। शैव-दृष्टिकोण की उदारता, उग्र धार्मिकता एवं सहज सात्त्विकता इसमें पूर्णतया अभिव्यक्त हुई है। जन-जीवन से इस सिद्धान्त का वह अलगाव नहीं रहा जो अन्यत्र दार्शनिक सम्प्रदायों में देखा जाता है। इसकी चिन्तन धारा जन-भाषा के माध्यम से विकसित होकर जन-मानस के निकट सम्पर्क में रही है। शायद यही कारण है कि इसका प्रचार और प्रसार संस्कृत की अपेक्षा तमिल में अधिक हुआ। जाति प्रथा की कुरीतियों से ग्रसित हिन्दू समुदाय के लिये शैव-सिद्धान्त ने क्रान्तिकारी मार्ग प्रदर्शित किया है। उच्च वर्णों के प्रभुत्व को स्वीकार न करते हुए शैव-सिद्धान्त समाज के मानव मात्र को समान स्थान दिया है।

व्यवहार और परमार्थ में जो अन्तर अन्य दार्शनिक परम्पराओं में देखा जाता है, उसका शैव-सिद्धान्त में सर्वथा अभाव है। जो आधुनिक विद्वान् भारतीय चिन्तन पर निषेधवादी, पलायनवादी एवं अकर्मण्यतावादी होने का आक्षेप लगाते हैं वे यदि शैव-सिद्धान्त से भलीभाँति परिचित होते तो संभवतः ऐसा न कहते। कुछ संन्यासवादी विचारों के फलस्वरूप यह भ्रामक निष्कर्ष निकाल लिया जाता है कि भारतीय परम्परा में जीवन और जगत् के प्रति यथार्थवादी दृष्टि संभव नहीं है। केवल मायावादी दृष्टिकोण के सन्दर्भ में कर्म, नीति और धर्म को नगण्य मान लेना उचित नहीं है, शैव-सिद्धान्त के अनुसार जीवन के सभी मूल्य (values) महत्त्वपूर्ण हैं। बन्धन और मोक्ष केवल भ्रम अथवा आभास मात्र नहीं बल्कि यथार्थ सत्य है। जीवन और जगत् की जो यथार्थपरक व्याख्या शैव-सिद्धान्त में है वैसी अन्यत्र किसी दर्शन में उपलब्ध नहीं होती। ज्ञान, भक्ति और कर्म का इसमें अनूठा समन्वय पाया जाता है। इसके अनुसार मोक्ष की अवस्था में भी जीव कर्म और भक्ति में संलग्न रहता है।

अभी तक हिन्दी भाषा में शैव-सिद्धान्त का कोई शोध ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था। सौभाग्य का विषय है कि हिन्दी के पाठकों के सम्मुख यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रस्तुत किया जा रहा है। इसके इतने बड़े कार्य के लिए लेखक बधाई क पात्र हैं। डॉ० मिश्र ने सरल और आकर्षक शैली में विषय का प्रतिपादन किया है। उनका यह प्रयास इसलिए और प्रशंसनीय है कि उन्होंने कठिन दार्शनिक समस्याओं की वेदान्त और प्रत्यभिज्ञा दर्शन के परिप्रेक्ष्य में विवेचना की है।

डॉ० लक्ष्मीनिधि शर्मा
रीडर, दर्शन-विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रस्तावना

शैव-सिद्धान्त की उपादेयता

तत्त्व विचार की दृष्टि से आगम (तन्त्र) प्रधानतया तीन प्रकार के हैं— भेद परक, भेदाभेद परक एवं अभेद परक—जिनसे क्रमशः तीन प्रकार के दार्शनिक मत—शैव सिद्धान्त, वीर शैव एवं काश्मीर शैव—निकले हैं। इन तीनों दर्शनों को वस्तुतः एक ही शृंखला की तीन कड़ियाँ मानना चाहिए। इनका वैभिन्न्य अधिकारी-भेद के कारण है। विभिन्न प्रकार के अधिकारियों के लिए आगम ने एक ही तत्त्व को विभिन्न प्रकार से कहा है। परम तत्त्व को भेद (द्वैत), भेदाभेद (द्वैताद्वैत) एवं अभेद (अद्वैत) इन तीन दृष्टियों से समझा जा सकता है।

भेद दर्शन का महत्त्व—भक्ति-साधना में भगवान एवं भक्त में थोड़ा भेद रहना आवश्यक है; ज्ञान-साधना में अभेद होता है। किन्तु संसार के लोगों को भेद एवं अभेद के अधिकारी भेद की दृष्टि से देखें तो अधिकांश संख्या भेद अधिकारियों (अर्थात् भक्ति-अधिकारियों) की ही मिलेगी। इतना ही नहीं, जो ज्ञान मार्गी अभेद-साधक हैं वे भी जबतक परमतत्त्व (परमात्मा) से पूर्णतः एकाकार नहीं हो जाते तब तक भेद में ही हैं और भेद-अधिकारी ही हैं। तात्पर्य यह कि अभेद-साधकों को भी भेद से ही प्रारंभ करना होता है और अंतिम सीढ़ी के पहले तक भेद साधना में ही रहना होता है। अतः भेद-साधना या भक्ति-साधना का महत्त्व सार्वभौम है। 'शैव-सिद्धान्त' ने इस महत्त्व को सम्भवतः सर्वाधिक समझा है।

साधारणतया हम भेद (द्वैत) के स्तर पर हैं, और जहाँ हम हैं वहीं से 'शैव-सिद्धान्त' प्रारम्भ होता है। भले ही यह सत्य हो कि परमात्मा (शिव) ही अपनी माया शक्ति से जीव (पशु) हुआ है (पतिरेव गृहीत पशु भावः) और दोनों में तादात्म्य है; फिर भी पशु के स्तर पर तो भेद हो ही गया है, जीवात्माएँ (पशु) शिव से तत्त्वतः एक होते हुए भी उनका रूप सागर से लहरों की भाँति शिव से अलग तो हो ही गया है। इसीलिए किसी अद्वैती भक्त ने कहा है, 'हे नाथ, तुममें और मुझमें तत्त्वतः अभेद होते हुए भी यह सत्य है कि मैं तुम्हारा हूँ न कि तुम मेरे हो (अर्थात् मैं तुम्हारा अंग हूँ, तुम मेरे अंग नहीं हो; लहरें समुद्र की हैं, समुद्र लहरों का नहीं है'।[1] कहने का अर्थ यह है कि अन्तिम रूप से ही अभेद-वादी होने

---

१. सत्यापि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

पर भी हमें पहले भेद (द्वैत) को मानना ही होगा । अतः भेद-दर्शन का भी उतना ही महत्त्व है जितना अभेद-दर्शन का । इसीलिए पति-पशु में थोड़ा भेद मानने वाले शैव-सिद्धान्त दर्शन को हम उतना ही महत्त्वपूर्ण समझते हैं जितना पूर्णतः अभेदवादी काश्मीर शैव दर्शन को ।

भक्ति के लिए अथवा प्रेम के लिए भेद (द्वैत) आवश्यक है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें अभेद (अद्वैत) है ही नहीं । जहाँ पूर्णतया भेद होगा वहाँ भी भक्ति या प्रेम संभव नहीं है । भगवान यदि भक्त से पूर्णतया अलग हो तो भक्ति कैसे होगी । जो हमसे बिलकुल पराया है उससे प्रेम करना साधारणतया असंभव है । इसलिए प्रेम में भेद और अभेद (द्वैत एवं अद्वैत) दोनों आवश्यक है। दो परस्पर प्रेमी व्यक्ति दो हैं किन्तु उनमें एकता का सम्बन्ध है; प्रेम का अर्थ ही है एकत्व । इसीलिए शैव-सिद्धान्त पति-पशु में भेद मानते हुए भी 'अद्वैत' सम्बन्ध मानता है । यह अद्वैत काश्मीर शैव दर्शन एवं अद्वैत-वेदान्त के अद्वैत की भाँति तत्त्व का अद्वैत नहीं है । क्योंकि शैव-सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर, जीव एवं जड़ जगत्—पति, पशु, एवं पाश—तीनों तीन तत्त्व हैं; शिव सृष्टि का उपादान नहीं है, अर्थात् शिव ही जीव एवं सृष्टि नहीं बना है; किन्तु यह अद्वैत सम्बन्ध की एकता का अद्वैत है । इसका अर्थ है 'विरोध का अभाव' अथवा सामरस्य (harmony) । यह अद्वैत वस्तुतः प्रेम का अद्वैत है । जैसे पिता और पुत्र में अथवा दो प्रेमियों में दो होते हुए भी एकता का सम्बन्ध है वैसे ही पति-पशु में एकता का सम्बन्ध है । शिव सभी जीवों को प्यार करता है; सभी जीव उसके अपने हैं । जीवों का हित मानो शिव का अपना ही हित है ।

शक्ति (स्पन्द) की अवधारणा :—

तन्त्र (आगम) की जो सामान्य विशेषताएँ हैं वे शैव-सिद्धान्त में भी विद्यमान हैं । तत्त्व मीमांसा की दृष्टि से तन्त्र की सबसे बड़ी विशेषता है परमतत्त्व (शिव) में शक्ति की अवधारणा । शिव चैतन्य तत्त्व है; उस चैतन्य तत्त्व में ज्ञान तो है ही साथ ही साथ क्रिया भी है । शिव (परम चैतन्य) सक्रिय (dynamic) है, और उसकी सक्रियता का नाम ही शक्ति है । यह 'क्रिया' पारिभाषिक अर्थ में 'कर्म' नहीं है क्योंकि यह किसी अपूर्णता का द्योतक नहीं है, वरन् यह स्वरूप के आनन्द का स्वाभाविक स्फुरण है । अर्थात् शिव किसी कमी की पूर्ति के लिए क्रिया नहीं करता वरन् उसके आनन्द के स्पन्दन के रूप में क्रिया उत्थित होती है । इसीलिए उस क्रिया को 'स्पन्द' कहते हैं । स्पन्द में तीन बातें एक साथ हैं—एक तो इसमें हमें आयास नहीं करना पड़ता, यह आयास रहित (effort less) स्वाभाविक क्रिया है; दूसरे, इसमें आनन्द होता है, यह आनन्द का स्फुरण है; और तीसरे, इसमें स्वातन्त्र्य (freedom)

होता है, हम इसमें परवशता का अनुभव नहीं करते वरन् हमारे स्वातन्त्र्य में क्रिया उत्थित होती है। किन्तु दार्शनिक भाषा में जिसे 'कर्म कहते हैं और जो बन्धन का कारण माना जाता है, वह एक तो किसी कमी (अभाव) या उद्देश्य (motive) की पूर्ति के लिए किया जाता है, और दूसरे, उसमें आयास (effort) करना पड़ता है। 'क्रिया' (स्पन्द) कर्म से मौलिक रूप में भिन्न है। बच्चा जब आनन्द में खेलता है, अथवा हम आनन्द में नाचते गाते हैं, अथवा कवि आनन्द में काव्य सर्जन करता है तो इसमें स्पन्द की कुछ झलक मिलती है। सृष्टि क्रिया भी शिव का स्पन्द है। इसे प्रतीक रूप में नटराज (शिव) का नर्तन कहते हैं।

अद्वैत-वेदान्त के अनुसार परमतत्त्व ब्रह्म केवल ज्ञानरूप है, उसमें क्रिया नहीं है। ब्रह्म को निष्क्रिय मानने का कारण यह है कि अद्वैती लोग यह समझते हैं कि ब्रह्म में क्रिया मानने से ब्रह्म को अपूर्ण मानना होगा; वे लोग सभी प्रकार की क्रिया को 'कर्म' ही समझते हैं जिसे हम अपनी किसी कमी की पूर्ति के लिए सोद्देश्य करते हैं और फलतः जो हमारी अपूर्णता का द्योतक है। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'क्रिया' (स्पन्द') 'कर्म' से मौलिक रूप से भिन्न है। अद्वैती लोग संभवतः जीवन के अनुभवों में पाए जाने वाले स्पन्द (क्रिया) के उदाहरणों की ओर ध्यान नहीं देते और शुद्ध क्रिया की सम्भावना पर विचार नहीं करते। इसीलिए ये लोग अपूर्णता से बचाने के लिए ब्रह्म को निष्क्रिय ही मान लेते हैं। फलतः वे यह मानते हैं कि ब्रह्म सृष्टि नहीं करता, वरन् हम अविद्या के कारण भ्रमवश रज्जु में सर्प की भाँति ब्रह्म में सृष्टि को देखते हैं। तात्पर्य यह कि जगत् ब्रह्म के ऊपर (रज्जु पर सर्प की भाँति) आक्षिप्त भ्रम है; स्वयं ब्रह्म तो रज्जु की भाँति तटस्थ, निष्क्रिय एवं उदासीन रहता है। अद्वैत-वेदान्ती अपने इस सिद्धान्त को उपनिषद्-सम्मत बताने के लिए उपनिषदों में स्पष्ट रूप से कहे गए सृष्टिपरक वाक्यों की व्याख्या उन्हें 'आख्यायिका' (myth) कहकर कर देते हैं।

किन्तु जैसा कि हम इस ग्रन्थमाला की प्रथम पुस्तक 'काश्मीर शैव दर्शन : मूल सिद्धान्त' की प्रस्तावना में उल्लेख कर चुके हैं,[1] अद्वैत-वेदान्त भले ही अपने को औपनिषद् दर्शन मानता हो, उसका निष्क्रियतावादी सिद्धान्त उपनिषद्-सम्मत नहीं है। उपनिषद् में 'स्पन्द' (क्रिया) की अवधारणा विद्यमान है। सृष्टि को ब्रह्म के आनन्द का स्फुरण कहा गया है, आनन्द से ही सृष्टि होती है (आनन्दाद् हि एव खलु इमानि भूतानि जायते)। हाँ, उपनिषद् में 'स्पन्द' (क्रिया को) दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में विकसित नहीं किया गया है। यह काम तन्त्र (आगम) में किया गया है। इस

१. द्रष्टव्य—'काश्मीर शैव दर्शन : मूल सिद्धान्त;' प्रस्तावना

दृष्टि से तन्त्र वेद (उपनिषद्) के पूरक कहे जा सकते हैं; एक तरह से तन्त्र ने वेद के अधूरे काम को पूरा किया है। जैसा कि हम इसका भी पूर्व पुस्तक की प्रस्तावना में उल्लेख कर चुके हैं) इसका यह भी अर्थ नहीं है कि आगम को वेद का परवर्ती माना जाय। आगम (तन्त्र) वेद के पहले से भी हो सकते हैं। वैदिक तथा तान्त्रिक परम्पराओं का इतिहास चाहे जो भी रहा हो, जिसरूप में ये दोनों हमारे सामने हैं, ये एक दूसरे के पूरक हैं। वेद और तन्त्र दोनों मिलकर पूर्ण दर्शन देते हैं तथा भारतीय दर्शन, धर्म एवं संस्कृति का मूलाधार प्रस्तुत करते हैं।

शिव प्रेम (अनुग्रह) रूप है :—

शैव-सिद्धान्त में शिव के स्पन्द को मुख्य रूप से अनुग्रह (grace) या प्रेम (love) के रूप में लिया गया है। काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि-स्पन्द शिव का स्वयं में आनन्द क्रीडन या लीला विलास है (वहाँ शिव ही एक मात्र तत्त्व है, अतः वहाँ सृष्टि अपने में ही एवं अपने लिए ही है) ; किन्तु शैव-सिद्धान्त के अनुसार शिव जीवों के लिए सृष्टि करता है (शैव-सिद्धान्त के अनुसार शिव के साथ ही अलग से जीवों का भी अस्तित्व युक्त हैं। जीव अनादि आणव (मल) से हैं ; मल दूर होकर स्वरूप लाभ होने से वे आनन्द प्राप्त करेंगे। अतः मल परिपाक के लिए शिव सृष्ट्यादि पञ्चकृत्य करता है। यह शिव का अनुग्रह कार्य या प्रेम है। प्रेम भी वस्तुतः स्पन्द ही है। यह स्वरूप में स्थित आनन्द का ही प्रवाह है; साथ ही इसमें स्वातन्त्र्य है। हम प्रेम में अपने प्रिय का जो भला करते हैं वह किसी विवशता वश नहीं वरन् स्वतन्त्रता से करते हैं। शिव चूँकि स्वातन्त्र्य में जीवों का कल्याण करता है इसलिए उसके इस कार्य को 'अनुग्रह' कहते हैं। सृष्टि करने के लिए जीवों की ओर से अथवा किसी ओर से शिव पर कोई बन्धन नहीं है, फिर भी शिव शुद्ध प्रेमवश अपनी स्वतन्त्र इच्छा से जीवों के हित के लिए सृष्टि करता है।

शैव-सिद्धान्त ने ईश्वर के स्वभाव में जिस बात को सबसे अधिक महत्त्व दिया है वह जीवों के प्रति ईश्वर का प्रेम ही है। सांसारिक प्रेम में उतनी शुद्धता नहीं होती क्योंकि प्रायः उसमें स्वार्थ भी मिला रहता है; किन्तु ईश्वर का प्रेम पूर्णतः शुद्ध है। अर्थात् शिव का जीवों से कोई स्वार्थ नहीं है; शिव पूर्ण है, उसको अपने लिए कुछ चाहिए नहीं, अतः जीवों से उसे कोई अपेक्षा नहीं है। वह शुद्ध रुप से जीवों का हित चाहता है। यहाँ कोई यह प्रश्न कर सकता है कि इस प्रकार के निःस्वार्थ शुद्ध प्रेम से जीवों का भले ही भला होवे, किन्तु ईश्वर को क्या मिलता है ? दूसरे शब्दों में, प्रेम करने वाले की दृष्टि से प्रेम का लाभ है ? उत्तर यह है कि प्रेम का यह अप्रतिम लाभ है कि यह देने वाले एवं लेने वाले दोनों को परितृप्त करता है।[1] हम जब

1. शेक्सपियर ने दया (mercy) के लिए कहा है कि यह दो ओर से धन्य है—जो

दूसरों को प्यार करते हैं तो दूसरे लाभान्वित हों या न हों, हम तो अवश्य ही लाभान्वित होते हैं, क्योंकि प्रेम में गहन तृप्ति एवं आनन्द की अनुभूति है। प्रेम हमारे स्वरूप का ही आनन्द है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार जीव भले ही स्वयं शिव नहीं है। किन्तु शिव के ही समान है, गुण धर्म की दृष्टि से जीव भी स्वरूपतः शिव ही है। अतः शिव में जो प्रेम है वह जीव के भी स्वरूप में है। इसलिए जब हम प्रेम करते हैं तो अपने स्वरूप (शिवत्व) के निकट पहुँचते हैं। जगत् में पाए जाने वाले आनन्द के उदाहरणों में शिवानन्द की यदि सबसे अधिक झलक किसी की प्राप्त होती है तो वह है प्रेम। इसलिए सभी सांसारिक आनन्दों की अपेक्षा प्रेम में सर्वाधिक रस एवं तृप्ति मिलती है। हम (जीव) पहले से मलावरण के कारण स्वरूप से दूर हैं, अतः प्रेम करने से स्वरूप की ओर जाते हैं, किन्तु ईश्वर नित्य ही स्वरूप में है, अतः वह प्रेम करके स्वरूप में नहीं जाता वरन् उसके स्वरूप से स्वाभाविक रूप से (spontaneously) प्रेम प्रस्फुटित होता है। दूसरे शब्दों में, वहाँ प्रेम के कारण स्वरूपानन्द नहीं होता वरन् स्वरूपानन्द के कारण प्रेम होता है। यही बात नटराज की अवधारणा में स्पष्ट होती है।

इस सम्बन्ध में एक और बात उल्लेखनीय है। वह यह कि प्रेम करने वाले की दृष्टि से प्रेम अपने स्वरूपानन्द का स्फुरण है;और प्रेम पाने वाले की दृष्टि से प्रेम अनुग्रह या उपकार (कृपा) है। शिव जो प्रेम करता है एवं प्रेम में जो सृष्टि क्रिया करता है वह उसके स्वरूपानन्द का स्पन्दन है, वही नटराज का आनन्द-नर्तन है। किन्तु जीव के लिए शिव का प्रेम कार्य अनुग्रह रूप है, क्योंकि यह जीव की भलाई के लिए किया जा रहा है। वस्तुतः इन दोनों बातों—स्वरूपानन्द एवं अनुग्रह कार्य—में कोई विरोध नहीं है; दोनों एक में समन्वित है। शिव की दृष्टि से अनुग्रह कार्य को उसका स्वतन्त्र स्वरूपानन्द मानना तार्किक दृष्टि से भी आवश्यक है, क्योंकि वैसा न मानने से शिव अपने आनन्द के लिए अनुग्रह कार्य (जो सृष्टिक्रिया के रूप में प्रकटित होता है) पर निर्भर हो जावेगा। किन्तु सत्य यह है कि शिव का आनन्द स्वतन्त्र है, वह किसी चीज पर निर्भर नहीं है। हाँ, उस आनन्द की यह अच्छाई है कि अपने लिए वह आनन्द का स्पन्दन है एवं साथ ही दूसरों के लिए अनुग्रह रूप है। इसीलिए ईश्वर को 'शिव' कहा गया है जिसका अर्थ है शुभ या मंगलमय या भला (good or benign)

देता है वह भी धन्य होता है, जो लेता है वह भी धन्य होता है–
'Mercy is double-blessed'
It blsseth him that gives and him that takes'
यही बात प्रेम के लिए भी कही जा सकती है। प्रेम देने वाला भी धन्य होता है और लेने वाला भी धन्य होता है।

होना। शिव का आनन्द भला आनन्द है। जीव का आनन्द तो कभी-कभी बुरा आनन्द हो जाता है जब उससे दूसरों का अपकार होता है, किन्तु शिव का आनन्द तो नित्य भला है—उसमें श्रेय और प्रेय दोनों का स्वाभाविक पूर्ण समन्वय है।

यह भी प्रश्न हो सकता है कि यदि ईश्वर जीवों को प्यार करता है तो वह उन्हें दुःख क्यों देता है, अथवा संसार में दुःख रहने क्यों देता है? इसका उत्तर है कि जीव जो बुराई करते हैं उसे सुधारने के लिए दण्ड व्यवस्था भी तो होनी चाहिए। ईश्वर न्यायपूर्ण है, उसने संसार को न्यायोचित मार्ग से चलाने के लिए कर्मनियम की व्यवस्था लागू की है। माता अपने बच्चे को प्यार करती है; किन्तु बच्चा गलती करता है तो उसे चपत भी लगाती है, बच्चे को चपत लगाना माता के प्यार का ही अंग है उसी प्रकार ईश्वर ने जीवों के सुधार के लिए कर्मनियम के द्वारा दण्डव्यवस्था लागू की है। दुःख जीव के सुधारने के लिए आवश्यक है।[1]

जगत् के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण:—सामान्यरूप से आगमिक (तान्त्रिक) विचार धारा में जगत् के प्रति जो भावनात्मक दृष्टिकोण (positive attitude) है वह शैव-सिद्धान्त में भी विद्यमान है। यहाँ सृष्टि विषयक दार्शनिक मान्यता के अनुसार ईश्वर सृष्टि का तटस्थ द्रष्टा मात्र नहीं है वरन् सृष्टि में वह सक्रिय रूप से भाग लेता है। जैसे माता-पिता अपने बच्चों के लिए किए गये कार्य में उदासीन न रहकर उसमें सक्रिय रूप से भाग लेते हैं, उसी प्रकार शिव का सृष्टि में सक्रिय भाग (active or posi tive involvement) है। अद्वैत-वेदान्त की दार्शनिक मान्यता के अनुसार ब्रह्म निष्क्रिय एवं तटस्थ है, वह स्वयं सृष्टि नहीं करता है, रज्जु सर्प के दृष्टान्त के अनु- सार वह रज्जु की तरह पूर्णतया निष्क्रिय एवं तटस्थ रहता है, सृष्टि तो अज्ञान के कारण मिथ्या सर्प की भाँति उसपर आक्षिप्त (super-imposed) है। किन्तु तान्त्रिक (आगमिक) परम्परा में शिव सृष्टि से तटस्थ नहीं रहता, वरन् सृष्टि उसकी सक्रिय रचना या कला है। शिव की सृष्टि में सक्रियता को काश्मीर शैव

---

१. गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि जैसे माता बच्चे का घाव धोती है तो वह (बच्चा) अधीर होकर रोता है, किन्तु माता शिशु की पीड़ा पर ध्यान नहीं देती क्योंकि शिशु का रोग दूर होने के लिए यह सब करना आवश्यक है, उसी प्रकार भगवान भी अपने भक्तों के कल्याण के लिए कठोर होकर उनका अभिमान हरण करते हैं, भगवान की कठोरता उनके प्रेम या अनुग्रह का ही अंग है

यथा प्रथम दुःख पावई रोवइ नाथ अधीर।
व्याधिनासहित जननी गनतिन सो सिसु पीर ॥
तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित त्यागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभु कस न भजहु भ्रम त्यागि ॥

दर्शन में प्रधान रूप से शिव के आत्म-क्रीडन या लीला-विलास के रूप में लिया गया है और शैव-सिद्धान्त में इसे प्रधानरूप से प्रेम या अनुग्रह रुप में लिया गया है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि काश्मीर शैव दर्शन में अनुग्रह (grace) की अवधारणा नहीं है, अथवा शैव-सिद्धान्त में आत्मक्रीडन या लीला का सिद्धान्त नहीं है। दोनों दर्शनों में दोनों सिद्धान्त है, अन्तर केवल प्रधानता या आग्रह (emphasis) का है। काश्मीर शैव दर्शन में ऐसा है किजब शिव अपनी माया शक्ति का प्रयोग कर अपने से भिन्न होकर पशु (जीव) भी बन जता है।[1] और फिर पशु शिव से अलग खड़ा हो जाता है तो पशु के लिए शिव का कार्य अनुग्रहरूप हो जाता है। इसी कारण काश्मीर शैव दर्शन में अनुग्रह (grace) का सिद्धान्त भी माना गया है और फिर सारी बातें लगभग वैसे ही मानी गई हैं जैसे शैव-सिद्धान्त में है। इसी तरह, शैव-सिद्धान्त में अनुग्रह पर विशेष आग्रह होते हुए भी सृष्टि कार्य को शिव की लीला माना गया है, सृष्टि को 'नटराज' (शिव) का आनन्द नर्तन माना गया है। अतः शैव-सिद्धान्त में भी लीला-सिद्धान्त है जो नटराज की अवधारणा में स्पष्ट है। असली बात यह है कि शिव की क्रिया अपने लिए लीला है एवं पशु (जीव) के लिए अनुग्रह है ये दोनों बातें एक साथ सही हैं। काश्मीर दर्शन पहली बात पर विशेष ध्यान देता है, तथा शैव-सिद्धान्त दूसरी बात पर विशेष ध्यान देता है। और ये दोनों बातें मिलकर सत्य का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करती है।

शैव परम्परा की तत्त्व-मीमांसा में जगत् के प्रति जो भावात्मक दृष्टिकोण है वह धर्म-साधना के क्षेत्र में भी परिलक्षित होगा ही। यदि जगत् शिव का लीला-विलास है अथवा जीवों के उद्धार के लिए शिव का अनुग्रह कार्य है, तो धर्म साधना के क्षेत्र में जगत् के प्रति धार्मिक भाव होगा। जगत् जीव की भलाई के लिए है, उसके आत्म-प्राप्ति में साधक है; अतः यहाँ जगत् का ग्रहण है, त्याग नहीं। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार जगत् ब्रह्म (आत्मा) पर पड़ा हुआ पर्दा अथवा अवरोध है, जो अज्ञान (अविद्या) के कारण है; अतः प्रकृत वस्तु ब्रह्म (आत्मा) को पाने के लिए उस पर पड़े पर्दा को हटाना होगा। इसीलिए अद्वैत-वेदान्त के अनुसार संसार के त्याग

१. यहाँ ध्यान देने योग्य है कि काश्मीर शैव दर्शन में शिव पशु बनने में अपने को समाप्त करके पशु नहीं बनता, वरन् यह कहना चाहिए कि शिव पूर्णतया शिव भी रहता है और पशु भी हो जाता है। पशु की दृष्टि से द्वैत (भेद) हो जाता है, क्योंकि पशु अज्ञानवश अपने को भिन्न समझता है; किन्तु शिव की दृष्टि से अद्वैत (अभेद) रहता है, क्योंकि शिव पशु को भी अपना ही रूप समझता है। यह कुछ इसी भाँति है जैसे माता अपने गर्भ से शिशु को बाहर निकालने के बाद भी उसे अपना ही रूप समझती है।

(संन्यास) का ही मार्ग बनता है। किन्तु शैव-दर्शन के अनुसार संसार शिव के ऊपर पड़ा पर्दा नहीं है, वरन् शिव का आनन्द-कृत्य है जो जीव की दृष्टि से अनुग्रह रूप है; अतः स्वयं जगत् बन्धन नहीं है और न जगत् का त्याग करने की कोई आवश्यकता है; वरन् यहाँ तो जगत् का ग्रहण है, क्योंकि जगत् हमारी आत्म प्राप्ति का साधन है—हमारी दृष्टि से जगत् इसीलिए बना है। जैसे बीज के विनष्ट होने का संभवतः प्राकृतिक नियम यह है कि बीज वृक्ष के रूप में अभिव्यक्त (actualised) हो जाय, उसी प्रकार वासना, स्वार्थ, अहंकार आदि के रूप में जो बीज जीव में है उसे निःशेष अथवा रेचन (exhaust) करने के लिए संसार आवश्यक है। इसीलिए यह माना जाता है कि 'मल-परिपाक' के लिए जगत् में आना आवश्यक है। दूसरी बात यह भी है कि यदि जगत् को शिवरूप मानकर अर्थात् जगत् के प्रति धार्मिक भाव लाकर हम जगत् का वर्तन करें तो यह जगत् ही हमारी स्वरूप प्राप्ति का साधन बन जाएगा। शिव प्रेमरूप है और हम भी संसार के प्राणियों को प्रेम करके शिवत्व के निकट पहुँचते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रेम हमें अपने स्वरूप में ले जाता है।

इसी कारण शैव-मार्ग जगत् के त्याग अथवा संन्यास का मार्ग नहीं है, वरन् जगत् के समुचित ग्रहण अथवा गृहस्थ का मार्ग है; यह निवृत्ति का नहीं, वरन् प्रवृत्ति का मार्ग है। संभवतः इसी कारण शंकर भगवान का आदर्श गृहस्थ का आदर्श है। उसके साथ स्त्री-पुत्रादि का भरा पूरा परिवार है; साथ में अनेकानेक गण भी हैं। वास्तव में शंकर सबको लेकर चलते हैं, किसी को छोड़कर नहीं। मनोविश्लेषणात्मक (psycho-analytical) दृष्टि से शंकर का व्यक्तित्व पूर्ण समन्वित (integrated) व्यक्तित्व है। शंकर ने संसार के विष को पीकर, उसे अमृत बना लिया है—यह इस बात का प्रतीक है कि हम संसार की बुराइयों को बदलकर अच्छाई बना लें; वासनाओं के उदात्तीकरण के पीछे यही सिद्धान्त है।[1] शंकर श्मशान में रहते हैं तथा अघोरी (औघड़ी) वृत्ति अपनाते हैं। शंकर का श्मशानवास इस बात का प्रतीक है कि हम मृत्यु-ससार में रहकर अपने अमरत्व को पा सकते हैं; अमर आत्मा का मृत्यु-संसार से कोई विरोध नहीं है, वरन् मृत्यु-संसार भी अमरत्व का ही लीला स्थल है। शंकर के अघोरी आचरण का तात्पर्य यह है कि हम संसार की विषमताओं को भी स्वरूप के साथ अभियोजित करें; हमने अहंकार वश शुद्धि-अशुद्धि अच्छे-बुरे का जो कृत्रिम भेद बना रक्खा है उसके ऊपर उठें। शंकर भगवान के परिवार की यह विशेषता है कि उसमें परस्पर विरोधी तत्त्व भी संगति (harmony) में रहते हैं; बैल और

१. इस ग्रन्थमाला की प्रथम पुस्तक 'काश्मीर शैव दर्शन : मूल सिद्धान्त' की प्रस्तावना में हम तन्त्रमार्ग में पाए जाने वाले वासना के उदात्तीकरण के सिद्धान्त पर चर्चा कर चुके हैं। द्रष्टव्य—'काश्मीर शैव दर्शन : मूलसिद्धान्त', प्रस्तावना।

बाघ, मोर और साँप में कोई लड़ाई नहीं है। परम संगति का नाम शिवत्व है।

भक्ति का बुद्धिसंगत स्वरूप :—प्रारम्भ में ही यह उल्लेख किया जा चुका है कि साधारणतया भक्ति का मार्ग सार्वभौम मार्ग है। भक्ति के विषय में शैव-सिद्धान्त की विशेषता है कि उसमें भक्ति के अत्यन्त तर्क-संगत बुद्धिसंगत (rational) स्वरूव को प्रकटित किया गया है। आखिर भक्ति का क्या अर्थ है और भगवान वस्तुतः किसमें प्रसन्न होते हैं? क्या भगवान का नाम जपना, कीर्तन करना, नाचना गाना अथवा भस्म लगाना, शिवलिंग की पूजा करना, गाल बजाना आदि यही भक्ति है और क्या इतने मात्र से ही भगवान प्रसन्न होते हैं ? शैव भक्तों एवं शैवाचार्यों ने यह बात स्पष्ट किया है कि उक्त बाह्याचार भक्ति में सहायक भले ही हों, ये स्वयं में भक्ति नहीं है और न भगवान इतने मात्र से ही प्रसन्न हो जाता है। संवेग (emotion) में आकर रोना-गाना भी वास्तविक भक्ति नहीं हो सकती। भक्ति तो तब होगी जब हम भगवान के रास्ते पर चलें। भगवान शुद्ध है, भला (शिव) है और सत्यरूप है, वह चाहता है कि उसका बन्दा शुद्ध हो, भला बने एवं सत्य आचरण करे। ऐसा ही करना भक्ति है। अहंकार सब बुराइयों की जड़ है, अतः अहंकार की समाप्ति भक्ति का सर्वोत्तम लक्षण है। अहंकार जितना ही समाप्त होता है, स्वार्थभाव भी उतना ही समाप्त होता है और उतना ही विश्वप्रेम आता है। आखिर भगवान को प्यार करने का यह भी तो अर्थ होगा कि उसके बन्दों को प्यार करना। इसीलिए कहा गया है कि जो प्राणिमात्र को प्यार नहीं करता वह शिव को प्यार नहीं करता। अतः निरहंकार होना, हृदय का शुद्ध होना, भला होना, सत्य व्यवहार करना एवं सबको प्यार करना (अर्थात् सबको अपना समझकर उनका कल्याण चाहना)—यही वास्तविक भक्ति है। ऐसा करना ही भगवान की इच्छा के अनुसार चलना हुआ। दूसरे शब्दों में, इसी को आत्मसमर्पण या शरणागति कहते हैं; इसी से भगवान प्रसन्न होता है। आखिर भगवान जैसा हमसे चाहे वैसा ही करना तो भक्ति है।

शैव-सिद्धान्त ने भक्ति के इस बुद्धिसंगत स्वरूप पर जो बल दिया है उससे यह स्पष्ट होता है कि भक्ति में बाह्याचार का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, भक्ति आंतरिक परिवर्तन है। हाँ, यदि भक्ति है तो बाह्याचार उसे बढ़ाने अथवा उसे पुष्ट करने में सहायक होता है। यदि भक्ति नहीं है तो बाह्याचार निरर्थक यान्त्रिक क्रिया मात्र है। बल्कि ऐसी अवस्था में बाह्याचार आडम्बर एव अहंकार का जनक हो सकता है।

भक्ति के वास्तविक स्वरूप पर ध्यान देने पर यह भी दीखेगा कि इसमें जाति-पाँति का भी कोई महत्त्व नहीं है। शैव-सिद्धान्त की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि

उसमें जाति को महत्त्व नहीं दिया गया है। हिन्दू धर्म में कुष्ट की भाँति जो जाति-प्रथा है उसे शैव परम्परा में हमेशा अस्वीकार किया गया है। क्या शिव अपने भक्तों को जाति के आधार पर स्वीकार करेगा अथवा महत्ता देगा? प्रसिद्ध शैव भक्तों (नयनार) में बहुत से ऐसे हैं जो तथाकथित नीची जातियों के रहे हैं और जिनके विषय में यह प्रसिद्धि है कि वे शिव को बहुत प्यारे रहे हैं। अद्वैत-वेदान्त के प्रवर्तक शंकराचार्य के विषय में यह कहानी प्रसिद्ध है कि काशी में भगवान शिव ने चाण्डाल का भेष धारण कर शंकराचार्य के जाति-अभिमान को दूर किया था। शिव के मार्ग में जाति का कोई स्थान नहीं है।

अनुग्रह एवं कर्म का समन्वय - शैव-सिद्धान्त की यह भी विशेषता है कि उसमें ईश्वर के अनुग्रह (grace) एवं मनुष्य द्वारा किए गए कर्म अथवा प्रयत्न (self-effort) का पूर्ण समन्वय है। शैव-सिद्धान्त की यह मान्यता है कि भुक्ति एवं मुक्ति दोनों ही ईश्वर-कृपा से प्राप्त होती हैं। सब कुछ ईश्वर कृपा से प्राप्त होता है इसका दो अर्थ है। प्रथम यह कि हम भुक्ति अथवा मुक्ति की प्राप्ति के लिए जो भी प्रयत्न करते हैं उसमें प्रयत्न की जो शक्ति है वह हमारी अर्थात् अहंकार (ego) की नहीं है वरन् ईश्वर प्रदत्त है। चूँकि हमारी क्रियाशक्ति परमात्मा से ही आई है अतः इस दृष्टि से परमात्मा को ही वास्तविक कर्ता कहा जायेगा। जैसे पिता के पैसे को पुत्र खर्चा करता है तो वास्तविक खर्चा करने वाला तो पिता ही हुआ; उसी प्रकार वास्तविक कर्ता ईश्वर ही है। हाँ, यह अवश्य है कि जैसे पिता के पैसे का सदुपयोग या दुरुपयोग पुत्र अपने मन से कर सकता है और उसकी जिम्मेदारी भी पुत्र की है; उसी प्रकार ईश्वरप्रदत्त शक्ति को पुण्य अथवा पाप में खर्चा करने की जिम्मेदारी जीव की है!

सब कुछ ईश्वर कृपा से प्राप्त होने का दूसरा अर्थ यह है कि प्रयत्न के फल के रूप में जो भुक्ति या मुक्ति की प्राप्ति होती है वह फल ईश्वर ही देता है। हमारी सीमा कर्म या प्रयत्न करने तक ही है, फल हमारे हाथ में नहीं है। फल देने की व्यवस्था ईश्वर की ही है।

भुक्ति एवं मुक्ति ईश्वर-कृपा से है इस सिद्धान्त की मान्यता केवल आगम के आधार पर ही नहीं है वरन् इसे अपने अनुभव में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यदि हम अपने अनुभव का विश्लेषण करें तो यह पाएँगे कि कर्म करने की शक्ति एवं फल की व्यवस्था दोनों ही हमारे हाथ में नहीं है। हम अहंकारवश समझते हैं कि जो क्रियाशक्ति हममें है वह हमारी है। किन्तु सत्य यह है कि ईश्वर की प्रकृति हमारे साथ सहयोग कर रही है तो हम कर्ता बन जा रहे हैं। उदाहरण के लिए हाथ की मांसपेशियाँ हमारी आज्ञा मान कर काम कर रही हैं, किन्तु यदि लकवा मार दे अर्थात् मांसपेशियाँ काम करने से इन्कार कर दें तो हम क्या कर सकते हैं? उसी प्रकार

मस्तिष्क की शक्तियाँ हमारे साथ सहयोग कर रही हैं तो हम बुद्धिमान बने हैं। तात्पर्य यह है कि शारीरिक एवं मानसिक शक्तियाँ जो अहंकार (ego) में हैं वे स्वयं अहंकार की नहीं हैं। कोई सेना जब सेनापति की आज्ञा मानकर लड़ती है तो इसमें कारण सेनापति नहीं है वरन् सरकार है जिसने सेना को नियुक्त किया है और सेनापति की आज्ञा मानने का कर्तव्य (duty) दिया है। उसी प्रकार प्रकृति (सेना) अहंकार (सेनापति) की आज्ञा मानकर चलती है तो इसका कारण अहंकार नहीं है वरन् परमात्मा है जिसने अपनी प्रकृति को अहंकार की सेवा में लगा रखा है। जिस क्षण परमात्मा अपनी प्रकृति को अहंकार का सहयोग करने से बरी कर दे उस क्षण अहंकार कुछ भी नहीं कर पाएगा।

जहाँ तक फल प्राप्ति का संबन्ध है वहाँ तो यह स्पष्ट ही दीखता है कि फल अहंकार के हाथ में नहीं है। दूसरे शब्दों में, फल हम लेते नहीं, वरन् फल हमको मिलता है। यदि फल देने की व्यवस्था न हो तो हम लाख प्रयत्न करने पर भी फल नहीं पा सकते।

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट होता है कि भुक्ति एवं मुक्ति की प्राप्ति में ईश्वर का ही अनुग्रह है। ईश्वर ने ही अनुग्रह करके जीव को क्रियाशक्ति दी है तथा फल देने की व्यवस्था की है। किन्तु यह भी ध्यान योग्य है कि ईश्वर अपनी कृपा को बिना किसी न्याय के मनमाने ढंग से नहीं बरसाता फिरता। ईश्वर न्यायपूर्ण है और वह अपनी कृपा को उसीपर बरसाता है जो उसके योग्य होता है। अतः ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए लायक अथवा योग्य होना आवश्यक है। इसके लिए जीव की ओर से प्रयत्न आवश्यक है। कृपा देना ईश्वर का काम है, किन्तु कृपा प्राप्ति के लिए योग्य बनने अथवा प्रयत्न करने की जिम्मेदारी जीव की है। यदि हम कृपा-प्राप्ति के योग्य बनने के लिए प्रयत्न नहीं करते हैं तो वांछित फल नहीं मिलेगा। तात्पर्य यह कि ईश्वर की कृपा तथा जीव का आत्मप्रयत्न इन दोनों के समन्वय से फल की प्राप्ति होती है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब योग्य बनने पर ही हमें कृपा प्राप्त हो सकती है तब तो योग्य बन जाने पर वह हमारा अधिकार हो गया, उसे फिर 'कृपा' क्यों कहेंगे? इसका उत्तर एक दृष्टान्त की सहायता से दिया जाएगा। किसी उदार दानदाता ने किसी विद्यालय में कोई छात्रवृत्ति दी है और उसके लिए कुछ योग्यता की शर्तें बना दी हैं। कोई योग्य विद्यार्थी उस छात्रवृत्ति को पा लेता है। अब यदि वह छात्र सोचे कि चूँकि मैंने छात्रवृत्ति की योग्यता की शर्तें पूरी की हैं अतः यह मेरा अधिकार है, किसी की कृपा नहीं, तो उसका ऐसा सोचना गलत होगा। छात्र अपनी ओर से लाख योग्य बन जाए, किन्तु यदि दानदाता ने छात्रवृत्ति नहीं दिया है तो छात्र को छात्र-

वृत्ति नहीं मिल सकती। और छात्रवृत्ति दान करना दानदाता के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है, इसलिए वह दानदाता का अनुग्रह ही है। इसी प्रकार जीव कितना भी प्रयत्न करे और योग्य बन जाए, किन्तु यदि ईश्वर फल न दे अर्थात् अनुग्रह न करे तो जीव जबर्दस्ती अनुग्रह नहीं प्राप्त कर सकता। जीव की सीमा योग्य बनने तक ही है, अतः अनुग्रह ही अन्तिम सत्य है। चूँकि अनुग्रहकर्ता ने ऐसा नियम बनाया है कि जीव के बिना योग्य हुए अनुग्रह नहीं मिलेगा, अतः जीव का प्रयत्न भी अनुग्रह के साथ समन्वित है और इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि जीव का आत्म-प्रयत्न ईश्वर की अनुग्रह-व्यवस्था का अंग है।

अन्त में, शैव-सिद्धान्त की उपर्युक्त विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए यह कहना सत्य होगा कि दर्शन एवं धर्म दोनों क्षेत्रों में शैव-सिद्धान्त का विशेष महत्त्व है। शैव-सिद्धान्त ने भक्ति के तर्कसंगत स्वरूप पर आधारित जो सन्तुलित जीवन दर्शन दिया है वह संसार के सभी लोगों के लिए उपादेय है। संभवतः यही कारण है कि शैव-सिद्धान्त आज भी एक जीवित धर्म है जिसके अनुयायी विशेषतया भारतवर्ष के दक्षिणी भाग में प्रचुर मात्रा में हैं। इसके प्रचार एवं प्रसार की आवश्यकता अन्य भागों में भी है।

प्रस्तुत पुस्तक के विषय में

प्रसन्नता की बात है कि डॉ० कैलाश पति मिश्र ने आगमिक (तान्त्रिक) परम्परा के प्रधान तीनों दर्शनों को अलग अलग तीन पुस्तकों में स्पष्ट करने का प्रयास आरम्भ किया है। प्रस्तुत पुस्तक 'शैव-सिद्धान्त दर्शन' उस प्रयास की दूसरी कड़ी है। इस ग्रंथमाला की अपनी पहली पुस्तक 'काश्मीर शैव दर्शनः मूल सिद्धान्त' में डॉ० मिश्र ने अभेदपरक काश्मीर शैव दर्शन का प्रतिपादन किया है। प्रस्तुत पुस्तक 'शैव-सिद्धान्त दर्शन' में उन्होंने आगमों के भेदपरक दर्शन 'शैव-सिद्धान्त' (जो दक्षिण भारत में पल्लवित हुआ है) का प्रतिपादन किया है। इस पुस्तक में भी वे सारी विशेषताएँ हैं जो उनकी पहली पुस्तक 'काश्मीर शैव दर्शनः मूल सिद्धान्त' में है।

शैव-सिद्धान्त पर हिन्दी में बिलकुल ही काम नहीं हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी की पहली पुस्तक है। इस दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है। लगभग दो सौ पृष्ठों की इस पुस्तक में लेखक ने शैव-सिद्धान्त दर्शन के प्रायः सभी प्रमुख अंगों पर संक्षेप में प्रकाश डाला है। साथ ही लेखक ने स्थान-स्थान पर शैव-सिद्धान्त की तुलना दूसरे दर्शनों, विशेषतः काश्मीर शैव दर्शन एवं अद्वैत-वेदान्त दर्शन, से की है। दूसरे सिद्धान्तों से अन्तर स्पष्ट करना शैव-सिद्धान्त की अपनी विशेषताओं को समझने के लिए आवश्यक है।

पुस्तक पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि लेखक ने विषय को अच्छी तरह से स्पष्ट

रूप से समझा है एवं इसीलिए पुस्तक में सिद्धान्तों की व्याख्या में स्पष्टता है। यह सत्य है कि और भी व्याख्या की आवश्यकता है, किन्तु संक्षेप में जितना संभव है उतना लेखक ने किया है। साथ ही सिद्धान्तों को सरल ढंग से समझने का लेखक का प्रयास प्रशंसनीय है। भाषा भी अत्यन्त सरल है। संभवतः सरलता के लिए ही लेखक ने कहीं कहीं बोल चाल की भाषा का भी प्रयोग किया है जो सरलता की दृष्टि से भाषा का गुण ही कहा जा सकता है।

शैव-सिद्धान्त पर हिन्दी में तो यह प्रथम कृति है ही, साथ ही सामान्य रूप से अपने विषय में भी इसका योगदान है। इसमें लेखक की मौलिकता यह है कि इसमें शैव-सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। विशेषकर काश्मीर शैव दर्शन से अन्तर बताते हुए आगमिक या शैव परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में काश्मीर शैव दर्शन से इसका योग भी किया गया है। साथ ही, इस दर्शन को अद्वैत-वेदान्त के निषेधात्मक दर्शन से उत्पन्न कठिनाइयों के परिहार स्वरूप में भी दिखलाया गया है।

प्रतिभाशील नववयुक लेखक डॉ० मिश्र की यह कृति निश्चय रूप से अपने विषय में महत्त्वपूर्ण योगदान है। लेखक ने विषय का जो विवरण प्रस्तुत किया है वह गंभीर एवं विचारपूर्ण है। इसके लिए लेखक बधाई के पात्र हैं तथा हिन्दी जगत् को शैव-सिद्धान्त से परिचित कराने के लिए धन्यवाद के पात्र हैं।

कमलाकर मिश्र
दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

संकेत-सूची

मृ० आ० — मृगेन्द्र आगम
पौ० आ० — पौष्कर आगम
मा० का० — माण्डूक्य कारिका
शि० बो० — शिवज्ञान बोधम्
शि० सि० — शिवज्ञान सिद्धि
शि० सि० पर — शिवज्ञान सिद्धि परपक्कम्
शि० सि० सु० — शिवज्ञान सिद्धि सुपक्कम्
शै० प० — शैव परिभाषा
शै० सि० प० — शैव सिद्धान्त परिभाषा
शि० प्र० — शिव प्रकाशम्
मा० — मापादियम्
सि० सि० सं० — सिद्ध सिद्धान्त संग्रह
शि० सू० वा० — शिव सूत्र वार्तिक

विषय–सूची

भूमिका

भारतीय दार्शनिक चिन्तन धारा सामान्यतः वैदिक, अवैदिक और आगमिक या तान्त्रिक परम्परा में विभाजित की जाती है। वैदिक परम्परा में आने वाले वे दर्शन हैं जो वेद और उपनिषद् पर आधारित हैं। इस परम्परा में ६ दर्शन हैं जिनमें वेदान्त प्रमुख है। अवैदिक परम्परा में जैन, बौद्ध एवं चार्वाक दर्शन आते हैं। तांत्रिक अथवा आगमिक परम्परा में काश्मीर शैव दर्शन, शैव-सिद्धान्त एवं वी र-शैव दर्शन प्रमुख हैं। भारतीय सस्कृति इन तीनों ही धाराओं का समन्वित रूप है, अथवा दूसरे शब्दों में, भारतीय सस्कृति के निर्माण में इन तीनों ही परम्पराओं का योगदान है। यद्यपि अपनी-अपनी दृष्टि से तीनों ही परम्पराओं के दर्शन महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु आगमिक परम्परा के दर्शनों की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जो उन्हें अन्य परम्पराओं के दर्शन से अलग करती हैं।

आगमिक परम्परा के दर्शनों की सामान्य विशेषता है जीवन तथा जगत् के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण रखना। यह भाव अवैदिक परम्परा के बौद्ध दर्शन तथा वैदिक परंपरा के प्रमुख दर्शन अद्वैत-वेदान्त की मान्यताओं के विपरीत पड़ता है। इन दर्शनों में जगत् के प्रति निषेधात्मक भाव पाया जाता है। किन्तु आगमिक परम्परा के दर्शनों की यह सामान्य विशेषता है कि वहाँ जगत् को दिव्य अथवा शिवमय या शिवरूप माना गया है। जगत् दिव्य रचना है। यह काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार स्वयं शिव की अभिव्यक्ति है एवं शैव-सिद्धान्त के अनुसार जीव के हित के लिए शिव द्वारा सृष्ट है। अद्वैत-वेदान्त में जगत् अविद्या द्वारा अध्यारोपित मात्र है। जगत् अज्ञान के कारण है। ज्ञान हो जाने पर जगत् मिथ्या है। अतः पारमार्थिक दृष्टि से जगत् की सत्ता ही अचिन्त्य है। फलतः व्यावहारिक दृष्टि से जगत् की महत्ता भले ही हो किन्तु अन्ततः जगत् का त्याग अथवा संन्यास ही अभीष्ट समझा गया है। बौद्ध दर्शन में भी जगत् के प्रति हेय भाव रखने का ही निर्देश है। किन्तु आगमिक परम्परा में जगत् के प्रति उदासीनता अथवा हेय भाव रखने की अपेक्षा जगत् को शिवमय अथवा शिवरूप मानकर जगत् की उपयोगिता निर्दिष्ट है। जगत् के प्रति इस भावात्मक दृष्टिकोण के कारण ही आगमिक परम्परा के दर्शन वैदिक और अवैदिक परम्परा के दर्शनो से अलग भासित होते हैं। जगत् के प्रति प्रतिपादित भावात्मक और निषेधात्मक दृष्टिकोण के विभेद से ही इन परम्पराओं के दर्शनों की विचारधारा में भी भे द स्पष्टतया लक्षित होता है।

आगमिक परम्परा की यह विशेषता काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त में प्रखर रूप में पाई जाती है। काश्मीर शैव दर्शन आभासवादी (Idealistic) दर्शन है तथा शैव-सिद्धान्त वस्तुवादी (Realistic) दर्शन है। काश्मीर शैव दर्शन आगमिक परम्परा की सामान्य विशेषताओं की आभासवादी व्याख्या करता है तथा शैव-सिद्धान्त इन विशेषताओं की यथार्थवादी व्याख्या करता है। काश्मीर शैव दर्शन जगत् को शिवाभास मानता है तथा शैव-सिद्धान्त जगत् को शिव की रचना मानता है। इस प्रकार दोनों ही दर्शनों में जगत् के प्रति अपनाया गया भाव समान ही है। यद्यपि काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त में आगमिक परम्परा की सामान्य विशेषताएँ समान रूप से पाई जाती हैं[1] किन्तु शैव-सिद्धान्त की अपनी कुछ खास विशिष्टताएँ हैं जिन्हें शैव-सिद्धान्त की अद्वितीयता (Uniqueness) कहा जा सकता है।

शैव-सिद्धान्त की विशेषताएँ

शैव-सिद्धान्त की विशेषताओं पर 'दार्शनिक' तथा 'धार्मिक' दो दृष्टियों से प्रकाश डाला जा सकता है।

दार्शनिक विशेषताएँ—शैव-सिद्धान्त की दार्शनिक विशेषताओं को समझने के लिए आगमिक परम्परा की सामान्य दार्शनिक विशेषताओं के सन्दर्भ में विचार करना आवश्यक है। यह भी देखना आवश्यक है कि इन विशेषताओं को आगमिक परम्परा का एक अन्य प्रमुख दर्शन 'काश्मीर शैव दर्शन' किस प्रकार ग्रहण करता है तथा इस सन्दर्भ में वैदिक परम्परा के प्रमुख दर्शन यथा अद्वैत-वेदान्त से किस प्रकार भिन्नता है। अथवा तीनों दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा शैव-सिद्धान्त की विशेषताओं पर प्रकाश डालना ही यथेष्ट होगा।

शिव की शक्तिरूपता—आगमिक परम्परा के दर्शनों की प्रमुख विशेषता है शिव, अथवा जिसे परमतत्त्व कहा गया है, को शक्तिरूप मानना। अद्वैत-वेदान्त की परमतत्त्व की अवधारणा में शक्ति का समावेश नहीं है। आगमिक परम्परा के दर्शनों में शक्ति को क्रिया अर्थ में लिया गया है। जिसके अनुसार परमतत्त्व में क्रिया है अथवा दूसरे शब्दों में, परमतत्त्व क्रियाशील है। अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म शुद्ध ज्ञान

१. इसके प्रथम भाग 'काश्मीर शैव दर्शन: मूल सिद्धान्त' में हम आगमिक परम्परा की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख कर चुके हैं तथा यह भी दिखा चुके हैं कि ये विशेषताएँ 'काश्मीर शैव दर्शन' तथा 'शैव-सिद्धान्त' में समान रूप से पाई जाती हैं, जिन्हें ये दर्शन अपने-अपने ढंग से ग्रहण करते हैं। यहाँ शैव-सिद्धान्त की दृष्टि से उन विशेषताओं का विवेचन किया जा रहा है।

स्वरूप अथवा साक्षी मात्र है। अद्वैत-वेदान्त में सम्भवतः ब्रह्म में क्रिया इसलिए नहीं माना गया है क्योंकि उसके अनुसार कर्म अपूर्णता के द्योतक हैं। अद्वैत-वेदान्त कर्म को ऐच्छिक क्रिया (Voluntary action) के अर्थ में ग्रहण करता है। जिसके अनुसार कर्म किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए अथवा किसी कमी को पूरा करने के लिए सम्पादित किया जाता है। फलतः ब्रह्म में क्रिया अथवा कर्म का होना नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में ब्रह्म के पूर्णता में कमी आ सकती है। ब्रह्म पूर्ण है। उसमें किसी प्रकार के अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः ब्रह्म में क्रिया अथवा शक्ति का होना नहीं माना जा सकता।

काश्मीर शैव दर्शन शिव की शक्तिरूपता अथवा क्रियाशीलता को स्पन्द के अर्थ में लेता है। कर्म को अपूर्णता का द्योतक काश्मीर शैव दर्शन भी मानता है किन्तु काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार कर्म और क्रिया में विभेद है। उसके अनुसार शिव में जो क्रिया है, वह स्पन्द रूप है। यह ऐच्छिक क्रिया नहीं है। स्पन्द क्रिया स्वाभाविक क्रिया है जो परमशिव में स्वभावतः अथवा अनायास उत्थित होती है। स्पन्द क्रिया किसी कमी अथवा अभाव की भावना से प्रेरित नहीं है, वरन् पूर्णता (आनन्द) का सहज उच्छलन है। अतः स्पन्द के अर्थ में परम शिव की अवधारणा में क्रिया मानने से इसका परमशिव की पूर्णता से कोई विरोध नहीं है। यह स्पंदात्मक क्रियाशीलता शिव का स्वरूप ही है।

शैव-सिद्धान्त में भी शिव को शक्तिरूप माना गया है अथवा क्रियाशीलता को शिव का स्वरूप ही कहा गया है। काश्मीर शैव दर्शन के समान शैव-सिद्धान्त में स्पन्द की अवधारणा तो नहीं है किन्तु यहाँ भी क्रिया कर्म से भिन्न है। शैव-सिद्धान्त क्रिया को इच्छा (Will) के अर्थ में ही ग्रहण करता है किन्तु यह प्रतिपादित करता है कि इसका शिव की पूर्णता से कोई विरोध नहीं है। कर्म को अपूर्णता का द्योतक शैव-सिद्धान्त भी मानता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार शिव कर्म नहीं करता। जीवात्मा (पशु) कर्म करते हैं। आत्मा को कर्म करने की आवश्यकता है क्योंकि कर्म द्वारा ही वे अपने अनादि आणव के बन्धन से छुटकारा पा सकते हैं। शिव को कर्म करने की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि शिव पूर्ण और नित्य मुक्त सत्ता है। शिव जगत् की सृष्टि करता है। किन्तु यह आत्मा द्वारा सम्पादित कर्म के अर्थ में शिव का कर्म नहीं है। शिव जगत् की सृष्टि कुछ पाने के लिए नहीं करता, वरन् आत्माओं की भलाई के लिए करता है। आत्मा को कर्म का अच्छा अथवा बुरा फल मिलता है। शिव जो भी कृत्य करता है, वह आत्माओं के लिए करता है तथा शिव के कृत्य पाप और पुण्य अथवा अच्छाई-बुराई के विषय नहीं हैं। शिव के कृत्यों को कर्म के अर्थ में इसलिए भी नहीं लिया जा सकता क्योंकि शिव माया पर आश्रित होकर अथव

मायीय तत्त्वों से युक्त होकर अपने कृत्यों को सम्पादित नहीं करता, वरन् उसके कृत्य उसकी शक्ति द्वारा ही सम्पादित होते हैं। आत्मा चूँकि मायीय तत्त्वों से युक्त होकर कर्म करता है इसलिए उसके कर्मों के परिणाम स्वरूप उसमें मायीय मल और कार्म-मल की अशुद्धता आ जाती है। किन्तु शिव अपनी शक्ति के माध्यम से ही अपने पञ्चकृत्यों का सम्पादित करता है। अतः उसमें इन मलों की अशुद्धताय आने का प्रश्न ही नहीं उठता।

शिव का सृष्टि प्रक्रिया में सक्रिय भाग—अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म को शुद्ध ज्ञान स्वरूप, निष्क्रिय अथवा साक्षी मात्र माना गया है। ब्रह्म में क्रिया नहीं है। फलतः ब्रह्म सृष्टि-प्रक्रिया से सम्बन्धित नहीं है। काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त की मान्यताओं के अनुसार शिव सृष्टि-प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग लेता है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार शिव स्वयं को ही जगत् के रूप में आभासित करता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार शिव जगत् की सृष्टि करता है तथा जगत् की स्थिति अथवा पालन या संहार भी शिव आत्माओं की भलाई के लिए ही करता है। अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म जगत् का स्रष्टा नहीं है। फलतः ब्रह्म जगत् से असम्बद्ध है। वहाँ ब्रह्म को जगत् से परे होने अथवा ब्रह्म के विश्वोत्तीर्ण होने पर ही जोर दिया गया है। ब्रह्म के विश्वमय होने पर अद्वैत-वेदान्ती उतना जोर नहीं देते। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त में शिव के विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय होने, दोनों ही बातों पर समान रूप से जोर दिया गया है। काश्मीर शैव दर्शन में शिव विश्वोत्तीर्ण है क्योंकि वह सृष्टि के छत्तीस तत्त्वों में स्वयं को अवभासित कर के भी उनसे परे है। वह विश्वमय है क्योंकि सृष्टि अथवा जगत् उसका ही प्रतिरूप अथवा आभास है।

शैव-सिद्धान्त शिव के सृष्टि-प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग लेने तथा शिव की विश्वोत्तीर्णता और विश्वमयता की व्याख्या विशेष अर्थ में करता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार शिव जगत् की रचना करता है किन्तु यह रचना वह मात्र आनन्द अथवा अपनी लीला के लिए नहीं करता। शिव द्वारा जगत् की रचना करने में एक दिव्य प्रयोजन निहित है। वह प्रयोजन है आत्माओं का उद्धार करना। इस प्रयोजन के कारण ही शिव सृष्टि की प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग लेता है। वह सृष्टि द्वारा आत्माओं को शरीर तथा जगत् प्रदान करता है। स्थिति द्वारा आत्माओं को कर्म करने के लिए पर्याप्त अवसर देता है अर्थात् जगत् को कुछ समय के लिए बनाये रखता है, ताकि आत्मा कर्म कर सके। संहार अथवा प्रलय द्वारा आत्माओं को विश्राम करने का अवसर देता है। शिव विश्वोत्तीर्ण है क्योंकि शिव जगत् का निमित्त कारण है। जगत् का उपादान कारण माया है। किन्तु शिव जगत में अपनी शक्ति के माध्यम से अन्तर्भूत भी है। जगत् में शिव की अन्तर्यामिता का भी एक दिव्य प्रयोजन है। शिव

अपनी अन्तर्यामिता द्वारा आत्माओं को अनुग्रह प्रदान करता है।

आत्म-चेतना और स्वातन्त्र्य—अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म में आत्म-चेतना (Self Consciousness) का होना नहीं माना गया है। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार आत्म-चेतना के लिए द्वैत ज्ञान आवश्यक है। अद्वैत की स्थिति में आत्म-चेतना सम्भव नहीं है क्योंकि आत्म-बोध तभी होता है जबकि अपने से अतिरिक्त अन्य के भी अस्तित्व का ज्ञान होता है। काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त शिव में आत्म-चेतना का होना मानते हैं। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार आत्म-चेतना के लिए द्वैत ज्ञान आवश्यक नहीं है। अद्वैत की स्थिति में भी आत्म-चेतना हो सकती है। केवल आत्मबोध के लिए अथवा अपने अस्तित्व की अनुभूति के लिए दूसरों की उपस्थिति अथवा द्वैत आवश्यक नहीं है। अपने को दूसरों से अलग करने में द्वैत की आवश्यकता है। शैव-सिद्धान्त में पति, पशु और पाश तीन शाश्वत तत्त्व हैं। अतः शैव-सिद्धान्त में शिव में आत्म-चेतना मानने में कोई कठिनाई नहीं होती। यहाँ अद्वैत-वेदान्त का आत्म-चेतना सम्बन्धी आवश्यक शर्त भी वर्तमान है अर्थात् दूसरे शब्दों में, शिव को अपने अस्तित्व बोध के लिए आत्माओं की सत्ता है, जिनसे स्वयं को वह अलग करके समझ सकता है। यहाँ काश्मीर शैव दर्शन की मान्यता भी लागू होती है, जिसके अनुसार आत्म-चेतना के लिए शिव में क्रिया होना आवश्यक है।

अद्वैत-वेदान्ती ब्रह्म में केवल सत्ता स्वातन्त्र्य (Freedom-from) मानते हैं, उनके अनुसार ब्रह्म में क्रिया स्वातन्त्र्य (Freedom-to) नहीं हो सकता। इस प्रकार वे ब्रह्म में सृष्ट्यादिक कर्म नहीं मानते (उनके अनुसार सृष्टि कर्म अविद्या द्वारा ब्रह्म पर आरोपित मात्र है)। काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त दोनों ही आगमिक दर्शनों में शिव में सत्ता स्वातन्त्र्य तथा क्रिया स्वातन्त्र्य माना गया है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार यदि क्रिया स्वातन्त्र्य को कर्म के अर्थ में लिया जाय तो सत्ता स्वातन्त्र्य से उसका विरोध हो सकता है; किन्तु स्पन्द के अर्थ में लेने पर सत्ता स्वातन्त्र्य और क्रिया स्वातन्त्र्य में कोई विरोध नहीं है। शैव-सिद्धान्त में शिव जीवों के प्रति प्रेम के कारण सृष्टि करता है। यह एक कृपा कार्य है। अतः इसे करने या न करने में शिव स्वतन्त्र है, क्योंकि प्रेम में किये गये कार्यों में कोई बाध्यता नहीं होती।

दार्शनिक पद्धति—शैव-सिद्धान्त की विशेषताओं के सन्दर्भ में कही गई उपर्युक्त विशेषताएँ आगमिक परम्परा की सामान्य विशेषताएँ कही जा सकती हैं जो काश्मीर शैव दर्शन में भी समान रूप से पाई जाती हैं। अब हम शैव-सिद्धान्त की अपनी विशिष्टता के रूप में शैव-सिद्धान्त की दार्शनिक पद्धति (Methodology) का उल्लेख करते हैं।

आगमिक परम्परा के दर्शन आगम पर आधारित हैं। फलतः वे आगम में कही गई बातों का ही विश्लेषण करते हैं। शैव-सिद्धान्त भी आगम पर ही आधारित है और आगमिक कथन की ही विवेचना करता है। किन्तु शैव-सिद्धान्त की दार्शनिक पद्धति की यह विशेषता है कि यहाँ आगम को ही यथार्थ प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हुए भी तर्क (Reasoning) को समान महत्त्व प्रदान किया गया है। सामान्यतः यह माना जाता है कि सत्य को अथवा परम तत्त्व या शिव और आत्मा के वास्तविक स्वरूप को सामान्य आनुभविक ज्ञान द्वारा नहीं जाना जा सकता। अतः इनके स्वरूप सम्बन्धी कथन में तर्क (Reasoning) महत्त्वपूर्ण नहीं है। पाश्चात्य दर्शन जगत् में भी सामान्य आनुभविक ज्ञान की सीमा को स्वीकार करते हुए काण्ट और ह्यूम ने सत्य को अथवा आत्मा के वास्तविक स्वरूप को अज्ञेय कहा है। आगमिक परम्परा के दर्शनों में भी सामान्य आनुभविक ज्ञान की सीमा मानी गई है, किन्तु आगमिक परम्परा के भारतीय दर्शन सामान्य आनुभविक ज्ञान की सीमा को स्वीकार करते हुए भी उच्चतर ज्ञान की सम्भावना को मानते हैं। उनके अनुसार सत्य साधारण ज्ञान के लिए अज्ञेय है, किन्तु उच्चतर ज्ञान द्वारा सत्य की अनुभूति की जा सकती है। फलतः उच्चतर ज्ञान के आधार पर ही सत्य की विवेचना की गई है। उच्चतर ज्ञान की ही अनुभूतियाँ आगम हैं। अतः सत्य के ज्ञान के लिए आगम को ही प्रमाण स्वरूप माना गया है।

काश्मीर शैव दर्शन में शिव तथा आत्मा की स्वरूप सम्बन्धी विवेचना आगम प्रमाण के ही आधार पर की गई, तर्क (Reasoning) को सत्य के कथन के लिए उपयोगी नहीं माना गया है। फलतः शिव और आत्मा के अस्तित्व सिद्धि के लिए काश्मीर शैव दार्शनिक तर्कों का प्रयोग नहीं करते हैं; उनके अनुसार तर्क द्वारा अथवा बुद्धि द्वारा सत्य के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझा जा सकता है। शैव-सिद्धान्त भी काश्मीर शैव दर्शन की इस मान्यता से सहमत है। उसके अनुसार भी बुद्धि चूँकि मायोत्पादित है, अतः उसकी सीमा माया के तत्त्वों तक ही है। माया के तत्त्वों से परे की सत्ता बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं है। अतः सत्य को जानने के लिए बुद्धि का उपयोग सीमित है। अतः सत्य की अनुभूति उच्चतर ज्ञान द्वारा अथवा आगम प्रमाण द्वारा ही हो सकती है।

सत्य उच्चतर ज्ञान की अनुभूति का विषय है जो आध्यात्मिक साधनाओं द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। अतः आनुभविक ज्ञान द्वारा अथवा सामान्य ज्ञान के स्तर पर सत्य अज्ञेय है। सत्य के ज्ञान के लिए उच्चतर ज्ञान प्राप्त किया जाना आवश्यक है। किन्तु उच्चतर ज्ञान प्राप्त करने के लिए अथवा आध्यात्मिक साधनाओं को करने के लिए उनमें विश्वास अथवा श्रद्धा आवश्यक है। यदि आगम में

विश्वास अथवा श्रद्धा नहीं है तो आगमों का अनुसरण भी नहीं किया जा सकता। अतः आगमों में विश्वास पैदा करने के लिए बुद्धि को सन्तुष्ट करना भी आवश्यक है, क्योंकि बिना सन्तुष्ट हुए विश्वास करने का प्रश्न ही नहीं उठता। शैव-सिद्धान्ती बुद्धि को सन्तुष्ट करने की इस आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। फलतः बुद्धि को भी सन्तुष्ट करने के लिए शैव-सिद्धान्त में आगम-प्रमाण के बावजूद तर्क (Reasoning) को समान रूप से महत्त्वपूर्ण समझा गया है। उनके अनुसार यदि आगमिक कथन तार्किक दृष्टि से संगत नहीं हैं तो उन्हें प्रमाण स्वरूप नहीं माना जा सकता।

शैव-सिद्धान्त की दार्शनिक पद्धति ही तार्किक पद्धति है। आगमिक कथनों को तार्किक कसौटी पर रखकर उनकी प्रामाणिकता को शैव-सिद्धान्ती सिद्ध करते हैं। इसीलिए शैव-सिद्धान्ती किसी भी दार्शनिक विचार के प्रतिपादन के पूर्व अन्य दार्शनिक मतों की आलोचना करते हैं तथा तार्किक विश्लेषण करते हुए अपने मत का प्रतिपादन करते हैं। इस पद्धति द्वारा शैव-सिद्धान्ती यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि उनका दर्शन तर्क की दृष्टि से भी संगत एवं ग्राह्य है। इस तार्किक विश्लेषण की प्रक्रिया में शैव-सिद्धान्ती इतने उत्साहित हो जाते हैं कि वे अपने दर्शन को 'सिद्धान्त' अथवा सभी 'सिद्धान्तों का अन्त' तक कह देते हैं। उनके अनुसार उनका ही दर्शन अन्तिम दर्शन अथवा सर्वोच्च दर्शन है। सभी दार्शनिक मतों के विश्लेषण के पश्चात् स्थापित उनके दार्शनिक सिद्धान्त के बाद अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की सम्भावना ही नहीं रह जाती। यह बात भले ही अतिशयोक्तिपूर्ण मानी जायेगी, किन्तु शैव-सिद्धान्त की यह दार्शनिक पद्धति महत्त्वपूर्ण है। इसके अनुसार आगमिक कथनों की प्रामाणिकता सामान्य आनुभविक ज्ञान के स्तर पर भी समझी जा सकती है।

शैव-सिद्धान्त की दूसरी प्रमुख विशेषता है परमतत्त्व में धार्मिक ईश्वर के भावों का समावेश। शैव-सिद्धान्त में शिव एक तरफ मन, वाणी से अगम, अगोचर है तथा निर्गुण निराकार होने से शब्दों में वह व्यक्त नहीं किया जा सकता, और दूसरी तरफ भक्तों का प्रभु, मालिक तथा दया का प्रतिमूर्ति है। अद्वैत-वेदान्त का ब्रह्म शुद्ध परमतत्त्व है। वह जगत् तथा जागतिक पदार्थों से असम्बद्ध है। शुद्ध ज्ञान स्वरूप अथवा साक्षी मात्र होने से उसे बद्ध जीवों के सुख, दुःख तथा पीड़ा की न तो जानकारी ही होती है और न ही वह भक्तों के कष्टों को जानने की चेष्टा ही कर सकता है। फलतः ब्रह्म हमारे सुख-दुःख को न तो समझ ही सकता है और न ही दूर कर सकता है। यद्यपि अद्वैत-वेदान्त में इस भावना की पूर्ति के लिए ईश्वर की अवधारणा है, किन्तु वहाँ ईश्वर अन्तिम सत्य नहीं है। इसके प्रत्युत्तर में अद्वैत-वेदान्ती कह सकते हैं कि ब्रह्म ही एकमात्र परम सत् है। आत्मा और ब्रह्म में अद्वैत है। फलतः सुख दुःख केवल व्यावहारिक स्तर तक है। पारमार्थिक स्तर पर ब्रह्म ही सब कुछ है

अतः ब्रह्म को सुख दुःख की अनुभूति नहीं हो सकती। यह अनुभूति यदि ब्रह्म में मानी जाय तो ब्रह्म अपूर्ण हो जायेगा, ब्रह्म की पूर्णता अक्षुण्ण नहीं रह जायेगी।

अद्वैत-वेदान्त का परमार्थिक सत्य व्यावहारिक स्तर के साधकों अथवा जीवों को सन्तुष्ट नहीं कर पाता। शैव-सिद्धान्ती यह स्वीकार नहीं करते कि उनका शिव उनके कष्टों को दूर करने को कौन कहे उसे उसका भान भी नहीं होता। शैव-सिद्धान्ती अद्वैत-वेदान्त की ब्रह्म सम्बन्धी इस अवधारणा को भक्त हृदय के प्रतिकूल पाते हैं। उनके अनुसार यदि शिव को हमारे कष्टों का ख्याल ही नहीं है तो उसे शिव अथवा ईश्वर कहने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। अतः इसलिए शैव-सिद्धान्ती एक तरफ जहाँ शिव को निर्गुण, निराकार कहते हैं वहीं उसे आत्माओं का ईश्वर अथवा स्वामी, मालिक आदि से भी सम्बोधित करते हैं।

शैव-सिद्धान्त के अनुसार शिव निर्गुण और निराकार है क्योंकि वह माया के गुणात्मक तत्वों से परे है। उसमें कोई रूप अथवा आकार आरोपित नहीं किया जा सकता है। अतः वाणी अथवा शब्द द्वारा उसका निर्वचन भी नहीं किया जा सकता और न ही बुद्धि द्वारा उसे जाना जा सकता है। किन्तु शैव-सिद्धान्ती यह मानते हैं कि शिव का अनुग्रह हमें प्राप्त है। शिव आत्माओं के प्रति अपने प्रेम के कारण ही सृष्टि आदि पञ्चकृत्य करता है। शिव अनादि आणव के बन्धन से आत्माओं को मुक्त करने के लिए उन पर निरन्तर अनुग्रह करता रहता है। शिव अपनी अनुग्रह शक्ति द्वारा आत्माओं में निवास करता है। शिव के अनुग्रह से ही आत्माओं को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है। अतः शैव-सिद्धान्ती यह मानते हैं कि शिव के अनुग्रह रूप की अनुभूति हमें सामान्य आनुभविक ज्ञान के स्तर पर भी होती है। शैव-सिद्धान्ती इसीलिए यह कहते हैं कि शिव 'प्रेम' रूप है। शैव-सिद्धान्त की यह अवधारणा ईसाई धर्म की मान्यता से बहुत कुछ साम्य रखती है, जहाँ ईश्वर को प्रेम रूप कहा गया है।

अद्वैत-वेदान्त ब्रह्म को भक्तों के सुख, दुःख से सम्भवतः इसलिए दूर रखता है कि उसके अनुसार ब्रह्म के शुद्ध ज्ञान रूप में क्रिया अथवा ज्ञान की 'प्रक्रिया' नहीं हो सकती। अद्वैत-वेदान्ती यह मानते हैं कि ज्ञान चेतना की निष्क्रियता की अवस्था है। ज्ञान की प्रक्रिया दर्पण में पड़ रहे प्रतिबिम्ब के समान अथवा तालाब में पड रहे चाँद के प्रतिबिम्ब के समान ही है। किन्तु आगमिक परम्परा के दर्शन विशेषकर काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त में यह समान रूप से माना गया है कि ज्ञान चेतना की निष्क्रियता की अवस्था नहीं है, वरन् चेतना की सक्रिय अवस्था है। 'बोध' अथवा ज्ञान की अनुभूति की व्याख्या बिना चेतना में क्रिया माने नहीं की जा सकती। अद्वैत-वेदान्त ब्रह्म में क्रिया का होना बिलकुल नहीं मानता, क्योंकि उसके अनुसार क्रिया अथवा कर्म अपूर्णता का द्योतक होगा। अहं-चेतना (Self-Conscioussness)

की अनुभूति इसलिए नहीं हो सकती क्योंकि इसके लिए द्वैत ज्ञान आवश्यक है। फलतः अद्वैत-वेदान्ती ब्रह्म में अहं चेतना ही नहीं मानते। ब्रह्म को स्वयं अपने ही अस्तित्व का बोध नहीं हो सकता, फिर वह भक्तों के कष्टों को क्या समझेगा? यदि यह कमी ईश्वर ही पूरी करता है तो भक्त के लिए ईश्वर से अतिरिक्त ब्रह्म को मानने की आवश्यकता ही नहीं होगी। अद्वैत-वेदान्ती की ओर से यह कहा जा सकता है कि पारमार्थिक स्तर पर ईश्वर नहीं है वरन् ब्रह्म ही है। ब्रह्म के अतिरिक्त आत्मा की भी सत्ता पारमार्थिक स्तर पर नहीं है। अतः पारमार्थिक स्तर पर ब्रह्म में किसी अनुभूति का माना जाना भी आवश्यक नहीं है। ये अनुभूतियाँ केवल व्यावहारिक स्तर तक ही महत्त्व रखती हैं।

अद्वैत-वेदान्त की एतद् सम्बन्धी अवधारणा अद्वैत-वेदान्त की दार्शनिक वैचारिक संरचना के अनुकूल ही है। आचार्य शंकर की दृष्टि से ब्रह्म सम्बन्धी अवधारणा यथेष्ट है। किन्तु धर्म दर्शन होने के कारण शैव-सिद्धान्ती इन मान्यताओं को भक्त हृदय के प्रतिकूल पाते हैं। पारमार्थिक स्तर पर स्वयं ब्रह्म हो जानने की स्थिति तो अनिर्वचनीयता की स्थिति है। उस अवस्था के विषय में तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता। किन्तु आनुभविक अथवा व्यावहारिक स्तर पर धार्मिक भावों से परिपूर्ण ईश्वर की मान्यता आवश्यक है। शैव-सिद्धान्ती इसीलिए शिव को 'दर्शन' का परम-तत्त्व मानने के साथ-साथ उसे 'धर्म' का ईश्वर भी मानते हैं। यह कहा जा सकता है कि अद्वैत-वेदान्त में भी ऐसे ईश्वर की अवधारणा व्यावहारिक स्तर पर है, जो उपासना आदि का विषय है। किन्तु शैव-सिद्धान्ती भक्त अद्वैत-वेदान्त के ईश्वर को स्वीकार नहीं कर पाता। शैव-सिद्धान्ती भक्त उस ईश्वर की उपासना करता है जो उसे बन्धन से मोक्ष दिलाता है, अथवा दूसरे शब्दों में, आत्मा को बन्धन से मुक्त कराने के लिए ही सृष्ट्यादिक कर्म करता है और मोक्ष की अवस्था में भी आत्मा का स्वामी बना रहता है। दूसरे शब्दों में, आत्मा आणव मल से मुक्त होकर शिव के समान ही पूर्ण शक्तियों को प्राप्त कर लेता है, फिर भी शिव उसका स्वामी रहता है। इसलिए शैव-सिद्धान्ती ईश्वर को निचले स्तर का अथवा मायिक स्तर का नही मानते। उनके अनुसार जो ईश्वर व्यावहारिक स्तर पर उसके सुख-दुःख को समझता है। वही पारमार्थिक स्तर पर अथवा पूर्ण ज्ञान या शिवज्ञान की स्थिति में भी परम सत्य है। अद्वैत-वेदान्त का ईश्वर पूर्ण ज्ञान हो जाने पर अथवा अविद्या के प्रभाव के नष्ट होते ही स्वयं भी निरर्थक हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मुक्तावस्था मे स्वयं ईश्वर का भी बाध हो जाता है और ब्रह्म ही पूर्ण रूप में प्रकाशित होता है। धर्म दर्शन अथवा भक्ति प्रधान दर्शन होने के कारण शैव-सिद्धान्त अपने ईश्वर का बाध होना स्वीकार नहीं कर सकता। इसलिए वह ईश्वर को ही

परमतत्त्व शिव रूप मानता है।

धार्मिक विशेषताएँ :—किसी भी दार्शनिक परम्परा का प्रभाव उस परम्परा की धार्मिक मान्यताओं पर पड़ना स्वाभाविक है। आगमिक परम्परा के दर्शनों का भी प्रभाव आगमिक परम्परा की धार्मिक विचार धाराओं पर पर्याप्त रूप में पड़ता है। यह कहा जा सकता है कि भारतीय धर्म एवं संस्कृति पर आगमिक परम्परा के दर्शनों का प्रभाव स्पष्ट रूपेण परिलक्षित होता है। भारतीय जीवन में आगमिक विचार धारा के तत्त्व सन्निहित हैं। आगमिक परम्परा की सामान्य विशेषताएँ काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त की धार्मिक विचार धारा में समान रूप से परिलक्षित होती हैं; किन्तु शैव-सिद्धान्त इन विशेषताओं को जिस रूप में ग्रहण करता है, वह शैव-सिद्धान्त की अपनी विशेषता कही जा सकती है।

जगत् के प्रति धार्मिक भाव :—आगमिक परम्परा के दर्शनों में जगत् के प्रति धार्मिक भाव पाया जाता है। काश्मीर शैव दर्शन में जगत् शिव की लीला के लिये रचित स्वयं शिव का अवभासन है। अतः शिव रूप होने के कारण जगत् दिव्य (divine) है। शैव-सिद्धान्त की मान्यताओं के अनुसार जगत् आत्माओं के भलाई के लिये ही सृष्ट किया गया है। जगत् शिव की रचना है इसलिए दिव्य है। जगत् आत्माओं को मुक्त करने के लिये साधन रूप में सृष्ट किया गया है, इसलिये जगत् की उपयोगिता है। जगत् ही नहीं जागतिक पदार्थ अथवा जगत् की वस्तुएँ भी शिव-रूप या शिवमय है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार जगत् की वस्तुएँ शिवाभास होने के कारण शिव रूप हैं, तथा शैव-सिद्धान्त के अनुसार शिव अपनी शक्ति द्वारा जगत् में अन्तर्भूत है, इसलिये जगत् तथा जागतिक वस्तुएँ शिवमय हैं। इस प्रकार शैव-सिद्धान्त में जगत् के प्रति धार्मिक भाव है। यह भाव वैदिक परम्परा के उन दर्शनों के विपरीत पड़ता है जिनके अनुसार जगत् अविद्या के कारण ब्रह्म पर अध्यारोपित मात्र है। फलतः उन दर्शनों में अज्ञान के कारण जगत् का अस्तित्व होने से जगत् बन्धन का कारण है। इस दृष्टि से जगत् का बाध होना ही मोक्ष का कारक है। जिसके परिणामस्वरूप इन दर्शनों की साधना-पद्धति संन्यास-पद्धति है।

आगमिक परम्परा के दर्शनों में जगत् को बन्धन का कारण नहीं माना गया है। यहाँ वासनाओं को बन्धन का कारण माना गया है। इस लिये आगमिक परम्परा की साधना-पद्धति भी संन्यास मार्गी न होकर गृहस्थ जीवन के अनुकूल है। शैव-सिद्धान्त की साधना पद्धति पूर्णतः गृहस्थ जीवन के आदर्शों पर आधारित है। शैव-सिद्धान्त के कुछ प्रमुख सन्त पूर्णतया गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए ही सत्य का साक्षात्कार किये। गृहस्थ जीवन पर आधारित साधना पद्धति का दिव्य रूप तब और स्पष्ट हो जाता है जब शैव-सिद्धान्ती मुक्ति एवं भुक्ति अथवा संसार एवं मोक्ष

में विरोध नहीं पाते। सांसारिक कर्म भी शैव-सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष के साधन हैं। आत्मा कर्म करने के लिए ही जगत् में प्रवेश करता है। बद्धावस्था में आत्मा कर्मों द्वारा सुख-दुःख को अनुभूत करते हुए मलपरिपाक की प्रक्रिया को संपादित करता है तथा मोक्ष की अवस्था में अथवा जीवन्मुक्ति की अवस्था में आत्मा शिव के कृत्यों में शिव का सहयोग करता है। शैव-सिद्धान्त में ऐसा माना गया है कि शिव मुक्तात्माओं से सृष्टि आदि कार्यों को करने में सहयोग लेता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु, नारायण आदि देव शिव के कार्यों में शिव से शक्ति प्राप्त कर सहयोग करते हैं। इस प्रकार शैव-सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष की लौकिक कार्यों से असंगति नहीं है। अद्वैत-वेदान्त की मान्यताओं के अनुसार मोक्ष पूर्ण ज्ञान अथवा पूर्णता की अवस्था है और पूर्णता की स्थिति में कर्म नहीं हो सकता क्योंकि कर्म अपूर्णता के सूचक हैं। अतः यदि मोक्ष की अवस्था में जीवन्मुक्त कर्म करता है तो वह पुनः बन्धन में पड़ सकता है अथवा उसका पूर्णता की स्थिति से विरोध होगा। किन्तु शैव-सिद्धान्त की यह अपनी विशेषता है कि उसके अनुसार आत्मा कर्म करने के लिए ही जगत् में प्रवेश करता है तथा जीवन्मुक्ति की अवस्था में भी वह शिव के कार्यों में सहयोग करने की भावना से कर्म करता है, इसलिए बद्ध नहीं होता।

भक्ति प्रधान दर्शन :—शैव-सिद्धान्त की दूसरी प्रमुख धार्मिक विशेषता है उसका भक्ति की भावना पर आधारित होना। भक्ति के लिए उपास्य और उपासक का द्वैत होना आवश्यक है। इसीलिए शैव-सिद्धान्त आत्मा और शिव को दो नित्य सत्ता मानता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार आत्मा शिव की उपासना करता है तथा शिव पर आश्रित है। शैव-सिद्धान्ती अपनी इस भक्ति-परक भावना को मोक्ष की स्थिति में भी बनाये रखते हैं। उनके अनुसार मोक्ष की अवस्था में भी शिव मालिक अथवा स्वामी ही रहता है तथा आत्मा उस अवस्था में भी सेवक ही रहता है।

अद्वैत-वेदान्त और काश्मीर-शैव दर्शन में भी बद्धावस्था तक भक्ति अथवा उपासना का अभिधान है, किन्तु अद्वैत-वेदान्त तथा काश्मीर शैव दर्शन की मान्यतायें शैव-सिद्धान्त के भक्ति परक विचार धाराओं के प्रतिकूल पड़ती हैं। अद्वैत-वेदान्त और काश्मीर शैव दर्शन परम अद्वैतवादी दर्शन हैं। इसके अनुसार परमतत्त्व ही बद्धावस्था में उपासना करता है अथवा अपने बन्धन को दूर करने के लिए प्रार्थना करता है। यद्यपि यह इन दर्शनों की दार्शनिक संरचना के अनुकूल ही है, किन्तु शैव-सिद्धान्ती इसे स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार जो पूर्ण है वह कभी अपूर्ण अथवा बन्धन में नहीं पड़ सकता। यह कैसे हो सकता है कि स्वयं उद्धारक ही अपने उद्धार के लिए याचना करे। यदि वह पूर्ण और सर्वशक्तिमान सत्ता है तो

उसे कष्ट और दुःख से मुक्त होने के लिए साधना की आवश्यकता क्यों पड़ती है ? यदि वह सर्वज्ञ है तो उसे यह ज्ञान होना चाहिए कि वह कष्ट में है और यह ज्ञान होने पर उसे अपने कष्टों को स्वयं दूर कर लेना चाहिए। यह बात अस्वाभाविक सी लगती है कि ब्रह्म-रूप अथवा शिव-रूप होकर भी आत्मा कष्ट और दुःख भोगता है। इसीलिए शैव-सिद्धान्ती आत्मा और शिव का तात्त्विक द्वैत मानते हैं तथा आत्मा और शिव के सम्बन्ध को 'अद्वैत'[1] से परिभाषित करते हैं।

शुद्ध अद्वैत और शुद्ध द्वैत अतिवादी सिद्धान्त हैं। शैव-सिद्धान्त इनके मध्य का मार्ग अपनाता है। उसके अनुसार शिव और आत्मा में अस्तित्व की दृष्टि से अथवा तत्त्व की दृष्टि से द्वैत है, किन्तु शिव अपनी अनुग्रह शक्ति द्वारा आत्माओं को व्याप्त किये रहता है। इस प्रकार आत्मा और शिव में निरन्तर सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध ही शैव-सिद्धान्त के अनुसार अद्वैत का सम्बन्ध है। शैव-सिद्धान्ती यह मानते हैं कि शिव सदैव ही आत्माओं पर कृपा बरसाता रहता है।

भक्ति-प्रधान दर्शन होते हुए भी शैव-सिद्धान्त भावना-परक (emotionally Oriented) नहीं है, वरन् तर्क-परक (reason oriented) है। शैव-सिद्धान्त की भक्ति तर्क संगत (rational) भक्ति है। फलतः इसकी भक्ति में दो तीन विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। प्रथमतः यहाँ भक्ति का अर्थ भावावेश में रोना-गाना अथवा नाचना–कूदना नहीं है (जैसा कि कुछ लोग समझते हैं) वरन् भक्ति का अर्थ अपने अहं को भगवान में समर्पित करके भगवान की इच्छा के अनुसार सत्यमय जीवन बिताना है। दूसरे, भक्ति के लिए औपचारिक पूजा पाठ (rituals) सहायक होते हुए भी आवश्यक नहीं हैं। शैव-सिद्धान्त में औपचारिक पूजा पाठ को नकारा नहीं गया, किन्तु उसे विशेष महत्व नहीं दिया गया; विशेष महत्त्व आन्तरिक भाव को दिया गया। यह माना गया है कि शिव औपचारिक पूजा-पाठ से प्रसन्न नहीं होते वरन् आन्तरिक भक्ति भाव से प्रसन्न होते हैं। शैव-सिद्धान्त के ऐतिहासिक भक्त इसके उदाहरण हैं। तीसरे, भक्ति के विषय में यही तर्कसंगत प्रतीत होता है कि जाति-पाति से भक्ति का कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए शैव-सिद्धान्ती भक्ति में जाति-पाति को महत्व नहीं दिया गया है। शैव-सिद्धान्त में मान्य बहुत से उच्च भक्त शूद्र वर्ण एवं पञ्चम वर्ण के भी हुए हैं।

शैव-सिद्धान्त का इतिहास तथा साहित्य

कुछ अनुश्रुतियों के आधार पर ऐसी मान्यता है कि भगवान शिव ने शैवागमों के प्रचार के लिए महर्षि दुर्वासा को निर्देश दिया। दुर्वासा ने शैवागमों की शिक्षा

1. शैव-सिद्धान्त में 'अद्वैत' की अवधारणा अद्वैत-वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन से भिन्न है, इसकी विवेचना आगे की जाएगी।

अपने तीन मानस पुत्रों (शिष्यों) त्र्यम्बक, अमर्दक और श्रीनाथ को दिया। त्र्यम्बक को दी गई शिक्षा पर काश्मीर शैव दर्शन आधारित है तथा ऐसा कहा जाता है कि दुर्वासा द्वारा अमर्दक और श्रीनाथ को दी गई द्वैत और द्वैताद्वैत शिक्षाओं पर शैव-सिद्धान्त आधारित है, जिसके आधिकारिक स्रोत २८ आगम हैं, जिनमें १० द्वैत और १८ द्वैताद्वैत हैं।[1] यह दर्शन दक्षिण भारत में विकसित हुआ।

दक्षिण की परम्पराओं के अनुसार भगवान् शिव ने स्कन्द और नन्दी को शैव-सिद्धान्त का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से दिया तथा उन्हें आचार्य नियुक्त किया। इन आचार्यों द्वारा दो भिन्न गुरु परम्परायें स्थापित हुईं जो स्कन्द परम्परा और नन्दी परम्परा के रूप में ज्ञात हैं। ऐसा कहा जाता है कि जो कुछ शिव ने स्कन्द को प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा दिया, उसे उन्होंने (स्कन्द ने) वामदेव को उपदेश दिया तथा वामदेव ने नीलकण्ठ शिवाचार्य को। उनके द्वारा वह शिक्षा विश्वेश्वर को प्राप्त हुई तथा उनसे सदाशिव शिवाचार्य को। वे शिक्षाएँ उसके बाद शिवमन्नप्रकाश को तथा उसके बाद शिवाग्रयोगी को प्राप्त हुई जिन्होंने उसे अपने शिष्यों को प्रदान किया।[2]

शैव-सिद्धान्त के दार्शनिक विकास को तीन भागों–आगम काल, शैव सन्तों का काल तथा दार्शनिक काल—में समझा जा सकता है।

आगम काल :—शैव-सिद्धान्त के स्रोत द्वैत तथा द्वैताद्वैतवादी शैवागम हैं, जिनका समय १६००० से १४,५५० ई० पूर्व अनुमान किया जाता है, किन्तु अभी तक इस सम्बन्ध में स्पष्ट अवधारणा नहीं बनी है। शैवागमों में १० ईश्वर के प्रकाशन कहे जाते हैं तथा १८ व्यक्ति द्वारा अनुभूत हैं। ईश्वर के प्रकाशन कहे जाने वाले आगमों में—कामिक, योगज, चिन्त्य, कारण, अजीत, दीप्त, सूक्ष्म, साहस्रक, अन्शुमान और सुप्रभ हैं। मनुष्य द्वारा अनुभूत कहे जाने वाले आगमों में—विजय, निष्वास, स्वायम्भुव, आग्नेयक, भद्र, रौरव, माकुट, विमल, चन्द्रहास, मुखयुगबिम्ब, उद्‌गीत, ललित, सिद्ध, सन्तान, नारसिंह, परमेश्वर, किरण और पर आगम हैं।

शैव-सिद्धान्त का प्रारम्भिक दार्शनिक रूप इन आगमों तथा अन्य उपागमों पर लिखी गई वृत्तियों में मिलता है। इनमें पौष्कर-आगम, मृगेन्द्र आगम और मातंग आगम पर लिखी गई वृत्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। भट्ट रामकण्ठ (११ वीं शती ई०) की मातंग वृत्ति, नारायणकण्ठ (११ वीं शती ई०) की मृगेन्द्रवृत्ति तथा अघोर शिव (१२ वीं शती ई०) की मृगेन्द्र वृत्ति दीपिका है। उमापति शिवाचार्य (१४ वीं शती ई०) का पौष्कर भाष्य तथा धारा के राजा भोज (११ वीं शती

१—शैव परिभाषा, प्रिफेस पृ० ix
२—वही, पृ० x

ई०) की तत्त्व प्रकाशिका है। तत्त्व प्रकाशिका में शैव-सिद्धान्त के छत्तीस तत्वों की प्रस्तुति है। इस कृति पर दो टीकाएँ—एक श्रीकुमार की और दूसरी अघोर शिव की—हैं। सद्योज्योति (१० वीं शती ई०) द्वारा लिखी गई 'तत्त्व संग्रह' और 'तत्त्व-त्रय-निर्णय' महत्त्वपूर्ण हैं जो अघोर शिव के अनुसार रौरव और स्वायम्भुव आगमों के विद्यापाद पर आधारित हैं। सद्योज्योति की ही 'भोग-कारिका' और 'मोक्षकारिका' है। भट्ट रामकण्ठ की 'नाद कारिका', जिसपर अघोर शिव की टीका भी है, महत्त्वपूर्ण है क्योंकि 'भाषा' पर शैव-सिद्धान्त की यह अकेली कृति है।[1]

शैव सन्तों का काल—शैव-सिद्धान्त के दार्शनिक विकास में प्रथम प्रयास शैव सन्तों द्वारा शिव की स्तुति में लिखे गये गीतों में मिलता है। इन गीतों को नाम्पी-य-आन्तार नाम्पी ने ग्यारहवीं शती ई० में संकलित किया जो बारह तिरुमुरै के नाम से ज्ञात है। 'तिरुमुरै' की प्रथम सात पुस्तकें 'तेवारम' हैं जो अप्पर, सम्बन्दर और सुन्दरर द्वारा शिव की स्तुति में लिखे गये भक्तिपरक गीतों का संकलन है। इन पुस्तकों को 'तमिल वेद' भी कहा जाता है। अप्पर का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है तथा सम्बन्दर अप्पर के समकालीन थे। सुन्दरर का समय आठवीं शताब्दी अथवा नवीं शताब्दी ई० का पूर्वकाल था।

आठवीं पुस्तक मनिक्कवासकर की 'तिरुवाचकम' और तिरुकोवैयार' से सम्बद्ध है, जिनका समय नवीं शताब्दी ई० था। यह पुस्तक भी तेवारम के समान 'तमिल वेद' मानी जाती है।

नवीं पुस्तक 'तिरुविसैप्पा और तिरुप्पलान्दु से सम्बन्धित है। प्रथम नौ शैव सन्तों के गीतों का संग्रह है। दूसरी शिव की स्तुति में चेन्तनार द्वारा रचित कविता है। दसवीं पुस्तक तिरुमूलर की 'तिरुमन्तिरम' है जो संभवतः पाँचवी या छठी शताब्दी ई० की रचना है। ग्यारहवीं पुस्तक 'पतिनारन-तिरुमुरै' है जिसमें बारह शैव सन्तों की कवितायें हैं। बारहवीं पुस्तक शेक्किलार की 'पिरिया-पुराण' है। इस पुस्तक में तिरसठ तमिल शैव भक्तों की जीवनी है।

दार्शनिक काल—शैव सन्तों के बाद शैव-सिद्धान्त के विकास में शैव-सिद्धान्ती दार्शनिकों का आविर्भाव-काल आता है। शैव-सिद्धान्त का दार्शनिक विकास काल आठवीं शती ई० से तेरहवीं शती ई० माना जाता है।[2] शैव-सिद्धान्त के दार्शनिक विकास में सर्वप्रथम नाम 'मेइकण्डदेव' का है जिन्होंने इस दर्शन को सुव्यवस्थित

१. शैविज्म इन फिलासोफिकल पर्सपेक्टिव: शिवरमन पृ० ३२
२. अप्पर, सी०वी० नारायण, ओरिजिन एण्ड अर्ली हिस्ट्री ऑफ शैविज्म इन साउथ इण्डिया

दार्शनिक रूप दिया। इस काल की दार्शनिक कृतियों को 'मेइकण्ड शास्त्र' कहा जाता है। यद्यपि सर्वप्रथम मेइकण्डदेव ने ही इस दर्शन को सुव्यवस्थित रूप दिया किन्तु इनके पूर्व की दो कृतियाँ भी महत्वपूर्ण होने से 'मेइकण्ड शास्त्र' में इंगित हैं।

'मेइकण्ड शास्त्र' की प्रथम पुस्तक 'तिरुवन्तियार' है जिसकी रचना ११४७ ई० में होना माना गया है तथा दूसरी पुस्तक 'तिरुक्कलिर्रुप्पतियार' है जिसकी रचना ११७७ ई० में होना कहा गया है। दोनों ही कृतियों के लेखक का नाम उय्यवन्तदेव है, किन्तु प्रथम पुस्तक के उय्यवन्तदेव तिरुवियुलूर के हैं तथा दूसरी के उय्यवन्त देव तिरुकडवूर के हैं।

'मेइकण्ड शास्त्र' की तृतीय पुस्तक मेइकण्डदेव द्वारा रचित 'शिवज्ञान बोधम' है। इसे तेरहवीं शती ई० की रचना माना गया है। शिवज्ञानबोधम शैवागमों के दार्शनिक विषयों का मूल्यांकन है तथा शैव-सिद्धान्त के विकास में इस ग्रन्थ की प्रमुख भूमिका है। इसमें 'अद्वैतवाद' को एक नये रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसकी भेद और अभेद मात्र विशिष्टतायें हैं।

चतुर्थ पुस्तक अरुलनन्दी द्वारा रचित 'शिव ज्ञान सिद्धि' है। यह पुस्तक १२०० ई० से १२५० ई० के बीच किसी समय लिखी गयी। अरुलनन्दी के विषय में कहा जाता है कि मेइकण्डदेव ने शैव-सिद्धान्त को व्यवस्थित रूप दिया तथा उनसे बचे कार्यों को उनके शिष्य अरुलनन्दी ने पूरा किया। शैव-सिद्धान्त की तत्त्व मीमांसा तथा ज्ञान मीमांसा का प्रतिपादन अरुलनन्दी ने किया। शिवज्ञानसिद्धि के दो भाग परपक्कम और सुपक्कम हैं। पूर्ववर्ती में अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन है तथा परवर्ती में शैव-सिद्धान्त के मौलिक सिद्धान्त हैं। अरुलनन्दी की ही कृति 'इरुपाविरुपतु' 'मेइकण्ड शास्त्र' की पंचम पुस्तक है।

मेइकण्ड शास्त्र की छठीं पुस्तक 'उन्मै-नेरिविलक्कम' है जो मनवासकम-कडन्तदेव की रचना है। इसमें सृष्टि के छत्तीस तत्त्वों का विवरण प्रमुख रूप से है।

'मेइकण्ड शास्त्र' की शेष आठ पुस्तकें उमापति शिवाचार्य की रचना हैं जो शिवप्रकाशम, तिरुवरुल-पयन, वीना-वेन्बा, पोर्रिपरुरोदै, कोडिक्कवि, नेन्जु-विडु-तूतु, उन्मै-नेरि-विलक्कम तथा संकर्पनिराकरणम हैं।

उमापति शिवाचार्य का समय १४ वीं शती ई० माना गया है। उमापति ने अपने पूर्वजों के कार्यों को दो दिशाओं में पूरा किया। उन्होंने मेइकण्डदेव के अद्वैतवाद को स्पष्ट किया तथा शैव-सिद्धान्त को शैव दर्शन के अन्य आन्तरिक सम्प्रदायों से अलग प्रस्तुत किया। उमापति के शिव प्रकाशम को प्रारंभिक सभी कृतियों का पूरक समझा जा सकता है।

चौदहवी से अठारहवीं शती ई० में लिखी गयी टीकाओं का भी शैव-सिद्धान्त के दार्शनिक विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसमें उमापति का पौष्कर भाष्य, सत-रत्न-संग्रह, शिवाग्र भाष्य तथा अप्पय की शिवार्कमणि दीपिका उल्लेखनीय है।[1]

१. शैविज्म इन फिलासोफिकल पर्सपेक्टिव: शिवरमन, पृ० ३८

ज्ञान मीमांसा

शैव-सिद्धान्त में ज्ञान के दो स्तर-सामान्य ज्ञान (पशुज्ञान) और उच्चतर ज्ञान (शिवज्ञान) माने गये हैं। सामान्य ज्ञान आत्मा की बद्धावस्था का ज्ञान है। इस अवस्था में आत्मा की स्वाभाविक शक्तियाँ, यथा ज्ञान-शक्ति, इच्छा शक्ति और क्रिया-शक्ति, सीमित रहती हैं। इसलिए इस स्तर पर ज्ञान सीमित होता है। उच्चतर ज्ञान आत्मा की मुक्तावस्था का ज्ञान है। इस अवस्था में आत्मा की सभी स्वाभाविक शक्तियाँ अपने पूर्ण रूप में प्रकाशित होती हैं। इसलिए यह स्तर पूर्ण ज्ञान का स्तर है। सामान्य ज्ञान के स्तर पर आत्मा के वास्तविक स्वरूप पर अनादि आणव का आवरण पड़ा रहता है, इसलिए आत्मा को ज्ञान प्राप्त करने के लिए साधनों की आवश्यकता पड़ती है। इस अवस्था में आत्मा बिना साधनों की सहायता के सीधे ज्ञान (Direct knowledge) नहीं प्राप्त कर सकता। उच्चतर ज्ञान के स्तर पर आत्मा अनादि आणव के आवरण से मुक्त होता है, फलतः बिना साधनों की अपेक्षा किये ही सीधे ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

सामान्य ज्ञान की सीमा शैव-सिद्धान्त में मानी गयी है, क्योंकि इस स्तर पर बुद्धि, इन्द्रियादि साधनों के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। बुद्धि, इन्द्रियादि ज्ञान के साधन मायोत्पादित हैं। फलतः इनके द्वारा जानने की सीमा माया के क्षेत्र तक ही सीमित है। माया से परे सत्य (ईश्वर) का ज्ञान सामान्य ज्ञान द्वारा नहीं हो सकता। सामान्य ज्ञान (इन्द्रिय प्रत्यक्ष) की सीमा चार्वाक आदि भौतिकवादियों को छोड़-कर सामान्यतः सभी भारतीय दर्शनों में माना गया है। पाश्चात्य दर्शन जगत् में भी काण्ट और ह्यूम ने सामान्य ज्ञान की सीमा को माना है। भारतीय दार्शनिक सामान्य ज्ञान की सीमा को स्वीकार करते हुए उच्चतर ज्ञान की संभावना को मानते हैं। उच्चतर ज्ञान प्राप्त कर सत्य का साक्षात्कार करना ही भारतीय दार्शनिकों का चरम लक्ष्य है। उच्चतर ज्ञान अथवा पूर्ण ज्ञान की स्थिति को ही भारतीय दर्शन में मोक्ष की अवस्था माना गया है।

उच्चतर ज्ञान को अभीष्ट मानते हुए भी शैव-सिद्धान्त की यह विशेषता है कि यहाँ सामान्य ज्ञान को भी महत्त्वपूर्ण माना गया है। सामान्य ज्ञान द्वारा उच्चतर ज्ञान के विषय (ईश्वर) को जाना तो नहीं जा सकता, किन्तु शैव-सिद्धान्ती यह मानते हैं कि उच्चतर ज्ञान की अनुभूति की सत्यता को सामान्य ज्ञान द्वारा पुष्ट किया जा सकता है।

उच्चतर ज्ञान की सत्यता तो उच्चतर ज्ञान प्राप्त करके स्वयं की अनुभूतियों द्वारा ही सिद्ध की जा सकती है। उच्चतर ज्ञान प्राप्त करने के लिए आगमों में निर्दिष्ट साधनाओं को करना आवश्यक है। साधना करने से पूर्व उच्चतर ज्ञान के प्रति श्रद्धा तथा विश्वास उत्पन्न होना आवश्यक है, क्योंकि यदि विश्वास ही नहीं रहेगा तो जिज्ञासु साधना करने के लिए तत्पर नहीं होगा। इस लिए शैव-सिद्धान्ती यह आवश्यक मानते हैं कि उच्चतर ज्ञान की अनुभूति सामान्य ज्ञान के स्तर पर भी तर्कसंगत होनी चाहिए। यदि उच्चतर ज्ञान की अनुभूतियाँ तर्कसंगत नहीं हैं तो उन्हें सत्य रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि शैव-सिद्धान्ती जहाँ उच्चतर ज्ञान की अनुभूतियों के संग्रह रूप आगम को यथार्थ प्रमाण के रूप में स्वीकार करते है, वहीं प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण जैसे सामान्य ज्ञान के साधनों की भी विवेचना करते हैं। जहाँ आगम प्रमाण द्वारा शिव का स्वरूप विवेचन करते हैं, वहीं तर्क द्वारा ईश्वर की सता भी सिद्ध करते हैं।

शैव-सिद्धान्त की ज्ञान-मीमांसा को समझने के लिए शैव-सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत ज्ञान का स्वरूप, प्रमाण विचार, प्रामाण्य विचार तथा भ्रम-विचार का अलग-अलग विवेचन आवश्यक है।

ज्ञान का स्वरूप

ज्ञान के स्वरूप के विषय में सभी भारतीय दार्शनिक एक मत नहीं हैं। चार्वाक ज्ञान को शरीर का ही धर्म मानता है। न्याय दर्शन में ज्ञान को आत्मा का आकस्मिक गुण कहा गया है, सांख्य दर्शन में बुद्धि ज्ञान का कारण है, जैन दर्शन में आत्मा ज्ञान स्वरूप है, किन्तु ज्ञान की उत्पत्ति शरीर के आकार पर निर्भर करती है; बौद्धों के अनुसार ज्ञान स्कन्धों (तत्त्वों) के समूह पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त कुछ दार्श-निक ज्ञानेन्द्रियों को ही ज्ञान का कारण अथवा ज्ञाता मानते हैं.कुछ सूक्ष्म देह को ज्ञाता मानते है तथा कुछ दार्शनिक प्राणवायु को ही ज्ञान का कारण अथवा ज्ञाता मानते हैं। शैव-सिद्धान्ती इन सभी दार्शनिक मतों की आलोचना करते हुए अपने मत का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार ज्ञान आत्मा का आवश्यक गुण या स्वरूप है। ज्ञान की प्रक्रिया ज्ञान शक्ति के कारण होती है तथा ज्ञानशक्ति आत्मा के स्वरूप में ही अनुस्यूत है।

चार्वाक शरीर से भिन्न आत्मा की सत्ता नहीं मानते। उनके अनुसार 'मैं मोटा हूँ' 'मैं पतला हूँ' आदि अनुभवों से भी शरीर ही आत्मा रूप में सिद्ध है। फलतः वे ज्ञान को शरीर की ही क्रिया मानते हैं! शैव-सिद्धान्ती शरीर से भिन्न आत्मा की सत्ता को सिद्ध करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार 'मेरा घर', 'मेरा देश', 'मेरी पत्नी'

उच्चतर ज्ञान की सत्यता तो उच्चतर ज्ञान प्राप्त करके स्वयं की अनुभूतियों द्वारा ही सिद्ध की जा सकती है । उच्चतर ज्ञान प्राप्त करने के लिए आगमों में निर्दिष्ट साधनाओं को करना आवश्यक है । साधना करने से पूर्व उच्चतर ज्ञान के प्रति श्रद्धा तथा विश्वास उत्पन्न होना आवश्यक है, क्योंकि यदि विश्वास ही नहीं रहेगा तो जिज्ञासु साधना करने के लिए तत्पर नहीं होगा । इस लिए शैव-सिद्धान्ती यह आवश्यक मानते हैं कि उच्चतर ज्ञान की अनुभूति सामान्य ज्ञान के स्तर पर भी तर्कसंगत होनी चाहिए । यदि उच्चतर ज्ञान की अनुभूतियाँ तर्कसंगत नहीं हैं तो उन्हें सत्य रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता । यही कारण है कि शैव-सिद्धान्ती जहाँ उच्चतर ज्ञान की अनुभूतियों के संग्रह रूप आगम को यथार्थ प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं, वहीं प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण जैसे सामान्य ज्ञान के साधनों की भी विवेचना करते हैं । जहाँ आगम प्रमाण द्वारा शिव का स्वरूप विवेचन करते हैं, वहीं तर्क द्वारा ईश्वर की सत्ता भी सिद्ध करते हैं ।

शैव-सिद्धान्त की ज्ञान-मीमांसा को समझने के लिए शैव-सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत ज्ञान का स्वरूप, प्रमाण विचार, प्रामाण्य विचार तथा भ्रम-विचार का अलग-अलग विवेचन आवश्यक है ।

ज्ञान का स्वरूप

ज्ञान के स्वरूप के विषय में सभी भारतीय दार्शनिक एक मत नहीं हैं । चार्वाक ज्ञान को शरीर का ही धर्म मानता है । न्याय दर्शन में ज्ञान को आत्मा का आकस्मिक गुण कहा गया है, सांख्य दर्शन में बुद्धि ज्ञान का कारण है, जैन दर्शन में आत्मा ज्ञान स्वरूप है, किन्तु ज्ञान की उत्पत्ति शरीर के आकार पर निर्भर करती है; बौद्धों के अनुसार ज्ञान स्कन्धों (तत्त्वों) के समूह पर निर्भर है । इसके अतिरिक्त कुछ दार्शनिक ज्ञानेन्द्रियों को ही ज्ञान का कारण अथवा ज्ञाता मानते हैं.कुछ सूक्ष्म देह को ज्ञाता मानते है तथा कुछ दार्शनिक प्राणवायु को ही ज्ञान का कारण अथवा ज्ञाता मानते हैं । शैव-सिद्धान्ती इन सभी दार्शनिक मतों की आलोचना करते हुए अपने मत का प्रतिपादन करते हैं । उनके अनुसार ज्ञान आत्मा का आवश्यक गुण या स्वरूप है । ज्ञान की प्रक्रिया ज्ञान शक्ति के कारण होती है तथा ज्ञानशक्ति आत्मा के स्वरूप में ही अनुस्यूत है ।

चार्वाक शरीर से भिन्न आत्मा की सत्ता नहीं मानते । उनके अनुसार 'मैं मोटा हूँ' 'मैं पतला हूँ' आदि अनुभवों से भी शरीर ही आत्मा रूप में सिद्ध है । फलतः वे ज्ञान को शरीर की ही क्रिया मानते हैं । शैव-सिद्धान्ती शरीर से भिन्न आत्मा की सत्ता को सिद्ध करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार 'मेरा घर', 'मेरा देश', 'मेरी पत्नी'

कहने से घर, देश, पत्नी से पृथक 'मैं' अथवा 'मेरा' का अस्तित्व सिद्ध होता है, उसी प्रकार 'मेरा शरीर', 'मेरा हाथ', 'मेरा पाँव', कहने से भी शरीर, हाथ, पाँव से इतर 'मैं' अथवा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। 'मैं मोटा हूँ', 'मै पतला हूँ' आदि कथनों का विश्लेषण करते हुए शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि इन कथनों से भी आत्मा के ही अस्तित्व का संकेत मिलता है। शरीर अपने विषय में कोई कथन नहीं कर सकता क्योंकि शरीर जड़ और अचेतन है। इसके अतिरिक्त कोई व्यक्ति यह नहीं कहता कि 'मैं शरीर हूँ', 'मैं हाथ हूँ', 'मैं पाँव हूँ' आदि। यदि ज्ञान को शरीर की ही क्रिया माना जाय तो मृत्यु की अवस्था में भी ज्ञान की क्रिया होनी चाहिए क्योंकि उस समय शरीर तो रहता ही है। शरीर के रहते हुए भी ज्ञान की क्रिया नहीं होती, अतः ज्ञान को शरीर की क्रिया नहीं माना जा सकता। ज्ञान आत्मा की क्रिया है।

जैन दार्शनिक आत्मा का शरीर के बराबर आकार मानते हैं। उनके अनुसार शरीर के आकार के बढ़ने के साथ आत्मा का भी आकार बढ़ता है। आत्मा पूरे शरीर को व्याप्त किये रहता है। आत्मा का ज्ञान शारीरिक क्रिया पर ही निर्भर करता है। इस प्रकार आत्मा का ज्ञान भी शरीर के आकार-प्रकार के अनुसार कम या अधिक हो सकता है। शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि हम छोटे व्यक्तियों में भी अधिक ज्ञान पाते हैं तथा कभी-कभी बड़े व्यक्तियों में भी कम ज्ञान पाया जाता है। दूसरे, आत्मा का आकार नहीं माना जा सकता क्योंकि शरीर के एक भाग के घायल होने पर आत्मा भी घायल हो सकता है। किन्तु आत्मा अविनाशी है।

बौद्ध दार्शनिक नित्य आत्मा का अस्तित्व नही मानते। उनके अनुसार स्कन्धों (तत्वों) के समूह के क्रियाशील रहने से ज्ञान की प्रक्रिया होती है। शैव-सिद्धान्ती इस मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि तत्व अचेतन हैं, इस लिए ज्ञान तत्वों की क्रियाशीलता के कारण नहीं है, वरन् चेतना की क्रियाशीलता के कारण है। बौद्ध दार्शनिक चेतना को भी प्रवाह रूप मानते हैं, जो हर क्षण परिवर्तनशील है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार हर क्षण परिवर्तित होने वाली चेतना से ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि इससे स्मृति की व्याख्या नहीं हो सकती।

न्याय दर्शन ज्ञान को आत्मा का आकस्मिक गुण मानता है। नैयायिक कहते हैं कि ज्ञान को आत्मा का आवश्यक गुण अथवा स्वरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि निद्रावस्था में आत्मा के वर्तमान रहते हुए भी ज्ञान की कोई प्रक्रिया नहीं होती। इसलिए नैयायिक यह मानते हैं कि ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाशीलता पर निर्भर है। निद्रावस्था में ज्ञानेन्द्रियाँ क्रियाशील नहीं रहतीं, इसलिए उस अवस्था में ज्ञान नहीं होता। अतः ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों का विषय से सन्निकर्ष होने पर निर्भर करता है। फलतः

ज्ञान को आत्मा का स्वरूप अथवा आवश्यक गुण नहीं माना जा सकता ।

शैव-सिद्धान्ती न्याय-सिद्धान्त की आलोचना में कहते हैं कि नैयायिक गुण का गुणी से पृथक् अस्तित्व मानते हैं, किन्तु गुण बिना आधार के अथवा बिना गुणी के अस्तित्ववान नहीं रह सकता । ऐसी स्थिति में यदि एक का निषेध किया जाता है तो दूसरे का भी निषेध स्वभावतः हो जाता है । ज्ञान आत्मा का आवश्यक गुण है, इसे आत्मा से अलग नहीं किया जा सकता । शैव-सिद्धान्ती ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान का साधन मात्र मानते हैं । उनके अनुसार अकेले ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकतीं क्योंकि वे अचेतन हैं । ज्ञान के लिए विषयों के साथ ज्ञानेन्द्रियों का सन्निकर्ष होना आवश्यक है, किन्तु ज्ञान तभी संभव है जब आत्मा की ज्ञान शक्ति ज्ञानेन्द्रियों को अपने साधन रूप में प्रयोग करे । यदि ज्ञान शक्ति अथवा चेतना ज्ञान में प्रवृत्त नहीं है तो अनुभूति अथवा बोध की व्याख्या नहीं हो सकती । ज्ञान शक्ति अथवा चेतना के अभाव में विषयों के साथ ज्ञानेन्द्रियों का सन्निकर्ष दर्पण में पड़ रहे प्रतिबिम्ब के समान मात्र भौतिक क्रिया अथवा भौतिक परावर्तन होगा । ऐसी स्थिति में जिस प्रकार दर्पण को अपने में प्रतिबिम्बित हो रहे विषय का ज्ञान नहीं होता, वैसे ही आत्मा को भी विषय का ज्ञान नहीं होगा । इसलिए शैव-सिद्धान्ती ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान का साधन मात्र मानते हैं । वास्तविक ज्ञाता चेतना या आत्मा की ज्ञान शक्ति है जो आत्मा से अभिन्न है ।

यहाँ नैयायिक आक्षेप कर सकते हैं कि यदि ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान का साधन मात्र हैं तो निद्रावस्था में आत्मा के वर्तमान रहते हुए भी ज्ञान क्यों नहीं होता अथवा आत्मा बिना ज्ञानेन्द्रियों की सहायता के ज्ञान क्यों नहीं प्राप्त कर सकता ? दूसरे शब्दों में, आत्मा ज्ञानेन्द्रियों पर निर्भर क्यों रहता है ? इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कह सकते हैं कि निद्रावस्था में ज्ञान शक्ति बाधित रहती है अथवा उस पर आवरण पड़ा रहता है । जिस प्रकार बादलों से आच्छादित होने पर सूर्य का प्रकाश बाहर भासित नहीं होता तथा बादलों का आवरण हट जाने पर सूर्य पुनः भासित हो जाता है, उसी प्रकार निद्रावस्था में ज्ञान शक्ति पर आवरण पड़ा रहता है तथा जाग्रता-वस्था में यह आवरण हट जाने पर पुनः ज्ञान की प्रक्रिया होने लगती है । जिस प्रकार बादलों से आच्छादित हो जाने के कारण सूर्य का बाह्य भासन न होने से ऐसा नहीं कहा जाता कि प्रकाश सूर्य का स्वरूप अथवा आवश्यक गुण नहीं है, उसी प्रकार निद्रावस्था के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान आत्मा का आवश्यक गुण अथवा स्वरूप नहीं है, वरन् आकस्मिक गुण है । ज्ञानेन्द्रियों पर आत्मा की निर्भरता के विषय में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि आणव मल से आच्छादित होने के कारण आत्मा की ज्ञान शक्ति सीमित है, फलतः ज्ञान के लिए उसे ज्ञानेन्द्रियों पर

निर्भर होना पड़ता है, किन्तु आणव मल का आवरण दूर हो जाने पर आत्मा बिना ज्ञानेन्द्रियों की सहायता के ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। योगज प्रत्यक्ष इसका उदाहरण है।

सांख्य दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान बुद्धि का कार्य है। पुरुष साक्षी मात्र है। पुरुष की उपस्थिति में बुद्धि ही ज्ञान प्राप्त करती है। शैव-सिद्धान्ती सांख्य की इस अवधारणा की आलोचना करते हुए कहते हैं कि बुद्धि मायोत्पादित होने के कारण अचेतन है। फलतः बुद्धि भी ज्ञान प्राप्त करने का आवश्यक साधन है, किन्तु जब तक चेतन सत्ता उसका प्रयोग न करे तब तक स्वयं बुद्धि ज्ञान की अनुभूति नहीं कर सकती। सांख्य दर्शन में पुरुष को चेतन तो माना गया है, किन्तु पुरुष निष्क्रिय और उदासीन है। पुरुष बुद्धि का प्रयोग ही नहीं करेगा अथवा दूसरे शब्दों में, पुरुष बुद्धि को क्रियाशील ही नहीं करेगा और इस प्रकार ज्ञान की प्रक्रिया असंभव होगी। बुद्धि का विषयों के साथ सन्निकर्ष भी दर्पण में पड़ रहे प्रतिबिम्ब के समान भौतिक परावर्तन ही कहा जायेगा, इसे चेतन क्रिया नहीं कहा जा सकता। बुद्धि को स्वयं ज्ञानशील नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह अचेतन प्रकृति से विकसित तत्त्व है।

इसी प्रकार शैव-सिद्धान्ती इन्द्रियात्मवादियों, प्राणात्मवादियों तथा अन्तःकरण-वादियों की भी आलोचना करते हैं, जो इन्द्रियों, प्राणवायु तथा अन्तः करण को ही ज्ञान का कारण मानते हैं। शैव-सिद्धान्ती यह मानते हैं कि इन्द्रियाँ प्राणवायु तथा अन्तःकरण ज्ञान के लिए आवश्यक हैं किन्तु ये ज्ञान के साधन मात्र ही हैं।[1] ज्ञान आत्मा के कारण है तथा यह आत्मा का आवश्यक गुण या स्वरूप ही है।

प्रमाण विचार :—सामान्य ज्ञान के यथार्थ साधन अथवा प्रमाण के विषय में शैव-सिद्धान्ती केवल तीन प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार इनके अतिरिक्त अन्य प्रमाणों को मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इनके अतिरिक्त अन्य सभी प्रमाणों को इन तीन प्रमाणों में ही सीमित किया जा सकता है। इन तीनों प्रमाणों को भी केवल एक ही प्रमाण 'चिति प्रमाण' में सीमित किया जा सकता है, क्योंकि चिति ही एक मात्र यथार्थ प्रमाण है अथवा इन सभी प्रमाणों के मूल में है।

काश्मीर शैव दर्शन के समान शैव-सिद्धान्त में भी यह माना गया है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि प्रमाण चिति के साधन रूप हैं। चिति अथवा चित् शक्ति ही उन्हें प्रामाणिकता प्रदान करती है अथवा उनके माध्यम से चिति शक्ति ही ज्ञान की प्रामाणिकता को जानती है। चिति-शक्ति से स्वतन्त्र रूप में ये प्रमाण कार्य नहीं

१—इस विषय में विस्तृत विवेचना आत्मा के संदर्भ में आगे की जायेगी।

कर सकते । अतः चिति ही एक मात्र यथार्थ प्रमाण है ।

प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों की विवेचना द्वारा यह जाना जा सकता है कि वास्तविक प्रमाण चिति-शक्ति ही है । प्रत्यक्ष प्रमाण के विश्लेषण में हम पाते हैं कि प्रत्यक्ष के साधन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा चेतना ही विषयों का प्रत्यक्ष करती है । ज्ञानेन्द्रियाँ केवल साधन मात्र होने से अथवा मायोत्पादित होने से अचेतन हैं । वे स्वयं चालित नहीं हो सकतीं, यदि चेतना उन्हें संचालित न करे । नेत्र द्वारा विषयों का संयोग ही केवल प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं करा सकता जब तक चेतना उस संयोग का अनुभव न करे । कान द्वारा सुना भी नहीं जा सकता जब तक चेतना ध्वनि को अनुभव न करे । इसी प्रकार बुद्धि आदि अन्तःकरणों का विश्लेषण करने से यह ज्ञात होता है कि वास्तविक ज्ञाता चेतना ही है । अतः यथार्थ प्रमाण चेतना या चिति है । अनुमान प्रमाण में भी व्याप्ति आदि साधनों के प्रयोग द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाला चिति-शक्ति ही यथार्थ प्रमाण है । शब्द प्रमाण द्वारा भी ज्ञान करने वाला वास्तविक ज्ञाता चेतना अथवा चिति शक्ति ही है चाहे यह गुरु के उपदेश द्वारा श्रवण के माध्यम से अथवा श्रुतियों के मनन से हो ।

इस सन्दर्भ में प्रश्न हो सकता है कि यदि ये प्रमाण साधन मात्र ही हैं अथवा इनके प्रयोग से ज्ञान प्राप्त करने वाला वास्तविक ज्ञाता चेतना ही है तो चेतना इन प्रभावों पर निर्भर क्यों है ? क्या बिना इसके प्रयोग के ज्ञान प्राप्त करने में चेतना सक्षम नहीं है ? यदि सक्षम है तो उसे इन साधनों की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए और यदि उसे अपेक्षा रहती है तो चेतना को यथार्थ प्रमाण नहीं माना जा सकता । इसके उत्तर में काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि चेतना स्वतन्त्रतापूर्वक इन प्रमाणों को बिना अपेक्षा किये ज्ञान कर सकता है । किन्तु मल के कारण चेतना की सीमित अवस्था में चेतना को इनकी अपेक्षा रहती है । मल से मुक्त हो जाने पर चेतना बिना इनकी अपेक्षा किये ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है । शैव-सिद्धान्ती भी काश्मीर शैव दार्शनिकों से इस बात में सहमत हैं । शैव-सिद्धान्त के अनुसार आत्मा का वास्तविक स्वरूप अनादि आणव से ग्रस्त होने के कारण आत्मा की स्वाभाविक शक्तियाँ सीमित हैं । इसीलिए चिति को ज्ञान प्राप्त करने के लिए साधनों की अपेक्षा होती है । आणव मल के प्रभाव से मुक्ति पाने के पश्चात् आत्मा इन साधनों पर निर्भर नहीं होगा । ऐसी अवस्था में इन साधनों का प्रयोग आत्मा की स्वेच्छा पर निर्भर होगा ।

ज्ञान के साधन के रूप में शैव-सिद्धान्ती प्रत्यक्ष अनुमान तथा शब्द प्रमाण को ही मानते हैं । अतः शैव-सिद्धान्त की दृष्टि से इन प्रमाणों पर विचार करना अपेक्षित है ।

प्रत्यक्ष :-ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्ष द्वारा साक्षात् ज्ञान (Immediate knowledge)[1] प्राप्त होता है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा विषय के साथ सन्निकर्ष के माध्यम से आत्मा ज्ञान प्राप्त करता है। शैव-सिद्धान्ती यह मानते हैं कि आत्मा ही बाह्य ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्तःकरण द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। सुख-दुःख की अनुभूति को भी शैव-सिद्धान्त में प्रत्यक्ष का विषय माना गया है। इसके अतिरिक्त शैव-सिद्धान्ती योगज प्रत्यक्ष को भी मानते हैं। योगज प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है।

प्रत्यक्ष ज्ञान की चार अवस्थायें शैव-सिद्धान्ती मानते हैं। पहली अवस्था में निर्विकल्प ज्ञान होता है जिसके अनुसार विषय का बोध मात्र ही होता है, विषय के बारे में कथन अथवा वर्णन नहीं हो सकता। दूसरी अवस्था संशय की अवस्था है जिसमें विषय का तादात्म्य स्थापन करने में संशय रहता है अर्थात् ज्ञाता संशय में ही रह जाता है कि वस्तु क्या है? कुछ निर्णय नहीं कर पाता। तीसरी अवस्था में ज्ञाता विषय के बारे में कुछ धारणा बना लेता है, किन्तु स्थिति संशय की ही रहती है। चौथी अवस्था सविकल्प प्रत्यक्ष की होती है जहाँ विषय के बारे में कथन अथवा वर्णन स्पष्ट रूप से हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस अवस्था में विषय के नाम-रूप का ज्ञान हो जाता है।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष-ज्ञान की प्रक्रिया में शैव-सिद्धान्ती विषय का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष होना मानते हैं। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि इस सन्निकर्ष में वस्तुओं का प्रतिबिम्ब ज्ञानेन्द्रियों पर पड़ता है अथवा ज्ञानेन्द्रियाँ स्वयं विषय के साथ सम्बन्ध स्थापित करती हैं? शैव-सिद्धान्त के अनुसार ज्ञानेन्द्रियाँ ही स्वयं सम्बन्ध स्थापित करती हैं। उदाहरणार्थ नेत्र का प्रकाश जब वस्तु पर पड़ता है तभी वस्तु का ज्ञान होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो दूरस्थ वस्तुओं का भी निकटस्थ वस्तुओं के समान ही स्पष्ट ज्ञान होगा। किन्तु दूरस्थ वस्तुओं का धुँधला प्रत्यक्ष ही होता है।

१—पारिभाषिक अर्थ में साक्षात या अपरोक्ष ज्ञान (Immediate or Intuitive or Direct Knowledge) उसको कहा जाता है जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय के बीच में कोई तीसरी कड़ी नहीं होती, दूसरे शब्दों में, जहाँ ज्ञाता बिना किसी माध्यम के सीधे ज्ञान करता है। परोक्ष ज्ञान (mediate knowledge) उसको कहा जाता है जहाँ ज्ञाता किसी माध्यम से ज्ञान करता है। इस अर्थ में प्रत्यक्ष ज्ञान भी वस्तुतः परोक्ष ही है, क्योंकि उसमें इन्द्रियों का माध्यम होता है। परन्तु अनुमान तथा शब्द की तुलना में अधिक साक्षात् होने के कारण प्रत्यक्ष को साक्षात् ज्ञान कह दिया गया है।

अतः यही मान्य होगा कि नेत्र का प्रकाश जब वस्तु पर पड़ता है तभी वस्तु का ज्ञान होता है। इस सम्बन्ध में आक्षेप होता है कि किस प्रकार नेत्र का प्रकाश पर्वत को व्याप्त कर लेता है, अथवा पर्वत को प्रकाशित करना छोटे से नेत्र के लिए किस प्रकार संभव है? इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि जिस प्रकार तेल की एक बूंद सारे पानी को व्याप्त कर लेती है, वैसे ही नेत्र का प्रकाश भी पर्वत को व्याप्त कर लेता है।

नेत्र का प्रकाश तो बाहर जा कर वस्तु के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, किन्तु यह अन्य ज्ञानेन्द्रियों यथा कर्ण, नाक, आदि द्वारा किस प्रकार संभव हो सकता है? शैव-सिद्धान्ती मानते हैं कि यद्यपि कर्ण, नाक आदि ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर जाकर विषय के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकतीं, किन्तु हवा आदि के माध्यम से विषयों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं। उदाहरणार्थ समीप में लगी हुई आग की गर्मी हवाओं के माध्यम से ज्ञात हो सकती है अथवा सुगन्ध उचित दिशाओं वाली हवाओं के माध्यम से ज्ञात हो जाती है। यदि विपरीत हवा चलती है तो यह ज्ञान नहीं होता।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि क्या विषयों के साथ ज्ञानेन्द्रियों का मात्र संयोग ही प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण है? क्या अचेतन इन्द्रियाँ विषयों के साथ स्वयं सम्बन्ध स्थापित कर सकती हैं? इन प्रश्नों के उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि विषयों के साथ ज्ञानेन्द्रियों का संयोग मात्र प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। ज्ञानेन्द्रियाँ अचेतन हैं अतः यह संयोग दर्पण में पड़े प्रतिबिम्ब के समान होगा, किन्तु इससे अनुभूति की व्याख्या अथवा ज्ञान की व्याख्या नहीं हो सकती। दर्पण को अपने में प्रतिबिम्बित वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि दर्पण अचेतन है। किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान में ज्ञान की अनुभूति होती है। यह अनुभूति चेतना के कारण संभव है। चेतना अथवा चित-शक्ति ही ज्ञानेन्द्रियों को संचालित कर अथवा ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से विषयों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर ज्ञान प्राप्त करती है। उसी प्रकार चित-शक्ति बुद्धि आदि अन्तःकरणों का प्रयोग कर विषयों के साथ सम्बन्ध स्थापित करती है। यह संयोग राग, कला आदि तत्त्वों के सहयोग से होता है। इन तत्त्वों के संयोग से ही चेतना सुख, दुःख आदि अनुभूतियों को करती है।

इसके अतिरिक्त शैव-सिद्धान्ती योगज प्रत्यक्ष को भी मानते हैं जिसके अनुसार बिना ज्ञानेन्द्रियों के प्रयोग के ही चिति-शक्ति ज्ञान प्राप्त कर सकती है। शैव-सिद्धान्त की मान्यताओं के अनुसार आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में ज्ञान स्वरूप अथवा सर्वज्ञ है। अनादि आणव से ग्रस्त होने के कारण उसकी ज्ञान शक्ति सीमित है जिसके कारण उसे ज्ञानेन्द्रियों की सहायता लेनी पड़ती है। यौगिक क्रियाओं द्वारा अथवा

शिवज्ञान या अनुग्रह प्राप्त कर के जब यह आणव मल आँशिक रूप से दूर होने लगता है तो आत्मा की ज्ञान शक्ति पूर्णता को प्राप्त होने लगती है। इस प्रकार चिति शक्ति सब कुछ जानने में समर्थ होने लगती है। आणव मल का प्रभाव सर्वथा दूर हो जाने पर चिति शक्ति के लिए देश-काल का बन्धन नहीं रह जाता, वह भूत, वर्तमान तथा भविष्य की बातें भी जान सकती है। इस प्रकार शैव-सिद्धान्ती अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष को भी मानते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण के सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि शैव-सिद्धान्ती 'अभाव' को भी प्रत्यक्ष का ही विषय मानते हैं तथा 'अभाव' को अलग से प्रमाण नहीं मानते। अभाव को प्रमाण मानने वाले कहते हैं कि चूंकि नास्तित्ववान वस्तु से ज्ञानेन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं हो सकता, अतः अभाव प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। अभाव को प्रमाण मानने वाले कहते हैं कि खाली जमीन को देख कर घड़े के अभाव का ज्ञान नहीं होता वरन् खाली जमीन को देख कर पूर्व काल में देखे गये घड़े का स्मरण होता है तथा इस स्मृति ज्ञान के फलस्वरूप पुनः खाली जमीन को देखकर घड़े के अभाव का ज्ञान होता है। चूंकि घड़े के अभाव के ज्ञान में प्रत्यक्ष के अतिरिक्त पूर्व काल के प्रत्यक्ष की स्मृति भी सम्मिलित है और बिना इस स्मृति के केवल खाली जमीन का प्रत्यक्ष कर घड़े के अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता, अतः अभाव को पृथक् प्रमाण मानना आवश्यक है।

शैव-सिद्धान्ती इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार ज्ञानेन्द्रियों के साथ अनुपस्थित विषय का सन्निकर्ष 'विशेषण-विशेष्य-भाव' से होता है। खाली जमीन जो पूर्व काल में घट से विशिष्ट थी अब घट के अभाव से विशिष्ट है। अतः खाली जमीन को देखकर ही घड़े का अभाव ज्ञात हो सकता है अर्थात् अभाव भी प्रत्यक्ष का ही विषय है।

अनुमान :—व्याप्ति की सहायता से प्राप्त परोक्ष ज्ञान अनुमान है। न्याय दर्शन के समान ही अनुमान का विशद विवेचन शैव-सिद्धान्त में किया गया है। न्याय दर्शन के ही समान अनुमान के दो प्रकार स्वार्थानुमान और परार्थानुमान शैव-सिद्धान्ती मानते हैं। स्वार्थानुमान अथवा अपने लिए किये गये अनुमान में दो से लेकर तीन न्याय वाक्य ही हो सकते हैं, किन्तु परार्थानुमान अथवा जो अनुमान दूसरों को समझाने के लिए किया जाता है, उसे पाँच न्याय-वाक्यों से कम का नहीं होना चाहिए। स्वयं शिव का अनुमान करने में स्वार्थानुमान से ही काम चल सकता है किन्तु शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि जब शिव का अनुमान शिष्यों अथवा अन्य सामान्य व्यक्तियों को समझाने के लिए किया जाय तो परार्थानुमान होना चाहिए।

शैव-सिद्धान्त के अनुसार अनुमान या तो भावात्मक होता है या निषेधात्मक।

भावात्मक अनुमान का उदाहरण—

प्रतिज्ञा–	पर्वत पर अग्नि है।
हेतु	क्योंकि पर्वत पर धुँआ है।
उदाहरण	जैसे चूल्हे में अग्नि है जहाँ धुआं है।
उपनय	चूंकि इस पर्वत पर भी वैसे ही धुँआ है।
निगमन–	अतः पर्वत पर अग्नि है।

निषेधात्मक अनुमान का उदाहरण—

प्रतिज्ञा—	इस पर्वत पर धुँआ नहीं है।
हेतु—	क्योंकि वहाँ अग्नि नहीं है।
उदाहरण—	जैसे तालाब में धुँआ नहीं है क्योंकि वहाँ अग्नि नहीं है।
उपनय–	चूँकि इस पर्वत पर भी अग्नि नहीं है जो धुँए के साथ होती है।
निगमन–	अतः पर्वत पर धुँआ नहीं है।

अनुमान के भावात्मक और निषेधात्मक विभेद के आधार पर अथवा व्याप्ति सम्बन्ध या अन्वय के आधार पर शैव-सिद्धान्ती नैयायिकों के समान ही केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी, अन्वय व्यतिरेकी और दृष्ट तथा सामान्यतोदृष्ट आदि अनुमान के उपभेद करते हैं।

शैव-सिद्धान्ती उपमान, परिशेष, अर्थापत्ति आदि को अनुमान का ही विषय मानते हैं। इन प्रमाणों को वे अलग से अथवा स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते।

आगम प्रमाण :—शब्द प्रमाण में नैयायिकों के समान आकांक्षा, योग्यता, तात्पर्य आदि को आवश्यक मानते हुए शैव-सिद्धान्ती आगम को सर्वोच्च प्रमाण मानते हैं। आगम शिव के प्रकाशन हैं, इस लिए प्रामाणिक हैं। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि शिव निर्गुण तथा निराकार है, शिव को कोई रूप आरोपित नहीं किया जा सकता; ऐसी स्थिति में आगमों की रचना किस प्रकार संभव है? शैव-सिद्धान्ती मानते हैं कि शिव जीवन्मुक्तों के माध्यम से आगमों का प्रकाशन करता है। जीवन्मुक्त की चित् शक्ति मलों के प्रभाव से मुक्त होने के कारण शुद्ध होती है। शिव उन्हें अनुग्रह द्वारा शिवज्ञान कराता है। इस प्रकार आगम जीवन्मुक्तों की अनुभूतियाँ है। यह स्वयं अनुभूत किये गये विषयों का प्रतिपादन करते हैं। अतः अनुभूतियों पर आधारित होने के कारण आगम प्रामाणिक है। अनुभूतियों पर आधारित होने से आगम को काल्पनिक विषयों का प्रतिपादक नहीं कहा जा सकता।

किन्तु आगम को अनुभूतियों पर आधारित कह देने मात्र से आगम की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती क्योंकि यह कथन भी अपनी प्रामाणिकता के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा करेगा ? इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि स्वयं शिवज्ञान प्राप्त कर आगमिक कथन की परीक्षा की जा सकती है। शिवज्ञान शैव-सिद्धान्त द्वारा निर्दिष्ट साधनाओं के पश्चात ही प्राप्त हो सकता है। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि साधक आगमिक कथनों की सत्यता को जानने का प्रयास ही क्यों करेगा अथवा साधनायें ही क्यों करेगा जब तक उसे आगमिक कथनों में विश्वास अथवा श्रद्धा न हो ? कहने का तात्पर्य यह है कि शिवज्ञान प्राप्त करने के पूर्व उसमें विश्वास करना आवश्यक है। किन्तु आगमिक कथनों की सत्यता का ज्ञान यदि शिवज्ञान प्राप्ति के पश्चात ही हो सकता है अर्थात् सामान्य ज्ञान के स्तर पर नहीं हो सकता, तो उनमें विश्वास किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है ? यह विश्वास उत्पन्न करने के लिए शैव-सिद्धान्त में आगम प्रमाण के बावजूद तर्क का प्रतिपादन किया गया है। सामान्य ज्ञान के स्तर पर आगमों की प्रामाणिकता तर्कों द्वारा जानी जा सकती है। यदि आगमिक कथनों की सत्यता तर्क द्वारा भी प्रमाणित होती है तो आगम प्रामाणिक हैं। अथवा दूसरे शब्दों में, आगमों की प्रामाणिकता में विश्वास किया जा सकता है तथा शैव-सिद्धान्त द्वारा निर्दिष्ट साधनाओं को संपादित कर शिवज्ञान प्राप्ति द्वारा आगम की प्रामाणिकता को स्वयं अनुभूत भी किया जा सकता है।

मीमांसक वेद की प्रामाणिकता को मानते हैं किन्तु आगम की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार वेद अपौरुषेय हैं अर्थात वेद का कोई प्रकाशक या कोई रचनाकार नहीं है। वेद का प्रकाशक कोई न होने के कारण वेद नित्य हैं तथा इसलिए प्रामाणिक हैं। आगम का चूंकि कोई प्रकाशक अथवा रचनाकार है, इसलिए आगम अप्रामाणिक हैं।

शैव-सिद्धान्ती आगमों की प्रामाणिकता प्रतिपादित करते हुए वेद को भी प्रामाणिक मानते हैं। वे वेद को नित्य मानते हैं किन्तु मीमांसकों के अर्थ में वेद को नित्य नहीं मानते। मीमांसकों के अनुसार वेद नित्य हैं क्योंकि शब्द नित्य है। शैव-सिद्धान्ती शब्द को नित्य नहीं मानते। उनके अनुसार शब्द की अनित्यता प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध है। आज जो कोई शब्द उच्चरित होता है वह दूसरे ही क्षणों में नष्ट हो जाता है अर्थात कल उसका अस्तित्व नहीं रह सकता। अतः शब्दों की नित्यता नहीं मानी जा सकती तथा इस अर्थ में वेद नित्य नहीं हैं। शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि वेद नित्य इसलिए कहे जाते हैं क्योंकि वे शिव के प्रकाशन हैं। शिव नित्य सत्ता है इसलिए शिव के प्रकाशन होने के कारण लाक्षणिक अर्थ में वेद को

नित्य कहा जाता है। शैव-सिद्धान्ती वेद और आगम में कोई विरोध नहीं मानते। उनके अनुसार दोनों ही ईश्वर के प्रकाशन हैं। वेद सामान्य हैं तथा आगम विशेष हैं। वेद सामान्य स्तर के लोगों के लिए प्रकाशित किये गये हैं तथा आगम विशेष लोगों के लिए अथवा उनके लिए प्रकाशित किये गये हैं जो शिव ज्ञान प्राप्त करने के लिये उपयुक्त हैं।

प्रामाण्य विचार—ज्ञान की प्रामाणिकता के सन्दर्भ में शैव-सिद्धान्ती स्वतः प्रामाण्यवादी हैं जिसके अनुसार प्रामाणिकता स्वयं ज्ञान में निहित होती है तथा अप्रामाणिकता वाह्य साधनों अथवा वाह्य कारणों पर निर्भर होती है। सांख्य दर्शन ज्ञान की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता दोनों को स्वतः मानता है। किन्तु यह मान्यता विरोधाभासी है। मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी हैं किन्तु वे ज्ञान को केवल अनुभूति के अर्थ में प्रामाणिक मानते हैं, स्मृति ज्ञान को यथार्थ ज्ञान नहीं मानते। मीमांसकों का यह मत उनके अपने ही मत का विरोध करता है। मीमांसक वेद को स्वयं प्रकाश अथवा स्वयं प्रामाणिक मानते हैं। शैव-सिद्धान्तियों के अनुसार वेदों द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान चूंकि शब्दों के माध्यम से स्मृति रूप में प्राप्त होता है अतः वेद भी स्मृति ज्ञान है। इस प्रकार मीमांसकों की यथार्थ ज्ञान की परिभाषा के अनुसार वेद को प्रामाणिक अथवा स्वतः प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। शैव-सिद्धान्त के अनुसार स्मृति ज्ञान भी प्रामाणिक है क्योंकि यह चित्-शक्ति के कारण होता है।

नैयायिक ज्ञान की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता दोनों को परतः अथवा वाह्य कारणों या दूसरे ज्ञान पर आधारित मानते हैं। किन्तु ज्ञान यदि स्वतः प्रामाणिक नहीं है तो दूसरे ज्ञान द्वारा उसकी प्रामाणिकता नहीं जानी जा सकती क्योंकि दूसरा ज्ञान अपनी प्रामाणिकता के लिए तीसरे पर निर्भर करेगा और तीसरा अपनी प्रामाणिकता के लिए चौथे पर निर्भर करेगा, इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। अतः शैव-सिद्धान्ती ज्ञान की प्रामाणिकता को स्वतः मानते हैं। उनके अनुसार दूसरे ज्ञान द्वारा जो जाना जाता है वह ज्ञान की अप्रामाणिकता है। शैव-सिद्धान्ती इस सन्दर्भ में कहते हैं कि चूंकि चित्-शक्ति ज्ञान के सभी साधनों यथा प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण में अन्तर्निहित है और ज्ञान की प्रामाणिकता चित्-शक्ति के कारण ही है अथवा ज्ञान की प्रामाणिकता को चिति या चेतना ही जानती है, ज्ञान की प्रामाणिकता स्वयं ज्ञान में ही निहित है अथवा स्वतः है।

भ्रम विचार—भ्रम के विषय में नैयायिकों के समान ही शैव-सिद्धान्ती अन्यथा ख्याति को मानते हैं। जिसके अनुसार भ्रम में ज्ञात होने वाला विषय भी वास्तविक अथवा सत्य होता है। अद्वैत-वेदान्त के समान वे यह नहीं मानते कि भ्रम में हमें असत्य वस्तु की प्रतीति होती है। अद्वैत-वेदान्ती भ्रम में प्रत्यक्ष होने वाली वस्तु को न तो

सत्य ही कहते हैं और न असत्य ही अपितु उसे अनिर्वचनीय कहते हैं। अपने भ्रम-सिद्धान्त के आधार पर ही वे जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं।

शैव-सिद्धान्त यथार्थवादी अथवा वस्तुवादी (realistic) दर्शन है। जिसके अनुसार जगत् सत्य है। इसलिए शैव-सिद्धान्ती नैयायिक, मीमांसक आदि वस्तुवादी दार्शनिकों के समान यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि भ्रम ज्ञान में भी जो वस्तु का प्रत्यक्ष होता है, वह वस्तु वास्तविक है। इस ज्ञान में दोष इतना ही है कि एक वास्तविक वस्तु की जगह हम दूसरी वास्तविक वस्तु का प्रत्यक्ष कर लेते हैं। यह दोनों वस्तुओं में व्याप्त समानता के कारण होता है। उदाहरणार्थ रस्सी में और सर्प में व्याप्त साम्य के कारण ही रस्सी में सर्प का भ्रम होता है। रस्सी और सर्प में व्याप्त समानता ही केवल प्रत्यक्ष हो पाती है, दोनों में व्याप्त असमानता अन्धेरे आदि के कारण नहीं दिख पाती। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जिस सर्प का हम प्रत्यक्ष करते हैं, वह सर्प वास्तविक नहीं है अथवा उसका अस्तित्व नहीं है। नैयायिकों के समान ही शैव-सिद्धान्ती सर्प का अन्यत्र कहीं अस्तित्व होना मानते हैं।

भ्रम-सिद्धान्त को लेकर काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त में मतभेद है। काश्मीर शैव दर्शन आभासवादी है, जिसके अनुसार सम्पूर्ण जगत् चिति-शक्ति अथवा शिव-चैतन्य की ही अभिव्यक्ति है। अतः काश्मीर शैव दार्शनिक भ्रम की व्याख्या भी इसी तत्त्व मीमांसीय मान्यता के आधार पर करते हैं। उनके अनुसार रज्जु-सर्प भ्रम में हम जिस सर्प का प्रत्यक्ष करते हैं वह हमारी चेतना की ही अभिव्यक्ति है। अतः आभास रूप में वह सर्प सत्य है अथवा आभास रूप में उसकी सत्ता है। अद्वैत-वेदान्ती मानते हैं कि रज्जु-सर्प भ्रम में आभासित होने वाला सर्प अविद्या अथवा अज्ञान के कारण है। अतः उसकी सत्ता वास्तविक नहीं है। शैव-सिद्धान्ती जगत् की सत्यता में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार जगत् की सत्यता स्पष्ट प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध है। भ्रमात्मक प्रत्यक्ष हमें कभी-कभी होता है तथा जब दोनों वस्तुओं का अलग-अलग प्रत्यक्ष हो जाता है तो भ्रम दूर हो जाता है। उदाहरण के लिए दूर से देखने पर किसी स्तंभ को व्यक्ति समझ लिया जा सकता है। किन्तु पास से देखने पर अथवा स्तंभ और व्यक्ति का अलग-अलग प्रत्यक्ष हो जाने पर भ्रम नहीं होता।

शैव-सिद्धान्त के समान मीमांसक भी जगत् की सत्यता में विश्वास करते हैं। अतः मीमांसक भी रज्जु-सर्प भ्रम में ज्ञात होने वाले सर्प को वास्तविक मानते हैं। उनके अनुसार रज्जु प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है तथा सर्प स्मृति का विषय है। रज्जु-सर्प में साम्य होने के कारण स्मृति ज्ञान के प्रभाववश रज्जु को हम सर्प समझते हैं। रामानुजाचार्य भी यथार्थवादी हैं अर्थात् जगत् की सत्यता में विश्वास करते हैं।

उनके पञ्चीकरण सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक वस्तु का अंश विद्यमान है। कहने का तात्पर्य यह है कि रज्जु में भी सर्प का अंश विद्यमान है तथा वही अंश प्रत्यक्ष होता है।

भ्रम-सिद्धान्त के विषय में विभिन्नता वास्तव में तत्त्वमीमांसीय विभिन्नता के कारण है। आभासवादी (Idealist) जगत् को आभास रूप अथवा मिथ्या रूप या प्रतीति मात्र मानते हैं तथा इसकी संभावना भ्रम-सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा दिखाते हैं। वस्तुवादी (realist) जगत् की सत्यता को मानते हैं इसलिए भ्रम-सिद्धान्त में प्रतीतिवाद की संभावना को स्वीकार नहीं करते।

ईश्वर के अस्तित्व के लिये तर्क

भारतीय दार्शनिक परंपरा में पाश्चात्य दार्शनिक यथा काण्ट और ह्यूम के समान यह माना गया है कि हमारा आनुभविक ज्ञान सीमित है। आनुभविक ज्ञान अथवा इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा वास्तविकता (reality) अथवा परम सत्य का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। काण्ट और ह्यूम आनुभविक ज्ञान की सीमा के परे बढ़ने की नहीं सोचते किन्तु भारतीय परंपरा के दार्शनिक इस सीमा के परे उच्चतर ज्ञान प्राप्त कर परम सत्य के साक्षात्कार करने की बात करते हैं। भारतीय परंपरा में, विशेषकर आगमिक परंपरा में, उच्चतर ज्ञान द्वारा ही परम सत्य के विषय में विवेचना की गई है। शैव-सिद्धान्ती शिव के विषय में आनुभविक ज्ञान की सीमा को मानते हुए कहते हैं कि शिव इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता क्योंकि शिव आध्यात्मिक सत्ता है। शिव का कोई रूप अथवा आकार नहीं है जिससे वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय बन सके। शिव का अस्तित्व अनुमान द्वारा जाना जा सकता है, अथवा तर्कों द्वरा शिव का अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु तर्कों द्वारा केवल इतना ही जाना जा सकता है कि शिव का अस्तित्व है। शिव का ज्ञान नहीं किया जा सकता अथवा शिव के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। शिव का स्वरूप तो उच्चतर ज्ञान द्वारा ही जाना जा सकता है। दूसरे शब्दों में, सत्य की अनुभूति अथवा सत्य का साक्षात्कार शिव-ज्ञान प्राप्त करके ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में शिव के विषय में जो कुछ भी ज्ञात हो सकता है, वह आगमों के माध्यम से ही ज्ञात हो सकता है। आगम चूँकि उच्चतर ज्ञान अथवा शिव-ज्ञान-प्राप्त योगियों की अनुभूतियाँ हैं; इसलिए प्रामाणिक अथवा विश्वसनीय हैं।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि आगम प्रमाण द्वारा शिव का ज्ञान होता है अथवा आगमों में शिव के स्वरूप के विषय में कथन है तो फिर शैव-सिद्धान्ती शिव के अस्तित्व की सिद्धि के लिए तर्कों की अपेक्षा क्यों करते हैं ? यदि आगम प्रामाणिक हैं तो तर्कों की क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि आगमों में शिव के विषय में कथन है, फिर भी तर्कों की आवश्यकता है। तर्कों की आवश्यकता इसलिए नहीं है कि आगम की प्रामाणिकता संदिग्ध है। किन्तु तर्क इसलिए आवश्यक हैं क्योंकि ये आगमों का समर्थन करते हैं। जहाँ तक आगमों की प्रामाणिकता अथवा विश्वसनीयता का प्रश्न है, वह शिव-ज्ञान प्राप्त करके ही जाना जा सकता है। दूसरे शब्दों में, आगमों के कथन को उच्चतर ज्ञान प्राप्त कर स्वयं की अनुभूतियों के

आधार पर ही सत्यापित किया जा सकता है। किन्तु सामान्य ज्ञान के स्तर पर यदि आगमिक कथन तर्कों द्वारा भी समर्थित होते हैं तो वे मान्य होंगे। इसलिए शैव-सिद्धान्ती शिव की सत्ता-सिद्धि के लिए तर्कों का प्रयोग करते हैं तथा शिव का स्वरूप निरूपण आगमों के आधार पर करते हैं। शैव-सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत तर्कों को शिवज्ञान-सिद्धियार के आधार पर दिया जा रहा है। इन तर्कों को सृष्टि मूलक तर्क (cosmological proof), प्रयोजन मूलक तर्क (teleological proof) तथा नैतिक तर्क (moral proof) कहा जाता है।

सृष्टि मूलक तर्क :—'जगत् पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग से द्योतित होने वाले पदार्थों से निर्मित होने के कारण सृष्टि, स्थिति तथा संहार का विषय है। अतः जगत् को अस्तित्व में लाने वाला अथवा कोई सृष्टिकर्ता होना चाहिए। यह ईश्वर है।'

इस तर्क द्वारा शैव-सिद्धान्ती सर्वप्रथम यह सिद्ध करते हैं कि जगत् कार्य रूप है। जगत् कार्य-रूप है क्योंकि यह सावयव है अथवा पदार्थ समूहों से युक्त है। जगत् परिवर्तनों का विषय है अथवा सृष्टि, स्थिति तथा संहार का विषय है क्योंकि जिन पदार्थ समूहों से जगत् युक्त है वे सृष्टि स्थिति तथा संहार के विषय हैं। दूसरे शब्दों में, संसार की प्रत्येक वस्तु जन्म लेती है और विनष्ट होती है। यदि जगत् की वस्तुएँ उत्पत्ति-विनाशशील हैं, तो इससे यह ध्वनित होता है कि जगत् भी उत्पत्ति-विनाशशील है। इस प्रकार कार्य रूप होने से जगत् ऐसे कारण की ओर संकेत करता है जो इन परिवर्तनों को करने में सक्षम हो। चूँकि प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य होता है, जैसे घट कार्य है तो उसका कारण कुम्भकार है, इसलिए यदि जगत् कार्य रूप है तो उसका कारण भी अवश्य होना चाहिए। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि घट भाग (part) है तथा जगत् सम्पूर्ण (whole) है, फिर क्या भाग (घट) के आधार पर सम्पूर्ण (जगत्) के कर्ता का अनुमान किया जा सकता है? क्या यहाँ यह तार्किक दोष नहीं होगा कि जो बात भाग (part) के विषय में सत्य है वही बात सम्पूर्ण (whole) के विषय में भी मान ली जा रही है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यदि घट के सादृश्य के आधार पर जगत् के कर्ता रूप में कुम्भकार जैसे ससीम कारण का अनुमान किया जाय तो यहाँ तार्किक दोष होगा, क्योंकि जगत् घट जैसा लघु कार्य नहीं है अपितु एक विशाल और अद्भुत रचना है, किन्तु जगत् का कारण असीम ईश्वर को मानने में यह दोष नहीं होगा।

शैव-सिद्धान्ती अपनी तार्किक प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि जगत् अपनी परिवर्तनशीलता द्वारा शक्ति का संकेत करता है। बिना शक्ति के सृष्टि, स्थिति तथा संहार जैसी प्रक्रिया संभव नहीं है। अतः जगत् कारण रूप शक्तिमान

का संकेत करता है। अथवा दूसरे शब्दों में, जगत् की परिवर्तनशीलता में प्रयुक्त शक्ति का धारक रूप शक्तिमान् आवश्यक हैं। यह शक्तिमान् जड़ पदार्थ अथवा माया नहीं हो सकती क्योंकि अचेतन में शक्ति आरोपित नहीं की जा सकती। आत्मा चेतन है, किन्तु अनादि आणव से ग्रस्त होने के कारण उसकी शक्तियाँ सीमित हैं; अतः जगत् का कारण-रूप शक्तिमान् आत्मा नहीं हो सकता। इस प्रकार के शक्तिमान् का वर्णन श्रुतियों में ईश्वर के रूप में किया गया है। अतः जगत् का कारण ईश्वर है, अथवा दूसरे शब्दों में, इस प्रकार ईश्वर की सत्ता सिद्ध है।

जगत् को कार्य मानकर कारण-रूप ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने में शैव-सिद्धान्ती जगत् की सृष्टि और प्रलय मानते हैं। किन्तु चार्वाक और पूर्वमीमांसा दर्शनों में जगत् की सृष्टि और प्रलय होना नहीं माना गया है। अतः चार्वाक और पूर्वमीमांसा द्वारा जगत् की सृष्टि और प्रलय को न मानने के कारणों अथवा उनके द्वारा प्रस्तुत आक्षेपों का शैव-सिद्धान्त की दृष्टि से समाधान आवश्यक है।

चार्वाक दर्शन प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान को प्रमाण नहीं मानता। अतः अनुमान द्वारा ज्ञात होने वाले विषय में चार्वाक विश्वास नहीं करता। चार्वाक के अनुसार चूँकि जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं है अतः अमान्य है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय को न मानने में चार्वाक भी वस्तुतः अनुमान का ही प्रयोग करता है। यदि चार्वाक जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय का प्रत्यक्ष नहीं करता तो वह जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय के होने या न होने दोनों के विषय में कुछ नहीं कह सकता। चार्वाक यह कैसे जानता है कि जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय नहीं होता, यदि वह अनुमान का प्रयोग नहीं करता? जगत् की सृष्टि या प्रलय न होने को चार्वाक प्रत्यक्ष द्वारा नहीं जान सकता क्योंकि यह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अनुमान का प्रयोग चार्वाक नहीं कर सकता क्योंकि अनुमान को वह नही मानता।

मीमांसक जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय नही मानते। उनके अनुसार सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय नहीं देखा जाता। जगत् का आंशिक प्रलय ही देखा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जगत् के भागों अथवा जागतिक पदार्थों की सृष्टि और प्रलय के आधार पर सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय नहीं माना जा सकता। इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहेंगे कि यद्यपि सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय नहीं देखा जाता किन्तु आंशिक प्रलय के आधार पर सम्पूर्ण जगत् का प्रलय माना जा सकता है। हम सभी व्यक्तियों को मरते नहीं देखते हैं (कम से कम भविष्य की बात नहीं कर सकते) किन्तु यह सार्वभौम सत्य के रूप में स्वीकार किया जाता है कि 'सभी मनुष्य मरणशील हैं।' हम मनुष्य में मनुष्यत्व विशेष के आधार पर अथवा

सामान्य लक्षणा प्रत्यक्ष के आधार पर यह जानते हैं कि चूँकि मनुष्यत्व धर्म मरणशीलता का द्योतक है, अतः सभी मनुष्यों में यह सामान्य धर्म होने से सभी मनुष्य मरणशील हैं। इसी आधार पर तर्क किया जा सकता है कि चूँकि सभी पदार्थ, जिनसे जगत् निर्मित है अथवा जगत् जिनका समूहपुंज है, उनमें सृष्टि, स्थिति तथा संहार ये सामान्यधर्म हैं, अतः जगत् का भी ये सामान्य धर्म हुए। इस प्रकार इस आधार पर जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय माना जा सकता है।

जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय मान लेने पर यह प्रश्न उठता है कि इसके कारण रूप में ईश्वर को क्यों माना जाय?[1] स्वभाववादी चार्वाक जगत् के परिवर्तनों के मूल में ईश्वर को आवश्यक नहीं मानते। न्याय-वैशेषिक ईश्वर को मानते हैं किन्तु उनके अनुसार ईश्वर निमित्त मात्र है। परमाणु और अदृष्ट ही सृष्टि के मूल कारण हैं। सांख्य दर्शन बिना ईश्वर के ही प्रकृति के परिणाम स्वरूप जगत् की सृष्टि की व्याख्या करता है।

शैव-सिद्धान्ती जगत् के स्रष्टा रूप ईश्वर की मान्यता पर बल देते हुए चार्वाक, न्याय-वैशेषिक, सांख्य आदि के आक्षेपों का उत्तर देते हैं। चार्वाक के अनुसार पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि के तत्त्वों द्वारा ही सारा परिवर्तन स्वयमेव हो जाता है। इन परिवर्तनों को कराने के लिए ईश्वर की मान्यता अनावश्यक है। किन्तु शैव-सिद्धान्त के अनुसार परिवर्तन तत्त्वों द्वारा स्वभावतः मानने पर सृष्टि में व्याप्त विभिन्नता तथा इसके बावजूद सृष्टि में जो तारतम्य देखा जाता है, उसकी व्याख्या बिना चेतन कर्ता रूप ईश्वर को माने नहीं की जा सकती। यह देखा जाता है कि कहीं जल शीतल है तो कहीं गर्म, कहीं हवा चलती है तो कहीं नहीं। यदि परिवर्तन तत्त्व का स्वभाव है तो यह विभिन्नता नहीं देखी जा सकती क्योंकि तत्त्व अचेतन है। अचेतन होने के कारण उनके स्वाभाविक कार्य समान हो सकते हैं, विभिन्न अथवा परिवर्तनशील नहीं। ये विभिन्नतायें चेतन कर्ता द्वारा ही संभव हो सकती हैं।

१—शैव-सिद्धान्ती एक दूसरे तर्क द्वारा यह कहते हैं कि प्रलय की अवस्था में केवल ईश्वर ही प्रलय की प्रक्रिया से अप्रभावित रहता है, अतः ईश्वर ही प्रलय के पश्चात पुनः सृष्टि कर सकता है। आत्मा प्रलय काल में शरीर से रहित तथा आणवग्रस्त रहता है, अतः वह सृष्टि नहीं कर सकता। जड पदार्थों का प्रलय में अभाव रहता है। सृष्टि के तत्त्व पृथ्वी, जल आदि अपने उपादान कारण रूप माया में विलीन हो जाते हैं और माया अचेतन है। माया बिना ईश्वर की शक्ति द्वारा संचालित हुए सृष्टि नहीं कर सकती। अतः ईश्वर ही इन प्रक्रियाओं से अप्रभावित रहने के कारण पुनः सृष्टि करने में समर्थ हैं।

न्याय-वैशेषिक द्वारा परमाणुओं और अदृष्ट को सृष्टि का मूल कारण मानने पर शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि ईश्वर के सक्रिय हस्तक्षेप के विना परमाणु सक्रिय नहीं हो सकते अथवा परमाणुओं का संयोग नहीं हो सकता। विना ईश्वर के सांख्य द्वारा प्रकृति परिणाम के फलस्वरूप सृष्टि की आलोचना में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि विना चेतन ईश्वर के हस्तक्षेप किये प्रकृति और पुरुष का संयोग नही हो सकता। प्रकृति अचेतन है तथा पुरुष निष्क्रिय एवं उदासीन है। प्रकृति पहल नही कर सकती क्योंकि अचेतन है। पुरुष संयोग चाहेगा ही नहीं क्योंकि वह उदासीन है। अतः इनके संयोग के लिए ईश्वर आवश्यक है।[1]

इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि शैव-सिद्धान्ती ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने में आधार रूप जगत् की सत्यता मान लेते हैं। किन्तु जगत् की सत्यता असंदिग्ध नहीं है। अतः संदिग्ध आधार से असंदिग्ध ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि जगत् सत्य है तो इसके आधार पर अनुमानित ईश्वर भी सत्य होगा। किन्तु यदि जगत् असत्य है तो इसके आधार पर अनुमानित ईश्वर भी असत्य होगा। अतः जगत् की सत्यता के लिए शैव-सिद्धान्त द्वारा दिये गये तर्कों की विवेचना भी इस सन्दर्भ में अपेक्षित है।

शैव-सिद्धान्त के अनुसार जगत् की सत्यता स्पष्ट प्रत्यक्ष (Direct perception) से प्रमाणित है। किन्तु यहाँ आक्षेप हो सकता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण स्वयं असंदिग्ध नहीं है क्योंकि भ्रमजन्य ज्ञान भी प्रत्यक्ष द्वारा ही होता है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा जगत् की सत्यता भी संदिग्ध है और फिर संदिग्ध सत्यतावाले जगत् के आधार पर अनुमानित ईश्वर की सत्ता असंदिग्ध नहीं हो सकती। इस समस्या का समुचित समाधान 'शिवज्ञान सिद्धि' में किया गया है। इसके अनुसार प्रत्यक्ष की असंदिग्धता पर प्रश्न इसलिए होता है क्योंकि कभी-कभी वस्तु को हम उसके वास्तविक रूप में न देखकर कुछ अन्यथा अनुभव कर लेते हैं। प्रत्यक्ष द्वारा प्रस्तुत दो विकल्पों में से एक की जगह दूसरे को गलती से मान लिया जाता हैं, जैसे दूर से देखी गई किसी वस्तु के विषय में दो विकल्प उठ सकते हैं कि वस्तु कोई व्यक्ति है या स्तम्भ। यदि स्तम्भ को गलती से व्यक्ति प्रत्यक्ष कर लिया जाय अथवा व्यक्ति को गलती से स्तम्भ प्रत्यक्ष कर लिया जाय तो यह हमारा भ्रमजन्य प्रत्यक्ष होगा। किन्तु इस प्रकार का प्रत्यक्ष कभी-कभी ही होता है। हम अपने स्पष्ट प्रत्यक्ष में वस्तु का वास्तविक प्रत्यक्ष ही करते हैं। उसी प्रकार जगत् की सत्यता हमारे स्पष्ट

१—ईश्वर को कारण मानने में अनेक प्रश्न विभिन्न दर्शनों में उठाये गये हैं। इन प्रश्नों पर विचार 'कारणता' अध्याय के अन्तर्गत किया गया है।

प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध है। अतः जगत् के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध की जा सकती है।

जगत् की सत्यता के सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि शैव-सिद्धान्ती अद्वैत-वेदान्त में मान्य जगत् के ब्रह्म पर अध्यारोपित होने की संभावना को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार जिस प्रकार रस्सी को भ्रम में सर्प समझ लिया जाता है, उस प्रकार ब्रह्म को जगत् नहीं समझा जा सकता है। रस्सी और सर्प में स्वरूप सम्बन्धी बहुत कुछ साम्य है। अतः रस्सी को गलती से सर्प समझा जा सकता है किन्तु ब्रह्म और जगत् में इस प्रकार की समानता नहीं हो सकती। ब्रह्म चित-रूप है तथा जगत् अचेतन है। रज्जु-सर्प भ्रम में भ्रम का आधार रज्जु और सर्प के भौतिक आकार की समानता है। किन्तु ब्रह्म और जगत् में इस प्रकार के आधार का सर्वथा अभाव है। अतः शैव-सिद्धान्त के अनुसार जगत् को ब्रह्म पर अध्यारोपित मात्र मानने का कोई आधार ही नहीं बनता जिससे जगत् को असत्य अथवा मिथ्या माना जाय। पुनः जगत् की असत्यता के लिए कोई प्रमाण भी नहीं दिया जा सकता। यदि जगत् की असत्यता के लिए प्रयुक्त प्रमाण वैध है तो भी इससे जगत् की असत्यता को सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह प्रमाण भी अपने अस्तित्व की दृष्टि से जगत् का एक भाग होगा और यह नहीं कहा जा सकता कि जगत् का एक भाग सत्य होने पर भी सम्पूर्ण जगत् असत्य है। यदि जगत् की असत्यता के लिए प्रयुक्त प्रमाण अवैध है तो अवैध प्रमाण द्वारा जगत् की असत्यता सिद्ध नहीं की जा सकती।

२. **प्रयोजनमूलक तर्क** :—आत्माओं को शरीर से युक्त करने के लिए ईश्वर आवश्यक है। आत्माओं को मल से (जिनसे उनका वास्तविक स्वरूप आच्छादित है) मुक्ति पाने के लिए शरीर की अपेक्षा होती है। शरीरीकरण का यह कार्य न तो जड़ पदार्थ द्वारा और न असहाय आत्मा द्वारा ही संपादित हो सकता है। इस कार्य को संपादित करने के लिए ईश्वर आवश्यक है।

शैव-सिद्धान्त की मान्यताओं के अनुसार प्रलय की अवस्था के बाद पुनः सृष्टि में अवतीर्ण होकर कर्म करने के लिए आत्माओं को शरीर की अपेक्षा रहती है क्योंकि चेतना रूप आत्मा बिना उपयुक्त शरीर धारण के अपनी मुक्ति के लिए प्रयास अथवा कर्म नहीं कर सकता। वास्तविक स्वरूप पर आच्छादित मल को दूर करने के लिए मलपरिपाक की प्रक्रिया आवश्यक है जो जगत् में कर्मों द्वारा प्राप्त अनुभवों पर आश्रित है। किन्तु समस्या उपस्थित होती है आत्मा और शरीर के संयोग की। सीमित शक्तियों से युक्त होने के कारण आत्मा स्वयं शरीर धारण नहीं कर सकता और अचेतन अथवा जड़ पदार्थ भी आत्मा को शरीर से युक्त नहीं कर सकते। अतः

आत्मा का शरीरीकरण भी ईश्वर की सत्ता का एक अन्य प्रमाण है।

प्रयोजनमूलक तर्क द्वारा शैव-सिद्धान्ती यह दिखाते हैं कि सृष्टि के मूल में प्रयोजन निहित है। जगत् निष्प्रयोज्य नहीं है। शिव सृष्टि की प्रक्रिया द्वारा आत्माओं को शरीर प्रदान करता है ताकि वे मल से मुक्ति पाने के लिए प्रयास कर सकें। कहने का तात्पर्य यह कि सृष्टि करने में शिव का प्रयोजन आत्माओं की भलाई करना है।

३. नैतिक तर्क :—आत्माओं को उनके कर्मों के उचित फल प्रदान करने के लिए ईश्वर आवश्यक है। कर्म अचेतन हैं, अतः वे स्वयं संचालित नहीं हो सकते। सीमित और अमूर्त आत्मा भी स्वयं कर्मों का उचित फल प्राप्त नहीं कर सकते। केवल ईश्वर ही कर्मों के नियम को संचालित कर सकता है।

इस तर्क की व्याख्या करते हुए शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रलय की अवस्था में आत्मा असहाय हैं तथा कर्म अचेतन हैं। अतः अपने कर्मों के अनुसार शरीर ग्रहण करने के लिए अथवा अपने कर्मों का उचित फल प्राप्त करने के लिए आत्मा ईश्वर पर आश्रित है।

शैव-सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत इस तर्क पर आक्षेप मुख्यतया मीमांसकों द्वारा हो सकते हैं। जिनके अनुसार कर्मों का नियम स्वचालित है तथा इसके लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। इसके प्रत्युत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि अचेतन होने से कर्म आत्माओं के सुख तथा दुःख की अनुभूतियों के जनक नहीं हो सकते। कर्मों के उचित सुख-दुःख की अनुभूति प्रदान करने के लिए चेतन सत्ता की आवश्यकता अपरिहार्य है जो सर्वज्ञ हो ताकि उसे समस्त आत्माओं के अच्छे-बुरे कर्मों का ज्ञान हो। शैव-सिद्धान्त के अनुसार ऐसा चेतन, सर्वज्ञ सत्ता ईश्वर है, श्रुतियों में जिसका उल्लेख किया गया है। अतः नैतिक आधार पर भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध है।

नैतिक आधार पर दिये गये इस तर्क द्वारा शैव-सिद्धान्ती ईश्वर की सत्ता तो सिद्ध करते ही हैं, इसके साथ ही 'कर्म का नियम' तथा 'पुनर्जन्म' को भी मान लेते हैं तथा ईश्वर को ही 'कर्मों के नियम' का नियन्ता प्रतिपादित करते हैं।[1]

शैव-सिद्धान्त इन तर्कों द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध कर पाता है या नहीं, इस पर विचार करने से पूर्व मूलभूत प्रश्न यह उठता है कि क्या ईश्वर की सत्ता तर्कों द्वारा सिद्ध की जा सकती हैं? तर्कों की क्षमता ज्ञेय जगत् तक ही सीमित है। ज्ञेय जगत् के अन्दर आने वाली वस्तुओं को तर्कों द्वारा सिद्ध या असिद्ध किया जा

१. इस सम्बन्ध में उठने वाली समस्याओं का विवेचन 'अशुभ की समस्या' में किया गया है।

सकता है क्योंकि ज्ञेय जगत् की वस्तुओं का सत्यापित किया जा सकता है । किन्तु तर्कों द्वारा अज्ञेय जगत् (जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष की सीमा के परे है) की वस्तुओं को सिद्ध या असिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि उन्हें सामान्य ज्ञान द्वारा सत्यापित नहीं किया जा सकता । ईश्वर इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की सीमा के परे है । अतः तर्कों द्वारा ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता । तर्कों द्वारा केवल ईश्वर के अस्तित्व की सभावना ही सिद्ध की जा सकती है । यदि तर्कों द्वारा केवल संभावना ही सिद्ध की जा सकती है तो ईश्वर के अस्तित्व के विरोध में दिए गये तर्कों द्वारा इसकी संभावना से इन्कार भी किया जा सकता है, यह भी एक संभावना ही होगी । इससे स्पष्ट है कि शैव-सिद्धान्त तर्कों द्वारा ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं कर देता । वह केवल आगमों द्वारा कहे गये ईश्वर के अस्तित्व की सभावना को इन तर्कों द्वारा समर्थित करता है ।

अब प्रश्न उठता है कि शैव-सिद्धान्त इस कार्य में कितनी सफलता प्राप्त करता है, अथवा दूसरे शब्दों में, ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दिए गये शैव-सिद्धान्त के तर्क कितने सशक्त हैं ? शैव-सिद्धान्त के सत्तामूलक, प्रयोजनमूलक और नैतिकतामूलक तर्क पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तव में ये तर्क कुछ पूर्वमान्यताओं पर आधारित हैं । यद्यपि इन पूर्वमान्यताओं को पूर्वमान्यता के रूप में न स्वीकार करते हुए अथवा स्वयं इनको भी सिद्ध करने के लिए तर्कों का प्रयोग किया जाता है, किन्तु ये भी अन्ततः सभावना ही सिद्ध करते हैं । सत्तामूलक तर्क का आधार जगत् का कार्य रूप या सृष्ट मानना है । शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि जगत् कार्य रूप या सृष्ट है क्योंकि जगत् की वस्तुएँ उत्पत्ति और विनाश के विषय हैं । इसके विरोध में दिए गये मीमांसकों के तर्क भी उतने ही सशक्त हैं । वस्तुओं को (भाग को) देखकर जगत् (सम्पूर्ण) का अनुमान नहीं किया जा सकता । यह आवश्यक नहीं है कि जो 'कुछ' के लिए सत्य हो वही 'सब' (या सम्पूर्ण) के लिए भी सत्य है । वस्तुओं (भागों) की उत्पत्ति विनाश के लिए दिए गये स्वभाववादी तर्क भी उतने ही सशक्त हैं, क्योंकि ये भी अपने ढंग की संभावना ही बताते हैं । अतः जगत् को कार्य रूप या सृष्ट मानना सभावना ही है । इस सभावित आधार पर अनुमानित स्रष्टा रूप ईश्वर की सत्ता भी अन्ततः तार्किक दृष्टि से सभावना ही मानी जायेगी । ईश्वर को स्रष्टा रूप न मानकर सांख्य, वैशेषिक आदि द्वारा प्रकृति, परमाणु आदि से सृष्टि मानना भी तार्किक दृष्टि से उतना ही सभावित है ।

प्रयोजनमूलक तर्क द्वारा यह मान लिया जाता है कि सृष्टि में प्रयोजन है । यह भी अन्ततः तार्किक दृष्टि से पूर्वमान्यता ही है क्योंकि अनादि काल से चली आ रही सृष्टि में अथवा जगत् में कोई प्रयोजन हो ही, यह तर्कों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा

सकता । यह भी संभावना ही होगी । इसी प्रकार नैतिकतामूलक तर्क द्वारा यह मान लिया जाता है कि जगत् में शाश्वत नैतिक व्यवस्था है और इसका व्यवस्थापक ईश्वर है। जगत् में जो नैतिक व्यवस्था है, उसे ईश्वर्रय व्यवस्था या शाश्वत व्यवस्था कुछ लोग नहीं मानते । उनके अनुसार नैतिक व्यवस्था समाज की देन है, न कि ईश्वर की । यह संभावना भी उतनी ही सशक्त है जितनी नैतिक व्यवस्था को दैवी व्यवस्था मानने की । अतः नैतिक नियन्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता सिद्ध करना संभावना को ही सिद्ध करना है ।

अब प्रश्न उठता है कि शैव-सिद्धान्त द्वारा दिए गए तर्कों का क्या महत्त्व हैं ? यदि ये तर्क अन्ततः संभावना तक ही सीमित रह जाते हैं तो इनका कोई उपयोग नहीं होगा क्योंकि संभावनायें तो कुछ भी हो सकती हैं ? शैव-सिद्धान्त द्वारा प्रयुक्त तर्क संभावना को ही निर्दिष्ट करते हैं, किन्तु उनका महत्त्व है तथा वे आवश्यक हैं । ईश्वर को न मानने वाले दर्शन अपने तर्कों द्वारा ईश्वर की सत्ता को न मानने की सम्भावना निर्देश करते हैं । शैव-सिद्धान्त के तर्क इतना तो काम करते ही हैं कि वे यह दिखाते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व की संभावना भी उतनी ही सशक्त है । शैव-सिद्धान्त द्वारा दिए गये तर्क तब और महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं जब उनका प्रयोग आगम प्रमाण के समर्थन में किया जाता है । वास्तव में तर्कों द्वारा तो ईश्वर की सत्ता सिद्धि या असिद्धि की ही नहीं जा सकती । किन्तु उनके प्रयोग से संभावनाओं के निर्देशन द्वारा आगम प्रमाण का समर्थन किया जा सकता है । आगम प्रमाण यथार्थ है क्योंकि यह अनुभूतियों पर आधारित है तथा उच्चतर ज्ञान प्राप्त कर इसे सत्यापित किया जा सकता है । इस प्रकार आगम प्रमाण के सन्दर्भ में ये तर्क महत्त्वपूर्ण हैं और आगम प्रमाण का समर्थन करने में शैव-सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत ये तर्क अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं ।

शिव-शक्ति स्वरूप

काश्मीर शैव दर्शन के समान ही शैव-सिद्धान्त में शिव-शक्ति की अवधारणा है किन्तु शैव-सिद्धान्त में केवल शिव को ही न मान कर तीन शाश्वत तत्त्व पति, पशु और पाश माने गये हैं ।[1] इन तत्त्वों में शिव (पति) उत्कृष्टतम है । शिव सर्वव्यापी, शाश्वत, स्वतन्त्र[2], स्व-अस्तित्ववान्, तत्त्वातीत और शुद्ध चेतना स्वरूप है । तत्त्वतः यह सत्[3], निष्कलंक और शुद्ध है ।[4] शिव आत्माओं से श्रेष्ठतर है क्योंकि यह उन सीमितताओं से मुक्त है जिनसे आत्माएँ बद्ध हैं तथा आत्माओं का उद्धारक भी है । आत्मा इन्द्रियों की सहायता से ज्ञान प्राप्त करता है किन्तु शिव को ज्ञान के लिए किसी साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती ।[5] आत्मा का ज्ञान भ्रान्तिपूर्ण और अपूर्ण हो सकता है; शिव का ज्ञान पूर्ण है तथा अपनी शक्ति से सम्पूर्ण जगत् को जानता है । शिव तीसरे तत्त्व पाश या जगत् से परे है । पाश या माया केवल उपादान कारण है तथा जड़ है । यह स्वयं कुछ नहीं कर सकती; यह केवल साधन है । माया आत्माओं को मुक्ति प्राप्त करने के लिए आवश्यकता पड़ने पर शरीर और जगत् प्रस्तुत करती है, परन्तु अपने कार्यों के लिए शिव पर आश्रित है । इस प्रकार आत्मा और माया से श्रेष्ठ होने के कारण शिव सर्वोच्च है ।

शिव का स्वरूप विवेचन :–शिव अनुभवातीत सत्ता है । शैव-सिद्धान्त में इसे शब्द और विचार के परे कहा गया है, इसलिए यह किसी द्वारा ज्ञात नहीं हो सकता ।[6] कोई कल्पना या प्रतीक उसे व्यक्त नहीं कर सकती ।[7] भावना या विचार के परे होने से शिव मानव बुद्धि की पहुँच के बाहर है । शैव-सिद्धान्त अनुभव से ज्ञात वस्तु को असत्य मानता है क्योंकि ये बोधगम्य और अबोधगम्य दोनों होती हैं । इनका प्रत्यक्ष तब होता है जब ये माया के तत्त्वों में विकसित होती हैं । अपने प्रारम्भिक अथवा अविकसित अवस्था में इनका प्रत्यक्ष नहीं होता । इस अवस्था में

---

१. शैव-परिभाषा पृ० २८, एस० के एस० नं० ९०
२. वही, पृ० २९
३. तिरुवन्तियर १. १
४. तिरुवन्तियर १. १
५. शिवज्ञानसिद्धि ५
६. तिरुवन्तियर १. १
७. तिरुवन्तियर ९. ३

से अबोधगम्य होती हैं ।[१] यदि ईश्वर इन्द्रिय प्रत्यक्ष अथवा आनुभविक ज्ञान का विषय होता तो वह वैसे ही असत्य होता और परिणामस्वरूप नाशवान होता जैसे आनुभविक ज्ञान के विषय (घट आदि) । यदि ईश्वर अन्तिम रूप से किसी भी साधन द्वारा अज्ञेय होता, तब वह खरगोश की सींग की भाँति अनस्तित्ववान होता जो कभी ज्ञात नहीं हो सकता ।[२] इसलिए शैव-सिद्धान्त ईश्वर की आध्यात्मिक सत्ता मानता है ।

शिव ज्ञेय नहीं हो सकता परन्तु शैव-सिद्धान्त के अनुसार उसकी अनुभूति हो सकती है । यह आनुभविक ज्ञान के लिये अथवा पशुज्ञान के लिए अज्ञेय है, परन्तु दिव्यज्ञान अथवा शिवज्ञान के लिए ज्ञेय है । शिव की अनुभूति, जो उसके अनुग्रह द्वारा प्राप्त की जाती है, आत्मा को शिव के स्वरूप का सत्य ज्ञान कराती है ।[३] इस सम्बन्ध में शैव-सिद्धान्त का मायावादियों से मतभेद है । मायावादी ईश्वर को अपरिभाषेय मानते हैं क्योंकि वह आनुभविक न होने से ज्ञेय नहीं है और अनस्तित्ववान न होने से अज्ञेय भी नहीं कहा जा सकता ।[४] शैव-सिद्धान्त की मान्यता है कि शिव इन्द्रिय प्रदत्त बोध के लिए अज्ञेय है, परन्तु उच्चतर ज्ञान द्वारा बोधगम्य हो सकता है । आनुभविक ज्ञान द्वारा जो परिभाषेय है उसे जानने के लिए किसी साधन की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु जो किसी भी प्रकार से अपरिभाषेय है वह साधन द्वारा भी ज्ञात नहीं हो सकता ।[५] मायावादी मानते हैं कि ब्रह्म अविद्या के प्रभाव में ज्ञाता और ज्ञेय में विभाजित है और इस प्रकार साधन की सहायता से ज्ञात हो सकता है । परन्तु अविद्या और इस विभेद के दूर होने पर ब्रह्म शुद्ध चेतना है और इस प्रकार सत् अथवा असत् रूप में ज्ञात नहीं हो सकता । इसलिए ब्रह्म को बोधगम्य नहीं कहा जा सकता ।[६]

शैव-सिद्धान्त मायावाद के इन तर्कों को स्वीकार नहीं करता । यदि ब्रह्म को जानने का साधन है तो यह प्रमेय होगा और परिणामस्वरूप असत्य हो जायेगा । यदि उसे जानने का कोई साधन नहीं है तब इस प्रकार का ब्रह्म अस्तित्ववान नहीं हो सकता ।[७] इसलिए शैव-सिद्धान्त के अनुसार जो आनुभविक ज्ञान द्वारा प्राप्य है

१. शिवज्ञानबोधम् ६. १
२. शिवज्ञानबोधम टी० ६. १ पृ० २८०
३. तिरुवन्तियर १३. ३ और ९. १
४. शिवज्ञानबोधम् टी० ६. २, पृ० २०२
५. शिवज्ञानबोधम् टी० ६. २, पृ० ३०३
६. शिवज्ञानबोधम् टी० ६. २. १, पृ० ३०४
७. शिवज्ञानबोधम् टी० ६. २. १ पृ० ३०४-५

वह शिव का अनुग्रह है। शिव गुरु रूप में प्रगट होता है और आत्माओं को अपना स्वरूप ज्ञान कराता है। आनुभविक ज्ञान ईश्वर को समाहित नहीं कर सकता क्योंकि ज्ञान के सभी साधन असत्य और अचेतन हैं।[१] इसलिए शैव-सिद्धान्त के अनुसार शिव के अनुग्रह द्वारा प्राप्त अनुभूति तथा श्रुतियों के आधार पर शिव के स्वरूप का विवेचन किया जा सकता है।

वास्तव में शैव-सिद्धान्त धर्म-दर्शन है। इसलिए शिव में परमतत्त्व (Absolute) की विशेषताओं के साथ धार्मिक ईश्वर (Theistic God) की विशेषतायें भी हैं। शैव-सिद्धान्त परमतत्त्व की सामान्य विशेषताओं को काश्मीर शैव दर्शन के समान ही निर्दिष्ट करता है। इस सम्बन्ध में शैव-सिद्धान्त का जो विशिष्ट प्रतिपादन है, वह शिव को अनुग्रह स्वरूप अथवा प्रेम-स्वरूप मानना है जो धार्मिक ईश्वर (Theistic God) की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

काश्मीर-शैव-दर्शन के समान ही शैव-सिद्धान्त शिव को पूर्ण,[२] असीम,[३] सर्व-शक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, अपरिवर्त्य, सत्, चित्,[४] आनन्द,[५] ज्ञान स्वरूप[६] तथा आत्म-चेतना से युक्त वर्णित करता है। यहाँ यदि कुछ अन्तर होने के कारण उल्लेख-नीय है तो वह शिव में आत्म-चेतना, अपरिवर्त्यता तथा सर्वव्यापकता की व्याख्या है जिसे शैव-सिद्धान्त काश्मीर शैव-दर्शन से थोड़े भिन्न अर्थ में करता है।

सामान्यत: आत्म-चेतना के लिए द्वैत की आवश्यकता समझी जाती है (जैसाकि अद्वैत-वेदान्त में समझा गया है) परन्तु शैवागमों में यह आवश्यकता अपने अस्तित्व को अन्य से अलग करने के लिए समझी गयी है, न कि अपने अस्तित्व बोध के लिए। आत्म-चेतना के लिए आवश्यक परमतत्त्व में क्रिया का होना माना गया है। काश्मीर शैव दर्शन में इस क्रिया द्वारा ही परमतत्त्व में आत्म-चेतना की व्याख्या की गई है। शैव-सिद्धान्त में परमतत्त्व में क्रिया तो है ही, तात्त्विक द्वैत भी है। परमतत्त्व में अपने को जानने के लिए क्रिया है तथा अपने को अन्य से अलग करने के लिए पशु तथा पाश दो तत्त्व भी हैं।

काश्मीर शैव दर्शन में शिव को अपरिवर्त्य बताने के लिए उसे विश्वमय होने के

१. तिरुवरुट्पयन १. २
२. मृगेन्द्र आगम, पटल ३, श्लोक ३
३. शिवज्ञान सिद्धि, १. ४४
४. तिरुक्कलिरुप्पतियर, २७. २
५. तिरुक्कलिरुप्पतियर, (७७. १-२)
६. तिरुक्कलिरुप्पतियर, टी० २०, पृ० ३६

साथ विश्वोत्तीर्ण भी कहा जाता है। शिव स्वयं जगत् में आभासित होते हुए भी विश्व से परे है, इसलिए जगत् अथवा जगत् की सृष्टि से अपरिवर्त्य रहता है। शैव-सिद्धान्त से शिव की विश्वोत्तीर्णता तात्त्विक विभेद के कारण है। शिव जगत् तथा जगत् की सृष्टि से परे हैं। अपनी शक्ति द्वारा जगत् की सृष्टि करता है तथा शक्ति द्वारा जगत् में अन्तर्भूत होते हुए भी जगत् को व्याप्त कर इससे परे है। इसलिए किसी भी प्रकार का परिवर्तन शिव के स्वरूप में नहीं होता।

शिव सभी वस्तुओं को अपनी शक्ति द्वारा व्याप्त करता है। वह आत्माओं और जगत् में अन्तर्भूत माना गया है क्योंकि अपनी शक्ति द्वारा उनको परिचालित करता है। उसी समय शिव विश्वातीत भी है क्योंकि उन पर किये गए कार्यों द्वारा प्रभावित नहीं होता तथा स्वरूप में उनसे श्रेष्ठ है।[1] सभी सत्ताओं को व्याप्त करने में शिव को किसी प्रकार की गति नहीं करनी पड़ती है जिससे शिव में परिवर्तन की संभावना हो। शक्ति की अन्तर्यामिता के कारण ही सभी सत्तायें सक्रिय होती हैं इसलिए शिव को सभी सत्ताओं का सार भी कहा जाता है। शिव की व्यापकता का उदाहरण आकाश से दिया जाता है, परन्तु शिव आकाश के समान जड़ नहीं है। वह देश-कालातीत है। देश-काल की सीमायें उसके लिए नहीं है। वह देश-काल को भी व्याप्त करता है, इसलिए उसे सर्वव्यापी[2] कहा जाता है।

शैव-सिद्धान्त में शिव प्रत्येक प्रकार की अपूर्णता से स्वतन्त्र और शुद्ध है।[3] शिव की परमशुद्धता यह आपादित करती है कि वह दोषों और सीमितताओं के संदूषण से दूर होने के कारण जगत् से परे है।[4] उसका स्वरूप निश्चित विचारों के पदों में

---

१ शिवज्ञान सिद्धि, viii, ३८

विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दोनों एक साथ होने में कोई तार्किक व्याघात नहीं है क्योंकि जिस प्रकार आत्मा शरीर में है और शरीर से अतिरिक्त है, उसी प्रकार ईश्वर आत्माओं और जगत् में है भी और उनसे अलग भी है।

२. इस शब्द का अर्थ प्रत्येक जगह उपस्थित होना है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ईश्वर का हर जगह होना किस प्रकार संभव है क्योंकि साधारणतः वस्तुओं को देश में अवस्थित ही देखा जाता है और दो वस्तुयें एक ही समय में उसी (दो) स्थान को अधिकृत नहीं कर सकती ? शैव-सिद्धान्ती उत्तर में कहते है कि यह कथन केवल भौतिक पदार्थों पर ही लागू होता है ईश्वर पर नहीं। वह अपनी शक्ति द्वारा बिना देश में अवस्थित हुए प्रत्येक जगह रह सकता है।

३. तिरुक्कलिर्रुप्पतियर ४. १

४. तिरुक्कलिर्रुप्पतियर १. ३

व्यक्त नहीं किया जा सकता, न ही ससीम सत्ताओं के साथ उसकी तुलना ही की जा सकती है जो हमारे बोध-दायरे में आती हैं, क्योंकि ईश्वर का कोई भौतिक अस्तित्व नहीं है जो हमारे ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव का विषय हो सके। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि शैव-सिद्धान्त ईश्वर का अवतार नहीं मानता। उसके अनुसार सृष्टि का कर्ता स्वयं सृष्टि की प्रक्रियाओं का विषय नहीं हो सकता। यह मान्यता ईश्वर को सभी ससीम प्राणियों से ऊपर और परे अनुभवातीत सत्ता बना देती है। परन्तु इसके साथ ही ईश्वर की अन्तर्यामिता पर भी समान जोर दिया गया है। आत्माओं और पदार्थ से सर्वथा भिन्न (तात्त्विक दृष्टि से) होते हुए भी वह उनमें निवास करता कहा गया है। सभी भौतिक और मानसिक जगत् शिव का शरीर कहा गया है। ईश्वर सब है, परन्तु सब ईश्वर नहीं हो सकता।[1]

शिव के स्वरूप की उपर्युक्त सामान्य विशेषताओं के प्रतिपादन के पश्चात शैव-सिद्धान्त अपनी विशिष्ट मान्यता शिव के अनुग्रह स्वरूप अथवा प्रेम स्वरूप को प्रतिपादित करता है। किन्तु इस विशिष्टता के निरूपण के पूर्व कुछ प्रश्नों अथवा समस्याओं पर विचार कर लेना आवश्यक है जिसका सम्बन्ध शिव के प्रेमस्वरुप से हो सकता है।

शिव व्यक्तिरूप अथवा निर्वैयक्तिक-[2] शैव-सिद्धान्त शिव को व्यक्तिरूप ईश्वर (Personal God) मानता है तथा ईश्वर को निर्वैयक्तिक (Impersonal) मानने का विरोध करता है। इस सम्बन्ध में शैव-सिद्धान्त का अद्वैत वेदान्त से स्पष्ट मतभेद है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म निर्वैयक्तिक (Impersonal) हो सकता है क्योंकि उसमें आत्म-चेतना नहीं है। किन्तु शैव-शिद्धान्त में शिव को आत्म-चेतना है, इसलिए शिव ज्ञान का विषय न होने पर भी शिव को स्वयं का शिव रूप में ज्ञान होता है। अतः शिव को निर्वैयक्तिक (Impersonal) नहीं कहा जा सकता।

शैव-सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर की सत्तारूप सभी विशेषतायें उसके दिव्य व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। ईश्वर का स्वयं उससे पूर्णतया सम्बन्ध है। उसका सार स्वयं उसके लिए है और यह सब सम्बन्ध आन्तरिक है। दिव्य चेतना व्यक्तित्व रूप में ईश्वर को आबद्ध करती है जो ईश्वर में है और जिनका कारण भी ईश्वर है।

---

१. जिस प्रकार समुद्र स्वयं में जल और नमक निहित किए रहता है, उसी प्रकार ईश्वर स्वयं में आत्मा और पदार्थ सन्निहित किए रहता है।–शिवज्ञान सिद्धि सू० VII,३

२ Personal or Impersonal

इस प्रकार ईश्वर के लिए प्रयुक्त 'व्यक्ति रूप' यह व्यक्त करता है कि ईश्वर चेतन सत्ता है; यह कोई भौतिक शक्ति नहीं है।

व्यक्तित्व स्थूल और आध्यात्मिक दोनों सत्ताओं का संकेत करता है। शिव ही अकेले मूल सत्ता है जो सीमित नही है। वह सार्वभौम तत्त्व है जो प्रत्येक मानव आत्मा को व्याप्त करता है और जो उसी समय शुद्ध और इसका स्रोत भी है। शैव-सिद्धान्ती व्यक्तित्व को वैयक्तितता से अलग करते हैं। उनके अनुसार विभेद और सीमितता वैयक्तितता से परिणमित होता है न कि व्यक्तित्व से। व्यक्तित्व आत्मा के सार से सम्बन्धित होता है और वैयक्तितता इसके रूप से। व्यक्तित्व अचित् या जड़ अथवा अबौद्धिक पदार्थ के विरोध में आता है। ईश्वर कभी मनुष्य या पशु की तरह व्यक्तिवत् नहीं किया जा सकता। इस प्रकार निर्वैयक्तिक का स्पष्टत: अर्थ होगा अबौद्धिक, अचेतन और भौतिक। अतः इस अर्थ में भी ईश्वर निर्वैयक्तिक नहीं हो सकता।

यहाँ उल्लेखनीय है कि तिरुवन्तियर बिना किसी संशय के शिव को व्यक्तिरूप ईश्वर मानता है। अन् प्रत्यय के साथ शिवन् शब्द तमिल में पुलिंग और व्यक्तिरूप है।[१] शिव का नपुंसक रूप शिवम् शिव के रहस्यवादी अवस्था का संकेत करता है। ऐसा कहा जाता है कि जब आत्मा अशुद्धताओं से मुक्त हो जाता है तो यह देवतुल्य हो जाता है और यह देवत्व आरोपित रूप ही शिवम् कहा जाता है।[२] ऐसा कहने में भाषा मात्र पर न जा कर शिव के व्यक्तित्व विशेषकर गुणों को लिया जाता है जो उन पर आरोपित है। उसे स्वामी, मालिक आदि से प्रार्थना किया जाता है जो वास्तव में व्यक्तिगत सम्बन्ध को प्रमाणित करता है जो ईश्वर और आत्मा के बीच है। ईश्वर का तत्त्वातीत व्यक्ति के रूप में विचार शैव-सिद्धान्त में बहुधा संकेत किया गया है जब भक्त प्रेम द्वारा उससे अपनी एकता की बात करता है और तब भी जब वह मात्र आनुभविक ज्ञान द्वारा उनको जानने की असंभाव्यता का संकेत करता है।

शिव सगुण या निर्गुण :—सामान्यतः बुद्धि द्वारा ज्ञेय ईश्वर को सगुण तथा अज्ञेय को निर्गुण कहा जाता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार शिव निर्गुण है क्योंकि बुद्धि द्वारा ज्ञेय नहीं हो सकता। उसके अनुसार बुद्धि गुणोत्पादित होने से केवल गुणोत्पादित वस्तुओं को ही ग्रहण कर सकती है। शिव गुणातीत है इसलिए बुद्धि की पहुँच के बाहर है।

सगुण और निर्गुण का शाब्दिक अर्थ करने पर सगुण का तात्पर्य 'गुण के साथ' तथा निर्गुण का तात्पर्य 'बिना गुण के' होगा। परन्तु ईश्वर को सगुण मानने वाले

१. तिरुवन्तियर, २९, २
२. तिरुवन्तियर, १३, २

इसका अर्थ 'अच्छे गुणों के साथ' तथा 'बिना खराब गुणों के' करते हैं। शैव-सिद्धान्त की मान्यताओं के अनुसार यह व्याख्या उचित नहीं हो सकती क्योंकि ये दो शब्द एक ही चीज के अर्थ के लिए हैं। इस प्रकार निर्गुण का अर्थ 'बिना अच्छे गुणों के' हो सकता। लेकिन इसका अर्थ 'बिना खराब गुणों के' करना पक्षपातपूर्ण होगा। वास्तव में गुण शब्द कोई अच्छी या बुरी विशेषता अर्थ नहीं रखता। यह एक पारिभाषिक शब्द है जो सांख्य, वेदान्त, उपनिषद, गीता आदि में प्रयुक्त हुआ है। यह तीन गुण सत्त्व, रजस, तमस अर्थ रखता है जो प्रकृति या प्रधान के गुण हैं। इसके अनुसार सगुण का अर्थ हुआ सत्त्व, रजस् और तमस् से लिप्त स्थूल तत्त्व और निर्गुण का अर्थ हुआ इन तीन गुणों या स्थूल तात्त्विक आवरणों से मुक्त। शैव-सिद्धान्त में शिव इन गुणों से परे है, इसलिए निर्गुण है।[1] ईश्वर को सगुण मानने वाले दार्शनिक अपने ईश्वर को सत्त्व गुण से लिप्त मानते हैं। शैव-सिद्धान्त के अनुसार उसका वास्तविक स्वरूप मानव बुद्धि की पहुँच के बाहर है। उसे किसी भी नाम से संबोधित किया जा सकता है जो प्रतीक मात्र होगा।

सगुण ईश्वर को स्वीकार कर हम कोई भी नाम प्रयोग कर सकते हैं और उपासना के लिए कोई भी रूप प्रतीक रूप में ले सकते हैं। परन्तु शैव-सिद्धान्त की यह मान्यता है कि ईश्वर मनुष्य जैसा नहीं है जो अज्ञान और पदार्थ से आवृत है। ईश्वर प्रकृति के गुणों से लिप्त मनुष्य जैसा पैदा नहीं हो सकता। ईश्वर अजन्मा है, इसलिए भी निर्गुण है। शैव-सिद्धान्ती सगुण ईश्वर को ईश्वर स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार सगुण ईश्वर केवल नाम का ईश्वर है, वास्तविकता में पशु या आत्मा है। इस सन्दर्भ में शैव-सिद्धान्त शिव और आत्मा में विभेद करता है। आत्मा भी स्वयं न तो उत्पन्न है और न ही मर सकता है। जो उत्पन्न है या जो मरता है वह माया के गुणों से निर्मित भौतिक शरीर है। यह भौतिक शरीर ही जन्म और मृत्यु के माध्यम से आत्मा को पदार्थ से जोड़ता है। इस प्रकार आत्मा जो सकल हैं, सगुण कहे जाते हैं। किन्तु ईश्वर और पदार्थ के बीच यह कड़ी सहायक नहीं होती, इसलिए भी ईश्वर निर्गुण हैं।

शिव सरूप अथवा अरूप :—शैव-सिद्धान्त में शिव न तो रूपी है, न अरूपी है और न ही रूपारूपी क्योंकि शिव चित् स्वरूप है न कि पदार्थ।[2] शैव-सिद्धान्त की

---

१. ईश्वर को निर्गुण कहने के लिए शैव-सिद्धान्त में 'मुक्कुरनिर्गुणम्' मुहाविरे का प्रयोग प्रायः किया गया है।

१. शिवज्ञान सिद्धियार ईश्वर को सरूप, अरूप और रूपारूप तीनों मानता है। वह योगियों और सिद्धों के समान इच्छानुसार कोई भी रूप ग्रहण कर सकता है।

मान्यता है कि सभी रूप केवल पदार्थ के होते हैं जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। ईश्वर कभी हमारी इन्द्रियों के ज्ञान का विषय नहीं हो सकता; इसलिए कोई भी रूप या शरीर ग्रहण नहीं कर सकता।

यदि कहा जाय कि ईश्वर शरीरी है तो सभी शरीरधारियों के समान उसे भी एक शरीर देने वाला होना चाहिये क्योंकि मनुष्य शरीरधारी है और उसे शरीर देने वाली एक सत्ता मानी जाती है। इस प्रकार ईश्वर को भी किसी बाध्य सत्ता से नियन्त्रित होना चाहिए या फिर मनुष्य को भी रूप बदलने जैसी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। परन्तु मनुष्य को इच्छानुसार रूप धारण की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। योगी भी शरीर परिवर्तन करते माने जाते हैं परन्तु योगियों और ईश्वर में पर्याप्त अन्तर है। योगी मल से आबद्ध आत्मा अर्थात् पशु है। वह ससीम है, ईश्वर असीम है। ईश्वर की चित् शक्ति के प्रभाव से ही वह रूप परिवर्तन में समर्थ होता है। मलाबद्ध आत्माओं के रूप मायोत्पादित हैं। शिव के पास अपने रूप के लिए शक्ति है। शक्ति कभी सीमित नहीं हो सकती। सभी रूप उत्पन्न और नष्ट होते हैं, परन्तु यह कथन शक्ति पर लागू नहीं होता। शक्ति शिव के समान ही शाश्वत है।

ईश्वर को अशरीरी कहना भी उचित नहीं है परन्तु वह षडध्वाओं से भी परे है।[1] विश्व में पायी जाने वाली सभी वस्तुयें या तो सरूप हैं या अरूप अथवा सरूप-अरूप दोनों हैं। एक वस्तु दूसरे का स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकती। आकाश के समान आकार विहीन वस्तुओं का रूप नहीं हो सकता और पृथ्वी जैसी साकार वस्तुयें रूपविहीन नहीं हो सकती। जो वस्तुयें सरूप और अरूप दोनों हैं उन्हें स्पष्टतया सरूप या अरूप नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार षडध्वाओं में से कोई भी वस्तु दूसरे का रूप ग्रहण नहीं कर सकती।[2] शिव को अशरीरी या अरूपी कहना भी उसे सीमित

परन्तु उसका रूप माया के उत्पादनों में निहित न होकर शक्ति पर आश्रित है। यद्यपि शिव मात्र अपनी इच्छा से कुछ भी कर सकता है परन्तु आत्माओं की भलाई अथवा उन्हें मोक्ष प्राप्त करने के लिए गुरु रूप या अन्य रूप ग्रहण करता है। वह अपने अनुग्रह से कोई भी रूप ग्रहण कर सकता है जो तात्त्विक न होकर शक्तिरूप होगा। —शिवज्ञान सिद्धियार १. ३८, १. ३९, १. ४१, १. ४५

१. शिवज्ञान सिद्धियार, १. ४२

२. श्रुतियों में षडध्वा (मन्त्र, पद, वर्ण, भुवन, तत्त्व और कला) को उसका रूप निर्माता कहा गया है। ईश्वर इन सभी अध्वाओं को व्याप्त करता है और इनसे परे भी है। वह शाश्वत है, इसलिए उनसे भिन्न प्रकट होता है) वह चेतन प्राणियों और जड़ वस्तुओं को संचालित करता है और इस प्रकार उन सभी में

करता है क्योंकि किसी वस्तु को एक गुण से विशेषित करना उसे अन्य से भिन्न करना अथवा उसे उससे सीमित करना है और ईश्वर किसी भी प्रकार सीमित नहीं किया जा सकता। इसलिए ईश्वर को किसी भी स्वरूप का नहीं कहा जा सकता।

वास्तव में ईश्वर आध्यात्मिक सत्ता है, इसलिए उसका कोई रूप हो भी नहीं सकता। शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि हमारी शरीर-संरचना हमारे कर्म का परिणाम है, इसलिए प्रकृति का उत्पादन है। परन्तु ईश्वर कर्म से ऊपर है, इसलिए उसका शरीर (रूप) प्रकृति का नहीं हो सकता। अतः वह शुद्ध रूप से आध्यात्मिक या ज्ञान रूप है। ईश्वर के पास बन्धनकारी तत्त्व यथा मूल मल, कर्म आदि नहीं है; उसका शरीर (रूप) हमारे शरीर के समान नहीं हो सकता। वह शक्तिमय, अनुग्रह रूप है।[1] यहाँ स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि यदि ईश्वर शुद्धतया तत्त्वातीत है और यदि मनुष्य उसे किसी भी तरह जान नहीं सकता या उसके साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता तो उसमें विश्वास या आस्था नहीं रखा जा सकता। ऐसी दशा में यदि आस्था हो भी तो उसका कोई उपयोग नहीं होगा।[2] इसलिए शैव-सिद्धान्ती शिव की अनुभूति होना मानते हैं। उनके अनुसार यह मानव मन से प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं है किन्तु दिव्य अनुग्रह से संभव हो सकता है।

शिव का अनुग्रह स्वरूप :—शिव के स्वरूप के विषय में जो कुछ बोधगम्य हो सकता है अथवा जिसकी विवेचना की जा सकती है, वह है शिव का अनुग्रह स्वरूप। मनुष्य अपनी सीमित बुद्धि से शिव के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझ सकता। उसे अपने इस प्रयास में निराशा ही मिलती है। ईश्वर के जिस स्वरूप की अनुभूति मनुष्य को होती है वह उसका अनुग्रह है। उसके सभी कार्य अनुग्रह है। उसकी सभी

प्रकट होता है। इन अध्वाओं के साथ उसकी तिरोधान शक्ति की समानता के कारण लाक्षणिक रूप से उन्हे उसका स्वरूप निर्माता कहा गया है।

१. 'मूलाद्यसम्भवाच्छाक्तम वपुर्नैतादृशं प्रभो।' मृगेन्द्र आगम पतिलक्षण परीक्षा प्रकरण ७।

२. सन्त अरुलनन्दी शिवाचार्य शिवज्ञान सिद्धि के सातवें सूत्र में कहते हैं "यदि ईश्वर अज्ञेय है तब उसका कोई उपयोग नहीं हो सकता; वह हमसे मिल नहीं सकता, न ही हम उसके साथ एकत्व स्थापित कर सकते हैं, वह हमारे लाभ के लिए कुछ भी संपादित नहीं कर सकता; उसका अस्तित्व ठीक आकाश कुसुम से तैयार किये गये माला के समान अथवा कछुए के बाल से निर्मित रस्सी के समान होगा।"

अभिव्यक्तियाँ उसके अनुग्रह की अभिव्यक्तियाँ हैं। वह अपने अनुग्रह का यह रूप आत्माओं को मुक्त करने के लिए अभिव्यक्त करता है।[१] यह अनुग्रह पहले बद्ध आत्माओं से छिपा रहता है। वे नहीं जानते कि उसका रूप विश्व के परे है। वे इस तथ्य से अनभिज्ञ रहते हैं कि वह जगत् का जीवन है और इसमें निवास करता है। इस अज्ञान के कारण वे उसे इस जगत् के रूपों में से एक नाम दे देते है।[२] किन्तु शिव आत्माओं को अपूर्व प्रेम करता है। अपने इस प्रेम के कारण वह नहीं चाहता कि आत्माएँ बन्धन में रहें। वह आत्माओं पर अनुग्रह करता है। उन्हें ज्ञानबोध कराता है। शिवानुभूति इस प्रकार उसके अनुग्रह से ही होती है; मनुष्य की सीमित ज्ञान शक्ति से नहीं।

शिव का अनुग्रह पंचकृत्यों के माध्यम से ही व्यक्ति को प्राप्त होता है।[3] इसलिए पंचकृत्यों के परिप्रेक्ष्य में ही शिव के अनुग्रह की विवेचना अभीष्ट होगी।

पंचकृत्य :—शिव का अनुग्रह पाँच रूपों में मनुष्य को प्राप्त होता है। आत्माओं के लिए ये उपहारस्वरूप हैं। ये हैं-सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह।[४] प्रथम चार कृत्यों की पराकाष्ठा पंचमकृत्य अनुग्रह में है।

सृष्टि द्वारा आत्मा को मायोत्पादित जगत् प्रदान किया जाता है जहाँ आध्यात्मिक विकास के लिए अपेक्षित सभी वस्तुयें उपलब्ध करायी जाती हैं। आत्मायें अपने मूल स्वरूप में दिव्य हैं परन्तु उनकी शक्तियाँ आणव से आवृत हैं। प्रथम कृत्य में शिव का उद्देश्य होता है आवरण को हटाना और उन्हें उनके मूल स्वरूप की अनुभूति करने में सहायता करना। अशुद्ध माया प्रदत्त भौतिक जगत् और शरीर, इन्द्रियों, मन और अन्य साधनों द्वारा आत्मा का अज्ञान आंशिक रूप से दूर किया जा सकता है। ये सभी वस्तुयें सृष्टि द्वारा प्रदान की जाती हैं।[५]

१. शिवज्ञान सिद्धियार, सु० १. ४६

२. शिवज्ञान सिद्धियार, सु० १. ४८

३. शैव परिभाषा (पृ० ३०) में पंचकृत्यों को शिव का तटस्थ लक्षण कहा गया है।

४. मृ० प्र० २ श्लो० ३

५. अपने पूर्व कर्मों द्वारा प्राप्त उपयुक्त शरीर से आत्मा सुख और दुःख का अनुभव करता है। इस प्रकार की अनुभूति हमें हमारे दोष का ज्ञान कराती है जिससे उन्हें छोड़ने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। सुख की अनुभूति कुछ अच्छे कर्मों का परिणाम होती है जिससे वैसे कर्म करने की इच्छा उत्पन्न होती है। विना अनुग्रह के सृष्टि नहीं होगी और विना सृष्टि के आत्मा आणव से लिपटा रहेगा।

शिव का दूसरा उपहार शरीर को पालने की शक्ति है। सृष्टि द्वारा जो कुछ प्राप्त रहता है उसे स्थिति द्वारा अस्तित्व में बनाये रखा जाता है। स्थिति की इस अवधि में आत्मा नवीन कार्य करता है और कष्ट तथा आनन्द अनुभव करता है। इसमें यह बहुत से अन्य आत्माओं के साथ जुड़ता है जो कर्म करने और अनुभव प्राप्त करने में संलग्न होते हैं। एक आत्मा का कर्म अन्य आत्माओं के कर्मों को प्रभावित करता है। इस प्रकार सृष्टि और स्थिति कृपा-कार्य कहे जाते हैं। इनसे प्रदत्त साधनों द्वारा आत्मा कर्म करता है और आणव के आवरण को दूर करने की शक्ति एकत्रित करता है।

कर्म द्वारा अनुभव प्राप्त कर आणव को दूर करने की शक्ति प्राप्त करने की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल है। यह कार्य शीघ्रता में नहीं हो जाता। इसके लिए एक ही शरीर पर्याप्त नहीं होती। इस जटिल प्रक्रिया द्वारा आत्मा का थक जाना भी स्वाभाविक ही है। ईश्वर आत्माओं को आराम देने के लिए अपना तृतीय कृत्य संहार संपादित करता है। इसके द्वारा आत्मा जन्म और मृत्यु के चक्र में पड़ता है। मृत्यु द्वारा उसे अल्पकालिक अवकाश मिलता है। पुनर्जन्म द्वारा वह अपने कर्मों के अनुसार दूसरी शरीर धारण करता है। इस प्रकार उसे हर बार एक अवसर और मिलता है।[1]

सांसारिक सुख और आनन्द का प्रलोभन पाश की उग्रता की समाप्ति के लिए आवश्यक है क्योंकि इसके आकर्षण के कारण ही तो आत्मा उन्हें अपनायेगा और कर्म में प्रवृत्त होगा। इसके लिए ईश्वर अपने चतुर्थ कृत्य निग्रह (तिरोधान) को संपादित करता है। यह उसकी तिरोधान शक्ति की अभिव्यक्ति है। इसके द्वारा वह वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को छिपा लेता है। सांसारिक वस्तुयें इतनी आनन्दप्रद और आकर्षक प्रस्तुत की जाती हैं कि वे आत्माओं को परम सुख देने वाली प्रतीत होती हैं। इसके द्वारा मल सक्रिय हो जाता है।[2]

आत्माओं का मोहभंग करने के लिए ईश्वर अपने पंचमकृत्य अनुग्रह का संपादन करता है। ईश्वर के अनुग्रह से आत्मा को वास्तविकता का बोध हो जाता है। वह आणव के आवरण को उतार फेंकने में समर्थ हो जाता है। जन्म और मृत्यु के कष्टप्रद और थकानपूर्ण चक्र में पर्याप्त यात्रा करने के पश्चात् वह समझ जाता है कि सांसारिक अच्छी और बुरी वस्तुयें समान रूप से व्यर्थ हैं। इस अवस्था में आने तक

---

१. वस्तुतः संहार कर्म को नष्ट करने के लिए है

–शिवज्ञानसिद्धियार सु० १. ६१

२. तिरोधान शक्ति अशुद्धताओं को दूर करने के प्रयास में उनसे सम्बद्ध होने के कारण लाक्षणिक अर्थ में मल कही जाती है–शिप्रकाशम्,२०

आत्मा का मल पूर्णतः पक जाता है। उसे अशुद्ध माया प्रदत्त साधनों की अपेक्षा नहीं रह जाती। परमशिव उस पर अनुग्रह करता है। अपने अनुग्रह से उसे अपने स्वरूप का बोध कराता है।

इस अवस्था में आत्माओं के अज्ञान को उपदेश द्वारा उन्हें दीक्षा देकर दूर किया जाता है। मल के दूर हो जाने पर सारी अपूर्णतायें और कष्ट दूर हो जाते हैं। बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर आत्मा शिव के साथ एकत्व स्थापित कर लेता है।

शिव पंचकृत्यों को अपनी उपस्थिति से संचालित करता है। इन कृत्यों का तात्पर्य आत्माओं को शुद्ध और मुक्त करना है। ये कृपा कार्य हैं। यह आत्माओं का अन्धकार से प्रकाश की ओर, बन्धन से स्वतन्त्रता की ओर और जीवरूपता से शिवता की ओर विकास है। ईश्वर का अनुग्रह स्वयं को ज्ञान, सौन्दर्य, शक्ति, शान्ति और आनन्द के रूप में प्राणियों के जगत् का निर्माण, पालन, विकास, लय और पुर्नविकास करने के लिए अभिव्यक्त करता है।

पंचकृत्यों का संपादन शिव आत्माओं के प्रति अपने प्रेम के कारण करता है। इसलिए शैव-सिद्धान्ती उसे प्रेम स्वरूप मानते हैं।[1] इस सन्दर्भ में शैव-सिद्धान्त की भावनाओं का संक्षिप्त अवलोकन अपेक्षित है।

शिव-प्रेम स्वरूप :--शैव-सिद्धान्ती सन्तों के गीतों में शिव के प्रेम स्वरूप का वर्णन मिलता है। शिव सन्तों को अथवा आत्माओं को तो प्रेम करता ही है वे स्वयं भी शिव से प्रेम करते हैं। तिरुमूलर के लिए ईश्वर न केवल आत्माओं को प्रेम ही करता है बल्कि उसका सार ही प्रेम है। जहाँ प्रेम है, वहीं ईश्वर है और जहाँ ईश्वर है, वहाँ प्रेम का होना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार ईश्वर और प्रेम विनिमेय पद हैं।[2]

शिव शुभ गुणों का ईश्वर है जिसमें दया और सहिष्णुता मुख्य हैं। वह पाप-पुण्य के द्वैत से अछूता तथा सभी दोषों से मुक्त है। उसका मन पूर्णतया आत्माओं की भलाई करने में लगा है।[3] इसलिए अपने भक्तों के लिए वह शहद से भी अधिक मधुर है।[4] कुन्तरर ईश्वर को पित्तर तक कह देते हैं अर्थात वह अपने भक्तों के प्रेम

१. तिरुमन्तिरम्, २७०
२. तिरुमन्तिरम २५१
३. 'शिव आत्माओं के अनुभव के लिए सृष्टि में अपना प्रेम प्रदर्शित करता है और भक्तों के पुकारने पर शिव उनकी आत्मा में प्रवेश करता है ?--तिरुमन्तिरम् २६३, २५८१ (पन्निरुतिरुवँ पेरून्तिरटु में प्रकाशित)
४. कम्पन्तर, १०१४

म पागल है ।[१] उसका प्रेम विशेषकर तब अभिव्यक्त होता है जब असीम कृपा से वह कर्मों के सागर में डूबते अपने भक्तों की सहायता करता है और उन्हें बन्धन से मुक्त करता है तथा अपनी एकता में लेता है ।[२] ईश्वर उनके हृदय को अपनी उपस्थिति से भर देता है जो प्रेम से उनका ध्यान करते हैं ।[३] वह भक्त के हृदय में प्रवेश करता और निवास करता कहा गया है ।[४] भक्त के मन को अपनी उपस्थिति से प्रकाशित करते हुए वह इसे अपना जैसा धारण करता है और उसकी बुद्धि में आन्तरिक प्रकाश जैसा बना रहता है ।[५]

अप्पर मनुष्य और प्रकृति में प्रत्येक पूर्णता को ईश्वर का मानवता के प्रति प्रेम मानते हैं। वह ईश्वर को माता, पिता और सम्बन्धी का सम्बोधन देते हैं ।[६] ईश्वर को पिता माना जाता है क्योंकि वह आत्माओं की अच्छाई के लिये कार्य करता है। वह माता है क्योंकि स्नेह और प्रेम प्रदान करता है। वह शिक्षक है क्योंकि अज्ञान को दूर करता है। वह सम्बन्धी है क्योंकि विना प्राप्त करने की इच्छा के देता है। वह सुन्दर स्त्री है क्योंकि वह सभी भोग्य सुख प्रदान करता है।

जगत् में ज्ञात सर्वोच्च प्रेम माँ का है। इस प्रकार ईश्वर का प्रेम स्वभावतः पूर्ण माँ जैसा माना जाता है। एक माँ कभी बच्चे को नापसन्द या उससे घृणा कर सकती है परन्तु ईश्वर किसी से भी घृणा नहीं करता, यहाँ तक कि एक अत्यन्त अपराधी से भी। उसका प्रेम उतना ही निन्दक के लिये है जितना प्रशंसक के लिये। इसलिये उसका प्रेम दयापूर्ण प्रेम कहा गया है जो एक माँ के प्रेम से भी कीमती है ।[७]

शिव की सारी क्रिया उसके प्रेम द्वारा प्रेरित है। उसका ऐसा कोई कार्य नहीं जो इस प्रेम को व्यक्त न करता हो। वह अपने भक्तों को प्रेम करता है और उन्हें अपने अनुग्रह से शासित करता है ।[८] वह आत्माओं का प्रेमी है ।[९] उसे जो पूर्णरूपेण प्यार

---

१. कम्पन्तर, ८२१
२. कुन्तरर, २
३. कुन्तरर, २२
४. कुन्तरर' २९३
५. कुन्तरर, ११२
६. अप्पर, २४३५
७. मणिक्कवासगर, १. ६१
८. मणिक्कवासगर, ३२-४
९. मणिक्कवासगर, १.१३

करता है, उनके लिये वह स्वयं प्रेम है।[१] मणिक्कवासगर ईश्वर के प्रेम को दया और अनुग्रह से चित्रित करते हैं। ईश्वर दया का सागर है।[२] अपने भक्तों के आध्यात्मिक जीवन को वह दया और अनुग्रह से पालता है।

यहाँ उल्लेखनीय यह है कि शैव-सिद्धान्त कष्ट अथवा दुःख को भी शिव का अनुग्रह ही मानता है। यह शिव के प्रेम स्वरूप के विरुद्ध नहीं है। दुःख यहाँ दण्ड कार्य है जो आत्माओं को सुधारने के लिये किया जाता है।

शिव के स्वरूप विवेचन के सम्बन्ध में एक सहज प्रश्न उठता है कि क्या शैव-सिद्धान्त का शिव त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) का शिव है क्योंकि त्रिमूर्ति में भी एक शिव है जो हिन्दू मान्यताओं का विषय है ? इसलिये शैव सिद्धान्त के शिव और त्रिमूर्ति के शिव का विभेद स्पष्ट करना आवश्यक होगा।

क्या शिव त्रिमूर्ति का शिव है:—शैव-सिद्धान्त का शिव त्रिमूर्ति का शिव नहीं है। यह ईश्वर का अति आध्यात्मिक रूप व्यक्त करता है। यह साम्प्रदायिक ईश्वर नहीं बल्कि सभी धर्मों का सार्वभौम ईश्वर है।[३] त्रिमूर्ति का शिव गुण रुद्र है जो तुरीया रुद्र (शैव-सिद्धान्त के शिव) से भिन्न है। शैव-सिद्धान्त में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के लघु देव माना गया है जो सर्वोच्च सत्ता शिव द्वारा जगत् के विभिन्न कार्यों यथा सृष्टि, पालन और संहार का संपादन करने के लिये नियत हैं। इन कार्यों के सम्पादन के लिये उन्हें शिव द्वारा शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

त्रिदेवों में संहारकर्ता देव रुद्र शिव के समीपस्थ माने जा सकते हैं क्योंकि उनका कृत्य जगत् और शरीरों का सदा लय करना है। इस प्रकार वह भौतिक वस्तुओं के अस्थायित्व के ज्ञान से सदा संसिक्त रहता है। अतः सर्वोच्च सत्ता शिव से अन्य देवों की अपेक्षा अधिक सम्बद्ध रहता है। इसलिये मोटे तौर पर इसका तादात्म्य स्थापन शिव से किया जा सकता है।

वेदों में सर्वोच्च सत्ता को बहुधा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के रूप में प्रकट होना या कार्य करना कहा गया है।[४] पुराणों में एक का अन्य दो पर स्वामित्व आरोपण

१. मणिक्कवासगर, ५.६९
२. मजिक्कवासगर, १०. ९
३. शिवज्ञान सिद्धियार—१
४. त्रिमूर्ति स्वयं परमशिव के प्रसर्ग हैं। ये कारणेश्वर कहे जाते हैं और शुद्ध विद्या तत्त्व के राज्य में शासन करते हैं। ये उन आत्माओं से अलग हैं जो अपनी तपस्या और पुण्य से स्रष्टा, पालक और संहारक के पद पर उन्नति कर गये हैं। ये कार्येश्वर कहे जाते हैं और इनका अधिकार जगत् निर्धारित होता है

मिलता है परन्तु यह मात्र उनके उस एक के प्रति प्रेम के कारण है। शैव-सिद्धान्त का शिव त्रिमूर्ति के देवों का भी देव है। यह सर्वोच्च ईश्वर, ईश्वरों का ईश्वर है।[१]

शिव के स्वरूप के विषय में एक और विचारणीय बात यह है कि क्या शिव की कल्पना किसी लिंग विशेष में की जा सकती है ?

क्या शिव का कोई लिंग विशष है:—शिव शब्द का प्रयोग तीनों लिंगों में किया जाता है। कुछ विद्वान् इसे पुरूष अर्थ में लेते हैं तो कुछ स्त्रीलिंग और कुछ लोग नपुसकलिंग में इसका प्रयोग अधिक श्रेयस्कर समझते है। संस्कृत विद्वान् 'शिवम्' शब्द को नपुंसकलिंग में नहीं मानते। उनके अनुसार यह मात्र एक विशेषण है जिसका अर्थ वे कृपालु, सदय आदि करते हैं। यह शब्द ऋग्वेद और अन्य वेदों तथा उपनिषदों में रुद्र, शंकर आदि शब्दों के प्रयोग में प्रयुक्त हुआ है और उस परम सत्ता का ही संकेत करता है।

तमिल भाषा में 'शिवम्' शब्द का प्रयोग स्पष्टतः शिव या शिवन् के नपुंसक रूप में किया गया है। परम का परा या परन् के रूप में ब्रह्मन् का ब्रह्मम् के रूप में प्रयोग किया गया है। यह सर्वोच्च सत्ता के वर्णन में एक लिंग से दूसरे में आंशिक परिवर्तन के लिये किया जाता है। ये सभी नाम स्त्रीलिंग में भी विना अर्थ परिवर्तन के लिए जा सकते हैं। हम चाहे शिव, शिवम् या शिवन् कहें, उसी सर्वोच्च सत्ता का अभिधान करते हैं। इन शब्दों का लिंग के रूप मे प्रयोग प्रतीक है। किसी लिंग की वरीयता में कोई महानतर महत्त्व निर्दिष्ट नहीं मिलता। सन्त मणिक्कवासगर ईश्वर को तीनों लिगों में मानते हैं और इस प्रकार के कथन तिरुवाचकम् और तेवारम् जैसे ग्रन्थों में अनेक बार कहे गये मिलते हैं।

यद्यपि शिव के सभी नाम तीनों लिंगों में विना अर्थ परिवर्तन के लिये जा सकते हैं, परन्तु कुछ लोग शिव को नपुंसकलिंग में मानना अधिक समीचीन समझते हैं। परन्तु देखा जाय तो 'पुरुष' और 'स्त्रीलिंग' अपने में 'नपुंसक' से अधिक भाव समाहित करता है। नपुसक कहने का अभिप्राय शिव को कामरहित (sexless) भी किया जा सकता है। इस तरह शिव को लिंगहीन भी कहा जा सकता है। इस सन्दर्भ में 'शिव-ज्ञानबोधम्' का प्रथम सूत्र मुहाविरा के रूप में प्रयुक्त होता है।[२] शिव को स्त्रीलिंग कहने

जिसमें ये कार्य करते हैं। कारणेश्वर अपने अधिकार शक्ति का प्रयोग सम्पूर्ण जगत् में करते हैं।—शिव तत्त्व विवेक, श्लोक ४२

१. तिरुवाचकम में शिव का त्रिमूर्ति से तादात्म्य निरूपण भी किया गया है। वह त्रिमूर्ति (त्रिविध) हो जाने पर भी एक बना रहता है।–तिरुवाचकम्, पृ० ७९

२. स्रीपुन्नपुंसक

में मातृत्व के उच्चतर भाव का दर्शन मिलता है। परन्तु शैव-सिद्धान्त का शिव इस भाव से भी श्रेष्ठतर है।[1] अतः शिव के लिये सभी सम्बोधन समान रूप से स्वीकार्य होंगे क्योंकि मातृत्व के साथ-साथ पितृत्व के भाव दर्शन भी शिव में मिलते हैं।

वास्तव में लिंग का प्रयोग शरीरी के लिये होता है परन्तु शिव शरीरी नहीं है। यह चित्स्वरूप है। इसलिये इस पर कोई लिंग आरोपित नहीं किया जा सकता।

शक्ति[2]

काश्मीर शैव दर्शन के समान ही शैव-सिद्धान्त शिव को शक्तिरूप मानता है। इस सम्बन्ध में काश्मीर शैव दर्शन और शैव-सिद्धान्त की मान्यताओं में साम्य ही मिलता है। शक्ति शिव का अविभाज्य मूलभूत भाग है। विना शक्ति के शिव अचिन्त्य है। शक्ति शिव के स्वरूप को अभिव्यक्त करती है। शक्ति द्वारा ही शिव का रूप निर्माण होता है।[3] शक्ति ईश्वर की गति है जिसके द्वारा ही ईश्वर अपने कृत्यों का प्रतिपादन करता है।[4] शक्ति की गतिशीलता के ही कारण ईश्वर के लिए सर्वशक्तिमत्ता का प्रयोग होता है। ईश्वर अपनी इसी शक्ति के कारण आत्मा और अचेतन तत्त्व पर कार्य कर सकता है। शक्ति बन्धन और मोक्ष दोनों का कारण है। शक्ति की मध्यस्थता से ही शिव एक ही समय में विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण होता है। शक्ति को साधन के रूप में प्रयोग करने से ईश्वर आत्माओं में अनुग्रह के रूप में रहता है और विश्व को परिचालित करता है।[5] शक्ति के प्रयोग से ही वह आत्माओं का उद्धारक, स्रष्टा, पालक और संहारक भी है।[6]

शिव के साथ शक्ति के सन्निवेश से दर्शन की बहुत सी समस्यायें हल हो जाती हैं। शक्ति के कारण अपरिवर्त्य ईश्वर द्वारा जगत् में परिवर्तन करना, चित् का अचित् पर कार्य करना और शुद्ध का अशुद्ध पर कार्य करना संभव हो जाता है। शक्ति असीम की महत्ता अक्षुण्ण रखती है। असीम और ससीम के बीच सम्बन्ध

१. मणिक्कवासगर, पृ० १५७
२. शिव और शक्ति में मूलतः कोई विभेद नहीं है। अलग-अलग वर्णन केवल विवेचना की सुविधा के लिए हैं।
३. मृगेन्द्र आगम, ३. ८; ३. १५
४. मृगेन्द्र आगम, ३. ९; २. ३
५. मृगेन्द्र आगम, ३. १०६
६. शिव शक्ति की सहायता के विना अपना अनुग्रह प्रसार नहीं कर सकता और न ही बद्धात्माओं को मुक्त ही कर सकता है क्योंकि केवल शिव तत्त्वातीत, निष्क्रिय और तटस्थ है। इसलिए शिव को शक्ति अपेक्षित है।

स्थापन शक्ति के कारण ही संभव होता है।

शिव की शक्ति का स्वरूप चेतना है।[१] यह एक है और पराशक्ति से अभिहित है। यह शक्ति विभिन्न कार्यों को संपादित करने के लिए उनके अनुसार विभिन्न हो जाती है। यद्यपि शक्ति विभिन्न रूप ग्रहण करती है परन्तु यह अनेक नहीं बल्कि एक ही है। विभिन्न कार्यों में अपनी अभिव्यक्ति के कारण यह केवल अनेक जैसा प्रतीत होती है।[२] कार्य की विविधता के अनुसार यह तीन भागों में विभाजित हो जाती है यथा—इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति। शक्ति का स्वरूप शुद्ध चेतना है परन्तु उसमें इच्छा और क्रिया भी समाहित है क्योंकि जहाँ चेतना है वहाँ कार्य की इच्छा और शक्ति भी है।[3] ये शक्तियाँ पुनः विभिन्न कार्यों के अनुसार अनेक में विभाजित हो जाती हैं।[४]

इच्छा शक्ति ईश्वर का अनुग्रह है जो आत्मा को मल से मुक्त करने में और उन्हें मुक्ति प्रदान करने में निहित है। यह ईश्वर का प्रेम है जिसे वह आत्माओं पर उदारतापूर्वक व्यय करता है। ज्ञानशक्ति उसके जानने का साधन है जिससे वह जो करने की इच्छा करे उसे कर सकता है। ज्ञानशक्ति द्वारा वह सबको पूर्णतया जानता है। क्रियाशक्ति से वह अपने कार्यों को संपादित करता है। क्रियाशक्ति उसकी योजना के अनुसार अथवा उसकी इच्छा के अनुसार सम्पूर्ण जगत् को चलाती है।[५]

त्रिविध वर्णित शक्ति में इच्छा शक्ति अपने स्वरूप में बिना किसी परिवर्तन के सदैव कार्य करती है। ज्ञान और क्रिया शक्ति पाँच प्रकार से कार्य करती हैं। जब ईश्वर ज्ञान शक्ति से कार्य करता है, वह शिव कहा जाता है, जब वह क्रिया शक्ति से कार्य करता है, उसे शक्ति कहा जाता है। जब वह ज्ञान और क्रिया के बराबर शक्ति से कार्य करता है, उसे सदाशिव कहा जाता है। जब ज्ञानात्मक पक्ष घटता है जबकि क्रियात्मक पक्ष बढ़ता है, वह महेश्वर कहा जाता है। जब ज्ञान पर क्रिया का प्राधान्य होता है, उसे शुद्ध विद्या कहा जाता है।

---

१. शक्ति की तुलना सांख्य की प्रकृति और अद्वैत-वेदान्त के माया से की जाती है परन्तु ये दोनों ही स्वरूप में जड़ हैं जबकि शक्ति चेतन है। माया को ब्रह्म की परिग्रह शक्ति कहा जाता है जबकि शक्ति शिव का अविभाज्य अंग है।

२. शिवज्ञानबोधम्, १. ६. १

३. शिवज्ञानबोधम्, १. ६. २

४. शैव० प० पृ० ३३

५. शिवज्ञानबोधम्, १. ६. ३

ईश्वर विभिन्न कार्यों का संपादन करने के लिए विभिन्न रूप धारण करता है परन्तु उसके मूल रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। ईश्वर के रूप परिवर्तन के साथ उसकी शक्ति भी विभिन्न रूप धारण करती है परन्तु उसके भी मूल रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता।[1] जिस प्रकार ईश्वर अपने विभिन्न रूपों में रहकर कार्य करता है उसी प्रकार पराशक्ति शक्ति के विभिन्न रूपों में रहकर कार्य करती है। पराशक्ति शिव के प्रकारों से अभिव्यक्त होती है; शिव स्वयं को शक्ति के प्रकारों से अभिव्यक्त करता है। शक्ति द्वारा गृहीत सभी रूप शिव और शक्ति में उभय हैं। शक्ति नाद से पृथ्वी पर्यन्त सभी तत्त्वों को नियन्त्रित करती है। शिव शक्ति सहित सभी चीजों को नियन्त्रित करता है। उनके द्वारा सृष्ट सभी वस्तुयें शिव और शक्ति के रूप हैं। शक्ति शिव की उर्जा है। यह उसका ज्ञान भी है, क्रिया भी है और इच्छा भी है। यद्यपि इसके कार्य विभिन्न हैं फिर भी शक्ति एक है।[2] ईश्वर अपने सभी कृत्य शक्ति के साधन द्वारा संपादित करता है, अतः उसके सभी कार्याधिकार शक्ति पर आरोपित हैं।[3]

यहाँ एक सहज प्रश्न उठता है कि यदि दोनों एक ही हैं तो उनके लिए दो नामों का प्रयोग क्यों किया जाता है? इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कह सकते हैं कि यह शिव में निहित दो भावों को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। शिव उस परम-सत्ता का संकेत करता है जो निर्विकार, तटस्थ और अनुभवातीत है। शक्ति उस सत्ता की गतिशीलता का संकेत करने के लिए है जिससे वह आत्मा और जगत् के साथ सम्पर्क में आ सकता है। वास्तव में यहाँ कोई अर्थ भेद अथवा प्रकार भेद नहीं है। यहाँ केवल संश्लेषणात्मक भेद है। इसे स्पष्ट करने के लिए शैव-सिद्धान्त में मान्य शिव-शक्ति सम्बन्ध का विवेचन अपेक्षित है।

शिव-शक्ति सम्बन्ध :—शिव और शक्ति में अपरिहार्य सम्बन्ध है। शिव शक्ति को प्रशान्त अवस्था है। शक्ति और शिव एक हैं। शक्ति में शिव है और शिव में शक्ति। शक्ति अपने धारणकर्ता से भिन्न नहीं है। सत्ता में अन्तर्विष्ट शक्ति संभवन है। सत्ता शिव है, संभवन शक्ति है। परवर्ती उत्तरवर्ती का धर्म है; जैसे उष्मा अग्नि की विशेषता है या प्रकाश सूर्य का गुण है। दोनों के बीच का सम्बन्ध समवाय का सम्बन्ध माना जाता है। शिव स्वयं में शुद्ध सत् है परन्तु आत्माओं और जगत् के सन्दर्भ में

---

१. ईश्वर के विभिन्न रूपों के साथ-साथ शक्ति के विभिन्न रूपों का भी वर्णन मिलता है, यथा शिव के साथ शक्ति, नाद-बिन्दु, सदाशिव-मनोन्मनी, महेश-महेश्वरी, रुद्र-उमा, विष्णु-महालक्ष्मी और ब्रह्मा-सरस्वती।

२. शिवज्ञानसिद्धियार १. ६६

३. शिवज्ञानसिद्धयार प्रपक्कम, ३

वह शक्ति या प्रकाश है। शक्ति कुम्भकार के चाक के समान है जहाँ कुम्भकार ईश्वर है।

शक्ति त्रिविध या पंचविध कही जाती है फिर भी अपने सार में यह एक शिव ही है। यद्यपि यह ईश्वर से अत्यन्त समीप से सम्बन्धित है फिर भी यह सम्बन्ध तादात्म्य का नहीं कहा जा सकता। शिव और शक्ति के बीच के सम्बन्ध की तुलना सूर्य और उसके प्रकाश से की जाती है। प्रकाश की किरणें सूर्य के बिना अस्तित्व में नहीं आ सकती फिर भी सूर्य से तादात्म्य निरुपण नहीं किया जाता।[१] इसी प्रकार शिव और शक्ति एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।

बिना शक्ति के शिव अपना कोई भी कृत्य संपादित नहीं कर सकता। आत्माओं को मोक्ष प्राप्त कराने की इच्छा से अपनी इच्छा शक्ति के प्रयोग में वह चाहता है कि वे उसका अनुग्रह प्राप्त करें। ज्ञानशक्ति द्वारा वह अच्छे और बुरे कर्मों का फैसला करता है और योग्यतानुसार अनुग्रह प्रदान करता है। क्रिया शक्ति सृष्टि कराती है। अपनी शक्ति द्वारा सभी वस्तुओं को व्याप्त कर वह सभी वस्तुओं को जानता है और अपनी शक्ति के कारण ही वह सर्वशक्तिमान कहा जाता है। वह अन्ततः सभी वस्तुओं का कारण है क्योंकि वह अप्रत्यक्ष रूप से सभी विषयों और घटनाओं से अपनी शक्ति द्वारा सम्बन्धित है।[२]

ईश्वर और शक्ति के बीच सम्बन्ध के विषय में कुछ दार्शनिक वर्ग के लोग दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं और कुछ वर्ग के लोग शक्ति को ईश्वर से भिन्न मानते हैं।[3] इन अतिवादों के विपरीत शैव-सिद्धान्ती शिव और शक्ति में द्रव्य-गुण जैसा संबंध मानते है। शिवज्ञान योगी समवाय को तादात्म्य के सन्दर्भ में व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार शिव सत्ता में एक है फिर भी शक्ति द्वारा विभाजित किया जा सकता है।[४] तादात्म्य वही सम्बन्ध व्यक्त करता है जो द्रव्य और इसके गुण में है। ईश्वर शक्ति के साथ तदनुरुपित नहीं किया जा सकता क्योंकि वह सर्वव्यापक है।[५] सर्वव्यापकता का अर्थ है कि वह सभी प्राणियों में उपस्थित है जबकि एक वस्तु केवल एक स्थान में एक समय में उपस्थित हो सकती है। यदि वह दो है तो वह सर्वव्यापक नहीं है। उसे सर्वव्यापक न होना भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसके बिना कोई सत्ता अस्तित्व में नहीं हो सकती जिस प्रकार वर्ण बिना प्रारम्भिक स्वर 'अ' के स्वयं

१. शिवज्ञान सिद्धियार, सुपक्कम, ५, ९
२. शिवज्ञान सिद्धि. २, ६
३. शिवज्ञानबोधम् टी० २-४, पृ० १५०
४. शिवज्ञानबोधम् टी०, पृ० १५०
५. वही

अस्तित्व में नहीं हो सकते। इस प्रकार ईश्वर और उसकी शक्ति के बीच का सम्बन्ध केवल एकता के पदों में, द्रव्य और गुण अथवा सूर्य और सूर्य-प्रकाश जैसा सोचा जा सकता है।

अग्नि पदार्थ रूप में एक है फिर भी इसके गुणों के अनुसार इसे अलग-अलग लाल रंग का और गर्म कहा जाता है। वैसे ही ईश्वर एक है। अपने विस्तार रूप में वह शिव है जो प्रत्येक वस्तु से परे है। प्रत्येक वस्तु के साथ होने और प्रत्येक वस्तु को आकर्षित करने के गुणों से युक्त होने से वह शक्ति है।

ईश्वर को सम्बन्धों से परे शुद्ध सत् नहीं माना जा सकता। शक्ति जगत् और आत्मा को संचालित करती है। शक्ति ईश्वर की अविभाज्य अवस्थिति है, यद्यपि विचार की दृष्टि से इसे विभाजित किया जा सकता है। अपनी शक्ति के साथ ईश्वर के सम्बन्ध को दृढ़तापूर्वक न तो एक ही कहा जा सकता है और न अनेक ही। इस सम्बन्ध को एक और अनेक के बीच की मध्यम स्थिति कहा जा सकता है।[1] उसके लिए दोनों ही विकल्प चिन्त्य हैं। ईश्वर को ऐसा उसके सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् होने के कारण भी सोचा जाता है। सर्वव्यापी सर्वव्यापकता के अपने विशिष्ट अर्थ में न तो एक है और न अनेक ही। सूर्य अपने से भिन्न सभी वस्तुओं को प्रकाश से व्याप्त करता है। सूर्य की किरणें सूर्य से सम्बन्धित हैं। सूर्य की किरणें सूर्य से एक भी हैं और अलग भी।[2] इसलिए इन्हें न तो एक ही कहा जा सकता है और न अलग ही। इसका सम्बन्ध एक और अनेक के बीच का मध्यम सम्बन्ध है। जो इस प्रकार का मध्यमावस्था का सम्बन्ध धारण नहीं करता अथवा जिसकी स्थिति इस प्रकार की नहीं होती उसे सर्वव्यापी भी नहीं कहा जा सकता। जैसे घट या पत्थर को सर्वव्यापी नहीं कहा जा सकता।

वास्तव में एक आत्म तदनुरूप वस्तु की सत्ता में द्विरूपता पायी जाती है। यह द्विरूपता इसके तादात्म्य को भंग नहीं करता। इसके दोनों रूपों में तादात्म्य का सम्बन्ध होता है। सूर्य में भी द्विरूपता पाई जाती है। इसका एक रूप है जब यह आत्म-अभिव्यक्त है और दूसरा जब यह अन्य विषयों को अभिव्यक्त करता है। आत्म-अभिव्यक्ति और अन्य-अभिव्यक्ति में भी यह आत्म-तदनुरूप ही रहता है। विषयों को प्रकाशित करते समय इसे सूर्यप्रभा कहा जाता है और जब यह आत्म प्रकाशित होता है तब सूर्य से अभिहित होता है। इसी प्रकार चैतन्य स्वयं में विचार करने पर चित् कहा जा सकता है और किसी वस्तु के इसके सम्बन्ध के सन्दर्भ में यह

१. शिवज्ञानबोधम् २-४ हेतु

२. अनन्याग्या शिवात् शैव—पौष्कर आगम, १. ३९

चित्-शक्ति कहा जाता है।[१]

प्रत्येक वस्तु में रूप अथवा आकार और कार्य की द्विरूपता प्रत्यक्ष की जा सकती है। जो किसी वस्तु से इसके असम्बद्ध तथा सम्बद्ध होने से परिलक्षित की जा सकती है। एक वस्तु को जानना उसे या तो उसके सम्बन्धों में जानना है अथवा स्वयं उसे असम्बन्धित जानना है। यह आनुभविक और अनानुभविक सभी प्रकार के ज्ञान में समान रूप से प्रयुक्त होता है। एक अचेतन विषय यथा अग्नि के पास जलने का कार्य है। यह तब तक अव्यक्त है जब तक दहनशील पदार्थों से सम्बन्धित होने पर यह व्यक्त नहीं हो जाता है। यह अपने स्वरूप में अग्नि है और कार्य में दहनशील है। इसी प्रकार चेतना के विषय में भी विभेद किया जा सकता है। यह जब स्वनिष्ठ होती है तो यह चैतन्य है और जब किसी वस्तु के प्रति सक्रिय होती है तो यह विषयीकृत मूर्त चेतना है।[२] ईश्वर में दोनों गुण विद्यमान हैं। वह शिव और शक्ति दोनों है। वह केवल वह नहीं है जो सम्बन्धित है परन्तु स्वयं सम्बन्ध भी है।[३]

आधुनिक विज्ञान भी इन तथ्यों का समर्थन करता है। विज्ञान में निषेधात्मक और भावात्मक दो शक्तियाँ मानी गई हैं। विज्ञान की भाषा में यह इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन है। प्रत्येक विद्युत क्रिया स्थिर और गतिवान् दो धाराओं का संयोग है। बिजली के तारों में एक ऋणात्णक तथा दूसरा धनात्मक होता है। दोनों का संयोग होने पर ही कोई कार्य हो सकता है यथा बल्ब का जलना आदि। इसी प्रकार के दो सर्वशक्तिमान् शक्तियाँ हैं शिव और शक्ति। ये दोनों एक साथ जगत की क्रीड़ा में भाग लेते हैं।[४]

---

१. परान्पेक्षम् रूपं यद् विज्ञानम् शिवसंज्ञितम् तस्य शक्तिम् परापेक्षम् रूपम् आहुरविपक्षितः—'
—र० त्र० २८८

२. चित्विषये च आत्मनि विषय-ग्रहण-रूपस्य स्वनिष्ठस्य ग्रहीतरिश्वररूपस्य स्वसम्वेदन—शुद्धत्वाद् एतत सिद्धम्'
—र० ल०—२८९-९० टीका

३. तिरुवाचकम्, चित् ४

४. मात्र विवेचना की दृष्टि से शिव-शक्ति को दो कहा जाता है, वास्तव में इन्हें दो कहना अनुचित है।

कारणता

शैव-सिद्धान्त सृष्टि की व्याख्या सत्कार्यवादी कारणता[1] सिद्धान्त के आधार पर करता है। यद्यपि काश्मीर शैव दर्शन भी कारणता-सिद्धान्त के विषय में सत्कार्यवादी है, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त का मौलिक विभेद यह है कि काश्मीर शैव दर्शन सत्कार्यवाद पर आधारित सृष्टि की आभासवादी व्याख्या करता है किन्तु शैव-सिद्धान्त सत्कार्यवाद के आधार पर सृष्टि की यथार्थवादी व्याख्या करता है। अतः शैव-सिद्धान्त द्वारा दी गई सृष्टि की व्याख्या को समझने के लिए सत्कार्यवाद की सामान्य विशेषताओं को पुनः शैव-सिद्धान्त के सन्दर्भ में संक्षेप में समझ लेना आवश्यक है जिन पर शैव-सिद्धान्त के कारणता सिद्धान्त का सामान्य रूप आधारित है।

सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान रहता है। कार्य की उत्पत्ति हो जाने पर कारण का सर्वथा विनाश नहीं हो जाता प्रत्युत कारण सार रूप में कार्य में बना रहता है। इस प्रकार कार्य अपने सार रूप में कारण के तदनुरूप (Identical) ही है। कार्य की उत्पत्ति का अर्थ कारण से कार्य का भिन्न होना है तथा इसके विनाश का अर्थ पुनः कारण से अभिन्न स्थिति को प्राप्त करना है। कार्य की उत्पत्ति का सामान्य तात्पर्य यही है कि कार्य, जो अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में अव्यक्त रहता है, अपनी उत्पत्ति के उपरान्त व्यक्त हो जाता है।

इस सिद्धान्त की सामान्य विशेषता एक यह है कि इसके अनुसार प्रत्येक उपादान से प्रत्येक कार्य का उत्पादन नहीं हो सकता। कार्य के उत्पादन के लिए उपादान सामग्री की उपयुक्तता एक आवश्यक शर्त है। यदि इस प्रकार का अनुबन्ध न हो तो प्रत्येक कार्य किसी भी कारण से परिणमित हो सकता है। सत् कारण से सत् कार्य की ही उत्पत्ति होती है। सत् से असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती अथवा असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यद्यपि कार्य का अस्तित्व कारण में नित्य होता है किन्तु उसका स्वरूप अव्यक्त होता है। अतः उसे व्यक्त करने के लिए एक कर्ता की आवश्यकता अपरिहार्य है।[2] इस सन्दर्भ में आक्षेप किया जाता है कि यदि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान है तो उसे व्यक्त करने के लिए किसी कर्ता की अपेक्षा

---

१. कारणता के सामान्य सिद्धान्तों की विवेचना इसके प्रथम भाग 'काश्मीर शैव दर्शन' में 'कारणता' के सन्दर्भ में की जा चुकी है।

२. सांख्य दर्शन सत्कार्यवादी है किन्तु वहाँ कर्ता की आवश्यकता नहीं मानी गयी है। इस सन्दर्भ की विवेचना आगे आलोचनात्मक विवरण में की गयी है।

नहीं होती। यदि कर्ता आवश्यक है तो कार्य के अस्तित्ववान या अनस्तिववान होने की शर्त आवश्यक नहीं है और कर्ता अपनी इच्छानुसार कोई भी कार्य उत्पन्न कर सकता है। परन्तु सत्कार्यवाद सिद्धान्त की आवश्यक शर्त है कि निश्चित कारण से ही निश्चित कार्य उत्पन्न किया जा सकता है, जैसे राई से ही तेल निकाला जा सकता है, बालू से नहीं।[१] यहाँ कर्ता की इच्छा आवश्यक है, परन्तु स्वतन्त्र नहीं है। कार्य के उत्पादन के लिए कारण में कार्य के उत्पादन की क्षमता होनी चाहिए। यदि यह क्षमता कारण में नहीं है तो कर्ता किसी भी प्रकार से कार्य का उत्पादन नहीं कर सकता। बालू में तेल के उत्पादन की क्षमता नहीं है तो किसी भी प्रकार बालू से तेल नहीं निकाला जा सकता।

इस प्रकार सत्कार्यवाद के अनुसार कारणात्मक सम्बन्ध रूप और पदार्थ, गुण और गुणी का सम्बन्ध है। दो गुण केवल गुणी की मध्यस्थता से ही सम्बन्धित हो सकते हैं। कारण और कार्य की निरन्तरता भेदाभेद और अभेद दो प्रकार के सम्बन्धों को निहित करती है। इनमें से एक रूपों के सन्दर्भ में है और दूसरा स्थायी पदार्थ के सन्दर्भ में है। परिवर्तनशील रूपों के विचार से, जो एक निर्धारित रूप को छोड़ कर एक नये की अपेक्षा (परिणमन) करता है, यहाँ भेदाभेद है और पूर्वस्थित सामग्री के विचार से यहाँ भेद है।[२]

सत्कार्यवाद की इन विशेषताओं के परिप्रेक्ष्य में शैव-सिद्धान्ती जगत् के कारणता सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। शैव-सिद्धान्ती जगत् को कार्य रूप मानते हैं क्योंकि जगत् नानाविध अवयवों का समूह है। कार्य रूप होने से जगत् का एक कारण भी होना चाहिए जिससे यह कार्यभूत हो। शैव-सिद्धान्त में यह कारण माया को माना गया है।[३] जगत् अपने प्रथम कारण[४] माया में पूर्वस्थित रहता है। यदि हम कार्य की कारण में पूर्वस्थिति को न मानें तो हमें खरगोश की सींग की संभावना को भी मानना पड़ेगा। इस सन्दर्भ में एक आक्षेप होता है कि क्या वृक्ष से गिरी हुई पत्तियाँ

१. ज्ञानामिर्दम्, २२

२. शिवज्ञानसिद्धियार, सुपक्कम १. २७

३. यह कारण पशु (आत्मा) नहीं हो सकता क्योंकि वह ससीम है और जगत् का भोक्ता है; वस्तुतः जगत् का निर्माण ही उसी के लिए किया जाता है। यह कारण पति (शिव) नहीं हो सकता क्योंकि चेतन सत्ता से अचेतन की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि ऐसा होता है तो यह सत्कार्यवाद के विरुद्ध होगा। इसलिए यह कारण माया को माना गया है जो स्वरूप में अचेतन है।

४. कारणता की दृष्टि से जगत् सर्वप्रथम माया से ही सम्बन्धित होता है, इसलिए इसे प्रथम कारण कहा जाता है।

पुनः वृक्ष में वापस आ सकती हैं। यदि नहीं आ सकतीं तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि कार्य अपने कारण में पूर्वस्थित रहता है और बाद में अभिव्यक्त हो जाता है। शैव-सिद्धान्ती इसकी व्याख्या अपने ढंग से करते हैं। उनके अनुसार पत्तियों के पास कारणात्मक शक्ति होती है जो समय, कर्म आदि सहायक कारणों की उपस्थिति से बाद में स्वयं को पुनः अभिव्यक्त कर सकती है। यह भी कहा जाता है कि कारण में कार्य की उपस्थिति मानने से जगत् के विनाश की व्याख्या नहीं हो पाती। शैव-सिद्धान्त के अनुसार कारण में कार्य की (बीज रूप में) नित्य सत्ता है। इस दृष्टि से जगत् को अनादि और शाश्वत कहा जा सकता है।[१] पुनः हम जगत् की उत्पत्ति और विनाश को मानते हैं क्योंकि यह परिवर्तन का विषय भी है। किन्तु यदि इसके परिवर्तन को न लिया जाय तो जगत् शाश्वत कहा जा सकता है।[२]

कार्य को अस्तित्व में लाने के लिए एक कर्ता आवश्यक है। शैव-सिद्धान्त में यह कर्ता सर्वशक्तिमान् शिव है।[३] शिव के बिना जगत् विकसित नहीं हो सकता।[४] आगमों में कहा गया है कि विश्व अस्तित्व में आता है, अस्तित्व में बना रहता है और फिर नष्ट भी हो जाता है। यह कथन विश्व के अस्तित्वपरक स्वरूप का समर्थन करता है। इसे न तो अनस्तित्ववान् कहा जा सकता है और न ही प्रवाह मात्र।[५] यह एक सत्ता है जिसका विकास और विनाश होता है। जगत् जो विकास और प्रलय की प्रक्रिया में है एक चेतन कर्ता का संकेत करता है जो इस प्रक्रिया को संचालित करे क्योंकि जड़ होने से स्वयं जगत् इस प्रक्रिया को संचालित नहीं कर सकता। शैव-सिद्धान्त में यह चेतन कर्ता शिव है।

शिव जगत् का निमित्त कारण[६] है जो जगत् के विलय का आधार (लयाधिष्ठान) है।[७] शिव तत्त्वातीत है और अन्तर्भूत रूप से जगत् में उपस्थित है जो

१. मृगेन्द्र आगम ३-४—ज्ञानपाद

२. माया में अपनी पूर्वस्थिति के कारण जगत् को शाश्वत् कहा जाता है। शैव-सिद्धान्त जगत् की सर्वथा नवीन उत्पत्ति नहीं मानता। जगत् अपने कारण माया में अव्यक्त रहता है, कार्यभूत होने पर व्यक्त हो जाता है।

३. यह कर्ता पशु (आत्मा) नहीं हो सकता क्योंकि वह ससीम है और माया भी नहीं हो सकती क्योंकि वह अचेतन है और उसे स्वयं परिणमित होना है, इसलिए यह कर्ता शिव ही हो सकता है जो पूर्ण, असीम और सर्वशक्तिमान् है।

४. शिवज्ञानबोधम् १. २

५. बौद्ध जगत् को प्रवाह मात्र मानते हैं, जिसकी विवेचना आगे की गयी है।

६. मृगेन्द्र आगम, ३.२

७. शिव प्रकाशम्, २ पृ०३८

भावात्मक रूप से जगत् के अस्तित्व को सोचता है और अपनी अन्तर्यामिता से जगत् का पालन करता है। जगत् का ऐसा कारण नहीं माना जा सकता जो इससे अलग हो क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार कारण कार्य के साथ निरन्तर रहता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार शिव भी जगत् के साथ इसके प्रलय और विकास के नित्य आधार के रूप में निरन्तर है।

कार्य की उत्पत्ति के लिए कर्ता की इच्छा का होना आवश्यक है। यह इस बात का संकेत करता है कि कर्ता कार्य को उत्पन्न करने में स्वतन्त्र है। काश्मीर शैव दर्शन के समान शैव-सिद्धान्त में भी शिव स्वतन्त्र है। शिव अपनी स्वतन्त्रेच्छा से जगत् को उत्पन्न करता है। जगत् को उत्पन्न करना उसके लिए बाध्यता नहीं है। वह चाहे तो जगत् को न भी उत्पन्न कर सकता है। शिव माया से ही जगत् को उत्पन्न करता है क्योंकि अन्य कोई तत्त्व जगत् को (यथार्थवादी जगत् को) उत्पन्न करने के लिए उपयुक्त नहीं हैं।[१] सत्कार्यवादी कारणता सिद्धान्त में कारण और कार्य में भेदाभेद सम्बन्ध माना गया है। कारण और कार्य दो अस्तित्व हैं, इसलिए भेद है और कार्य में कारण अन्तर्भूत है अतः भेदाभेद सम्बन्ध है। शैव-सिद्धान्त में भी शिव और जगत् में भेदाभेद सम्बन्ध है।[२]

हम देखते हैं कि प्रत्येक वस्तु तीन कारणों–निमित्त, उपादान और सहकारी कारण के सहयोग से उत्पन्न होती है। एक कुर्सी बढई द्वारा अपने औजारों से लकड़ी पर कार्य करने का परिणाम है। उसी प्रकार जगत् निमित्त कारण रूप ईश्वर द्वारा अपने सहकारी कारण शक्ति[३] से उपादान कारण रूप माया पर कार्य का परिणाम है। अन्य दर्शन अपने कारणता सिद्धान्त में सभी तीन कारणों को एक या दो में सीमित कर देते हैं।[४] किन्तु शैव-सिद्धान्त ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानता है तथा माया को उपादान कारण मानता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार माया अविनाशी है जो केवल अपने रूप को परिवर्तित करती है और निरन्तर अस्तित्व में रहती है।

सत्कार्यवादी होने के कारण सत्कार्यवाद पर हो सकने वाले सभी आक्षेप शैव-सिद्धान्त के कारणता सिद्धान्त पर होते हैं : आक्षेपकों के इस वर्ग में असत्कार्यवादी तो आते ही हैं, कुछ ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त भी आते हैं जो कारणता को ही नहीं मानते। ऐसा मानने वालों के वर्ग में शून्यवादी बौद्ध तथा मायावादी अद्वैत-वेदान्त

---

१. माया की उपयुक्तता के विषय में आगे 'सृष्टि-क्रम' में विचार किया गया है।
२. इस सम्बन्ध की विवेचना आगे 'शिव का सृष्टि से सम्बन्ध' में की गई है।
३. मृगेन्द्र आगम, ज्ञानपाद, ३. ५
४. जैसे काश्मीर शैव दर्शन शिव को निमित्तोपादान कारण मानता है।

प्रमुख है। शून्यवादी बौद्ध दो घटनाओं (जिन्हें कारण कार्य समझा जाता है) में अनुक्रम तो मानते हैं परन्तु उनमें कोई आवश्यक सम्बन्ध (कारणात्मक सम्बन्ध) का होना नहीं मानते। उनके अनुसार इन घटनाओं (कारण-कार्य) के बीच सम्बन्ध को किसी प्रकार निर्धारित नहीं किया जा सकता, इसलिए इसे शून्य ही कहा जा सकता है (कारणता नहीं)। अद्वैत-वेदान्ती कार्य की उत्पत्ति होना ही नहीं मानते। उनके अनुसार जिसे कार्य कहा जाता है वह आभास मात्र है। इस प्रकार अद्वैत-वेदान्ती प्रचलित अर्थ में कारणता नहीं मानते। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार कार्य की उत्पत्ति मानने पर कारण में परिवर्तन होना भी मानना होगा। यदि कारण में परिवर्तन नहीं होता है तो कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती और ऐसी स्थिति में कार्य मात्र मिथ्याभास ही होगा।

शैव-सिद्धान्त इन आक्षेपों को तर्क की कसौटी पर रखते हुए अपने मत का प्रतिपादन करता है। शैव-सिद्धान्त पहले अन्य सभी दार्शनिक सिद्धान्तों की समीक्षा करता है और तत्पश्चात अपने सिद्धान्त की विशिष्टताओं का प्रतिपादन करता है। शैव-सिद्धान्त की यह विशेषता है कि वह अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की आलोचना करते समय भावात्मक दृष्टि अपनाता है। किसी भी मत को तुच्छ घोषित नहीं करता, प्रत्युत उसे भी सत्य को जानने की एक दृष्टि मान लेता है।

शैव-सिद्धान्त द्वारा अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की आलोचना–

शैव-सिद्धान्त सर्वप्रथम उन सिद्धान्तों की आलोचना करता है जो जगत् की सृष्टि को नहीं मानते। उनके विचारों को निराधार बताते हुए वह प्रमाणित करता है कि जगत् की सृष्टि होती है और यह सृष्टि स्वाभाविक नहीं है बल्कि इसे एक स्रष्टा सृष्ट करता है। फिर शैव-सिद्धान्त उनकी आलोचना करता है जो असत्कार्यवादी हैं, अर्थात् जो कारण में कार्य की पूर्वस्थिति को नहीं मानते। इस सिद्धान्त की असंगतियों को दिखाते हुए वह सत्कार्यवाद का औचित्य प्रतिपादित करता है। इसके पश्चात् शैव-सिद्धान्त उन सिद्धान्तों की आलोचना करता है जो सत्कार्यवाद तो मानते हैं परन्तु किसी चेतन कर्ता को नहीं मानते। इनकी आलोचना के द्वारा वह शिव को जगत् का कर्ता सिद्ध करता है और यह प्रतिपादित करता है कि बिना शिव के जगत् की सृष्टि नहीं हो सकती। शैव-सिद्धान्त उन सिद्धान्तों की भी आलोचना करता है जो कारण का परिणाम नहीं मानते बल्कि विवर्त अथवा अध्यास मानते हैं।

कारणता सिद्धान्तों की आलोचना करने के साथ ही शैव-सिद्धान्त उनके जगत् सम्बन्धी अवधारणाओं की भी विवेचना करता है जो सामान्यतः उनके कारणता सिद्धान्त पर ही आधारित हैं। शैव-सिद्धान्त इन आलोचनाओं के साथ यह भी दर्शाता है कि उसका सिद्धान्त क्यों अधिक ग्राह्य है।

हमारा यह दिखाने का प्रयास होगा कि शैव-सिद्धान्त अपनी आलोचना में कहाँ तक सफल है और निरपेक्ष दृष्टि से शैव-सिद्धान्त की मान्यताएँ कितनी पूर्ण हैं।

लोकायत :—भौतिकवादियों का वर्ग लोकायत जगत् की सृष्टि नहीं मानता। वे किसी भी उस वस्तु को प्रामाणिक नहीं मानते जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से प्रमाणसिद्ध न हो। उनके अनुसार जगत अनादि और अनन्त है क्योंकि जगत् की सृष्टि और संहार प्रत्यक्ष नहीं होता। शैव-सिद्धान्त प्रत्यक्ष के आधार पर ही इस अवधारणा का खण्डन करता है क्योंकि वस्तुओं की उत्पत्ति और संहार प्रत्यक्ष अनुभव के ही तथ्य हैं। शरीर आदि की उत्पत्ति और संहार प्रत्यक्ष ही देखा जाता है।[1]

लोकायत मानते हैं कि पदार्थ स्वभावतः अस्तित्व में आते और नष्ट होते हैं। परिवर्तनशीलता वस्तुओं के स्वयं स्वरूप में ही है।[2] उत्पत्ति और संहार की प्रक्रिया किसी के द्वारा प्रेरित नहीं है। यह वस्तुओं के स्वरूप में ही अन्तर्निहित है। शैव-सिद्धान्त को यह मान्य नहीं है। परिवर्तनशीलता वस्तुओं के लिए स्वाभाविक नहीं है। यदि यह निरन्तर परिवर्तित होता रहे तो ऐसा कुछ नहीं मिलेगा जिसे इसका स्वभाव कहा जाय। स्वयं पदार्थ को इन परिवर्तनों का कारण माना जाता है। परन्तु यदि पदार्थ स्वयं अपने कार्य द्वारा इन परिवर्तनों का कारण होता है तो प्राकृतिक विषमतायें क्यों पाई जाती हैं, यथा भूचाल क्यों आता है और जल कुछ स्थानों पर गर्म होता है तथा कुछ स्थानों पर शीतल। कुछ स्थानों पर अग्नि नहीं जलती और कहीं-कहीं हवा भी नहीं चलती। इन सभी घटनाओं में प्रकृति की एकरूपता के नियम का उल्लंघन है। पदार्थ जड़ है, इसलिए इसे कर्ता नहीं माना जा सकता।[3] जड़त्व जो असत् का पर्याय है और कर्तृत्व जो चेतन से सम्बन्धित है, परस्पर विरोधी हैं। विश्व के लिए एक चेतन निर्देशक आवश्यक है जो पदार्थों के कार्य का कारण हो।

वस्तु की सत्ता इसके निरन्तर परिवर्तनों में निहित नहीं होती क्योंकि तब कुछ भी शेष नहीं बचेगा। लोकायत कहते हैं कि यदि परिवर्तन वस्तु के स्वभाव में नहीं हैं तो सर्वशक्तिमान् ईश्वर भी वस्तु की उत्पत्ति और संहार नहीं कर सकता जब तक कि वे इन परिवर्तनों के लिए स्वयं तैयार न हों।[4] वस्तुतः लोकायत किसी भी वस्तु

१. परन्तु मात्र वस्तुओं की उत्पत्ति और संहार के आधार पर जगत् की उत्पत्ति और संहार नहीं माना जा सकता क्योंकि सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति अथवा संहार प्रत्यक्ष नहीं होता।

२. शिवज्ञानसिद्धियार, सुपक्कम, १, २, ३

३. वस्तुतः इन प्राकृतिक विषमताओं की व्याख्या भौगोलिक कारणों से ही की जा सकती है, इसलिए एक कर्ता पर जोर देना उचित नहीं है।

४. 'स्वभावतो जगद्बीजं जगत्-कर्तृ-हरेण किम् ?

की दो अवस्थितियाँ मानता है। वह सृष्टि और संहार का विषय होती है। परन्तु संहार सृष्टि के समय नहीं देखा जाता और सृष्टि संहार के समय में नहीं देखी जाती जबकि वस्तु दोनों का विषय है। लोकायत वस्तु में परिवर्तन स्वीकार करते हैं; परन्तु उनको एक साथ होना नहीं मानते हैं। बौद्ध परिवर्तनों को एक साथ होना मानते हैं। उनके लिए वस्तु एक साथ ही अस्तित्व और अनस्तित्व दोनों में है। वस्तु स्वरूप में उत्पत्ति और विनाश, दो विरोधी कार्यों को निहित कर सकती है। सृष्टि के बाद प्रलय और पुनः प्रलय के बाद सृष्टि एक क्रम सा हो सकता है।[1] यहाँ जगत के लिए जो स्वाभाविक माना जाता है, वह सृष्टि और संहार है। सृष्टि और संहार दो विभिन्न और विरोधी अवस्थायें नहीं हैं। वे एक ही परिवर्तित प्रक्रिया के आमुख हैं। यदि विकार जगत् का स्वभाव है तो यह कथन इस मान्यता को प्रतिपादित करता है कि जगत् का अपना कोई अवैकल्पिक स्वरूप नहीं है। वस्तुतः स्वभाववादी स्वभाव के नाम में किसी चीज के निःस्वत्व की मान्यता के लिए बाध्य हैं[2]।

स्वभाववादी मानते हैं कि तात्त्विक जगत् स्वयं एक ही समय में कार्य और कारण माना जा सकता है। कार्य रूप में यहाँ विकार है जैसे उत्पत्ति और विनाश तथा कारण रूप में स्वाभाविक तत्व हैं—पृथ्वी, जल आदि। परिवर्तन के कारण रूप एक कर्ता की आवश्यकता से सहमत होते हुए यदि लोकायत मानते हैं कि पदार्थ स्वयं कर्ता है, तो शैव-सिद्धान्त के अनुसार पदार्थ जड़ और निष्क्रिय हैं। इसलिए अपने परिवर्तनों के कारण के लिए अपने से अतिरिक्त एक कर्ता की अपेक्षा करते हैं। जो परिवर्तन होता है, उसका स्वयं विषय होने से पदार्थ इन परिवर्तनों का कारण होने के लिए किसी एक की अपेक्षा करते हैं। वे स्वयं अपनी उत्पत्ति और संहार का कारण नहीं हो सकते। कारणात्मक कर्ता और वस्तु जिस पर कार्य किया जाता है कभी तदनुरूप नहीं हो सकते।

लोकायत वस्तुओं की सृष्टि, स्थिति, संहार आदि तीन अवस्थाओं को स्वीकार करते हैं। परन्तु इस कार्य के सम्पादन के लिए उनके तत्त्व ही पर्याप्त हैं। चार तत्त्वों में वायु अन्य तत्त्वों को पालता है और उनके साथ अस्तित्व में रहता है; अग्नि अन्य तीन तत्त्वों को नष्ट करता है और स्वयं भी उन्हीं के साथ नष्ट हो जाता है। जल अन्य तीनों के प्रकट होने का कारण है और उन्हीं के साथ प्रकट होता है। पृथ्वी अन्य

स्वभाव एव वक्तव्यो गत्वा दूरमपि त्वया।'

—मा० का० १२

१. शिवज्ञान सिद्धियार, सुपक्कम, १. ४
२. शिवज्ञान सिद्धि, सुपक्कम, १. ३

तत्त्वों से अनुभूत होने के लिए परिणामी के फलन का कारण होती है और उनकी उपस्थिति में यह स्वयं फलित होती है। इस प्रकार लोकायत को किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती। यहाँ कर्तृ और कर्म अलग रखे गये हैं। कारण कार्य से अलग नहीं हो सकता। जो कारण अनुभवातीत है वह कार्य नहीं हो सकता,[१] क्योंकि कारण को कार्य के साथ सदैव रहना चाहिए। लोकायतों के तत्त्व शैव-सिद्धान्त की दृष्टि में कारण होने के योग्य नहीं हैं क्योंकि उनमें से प्रत्येक समान रूप से सृष्ट, पालित और नष्ट होते हैं।

लोकायत ईश्वर को न मानकर[२] जगत् की व्याख्या करते हैं। इसलिए उन्हें जगत् की उत्पत्ति में कर्ता की आवश्यकता नहीं पड़ती। शैव-सिद्धान्त ईश्वर को मान कर जगत् की व्याख्या करता है। वास्तव में शैव-सिद्धान्त ईश्वर की सर्वोच्चता[३] को स्थापित करने की पूर्वमान्यता लेकर अपने सिद्धान्तों की व्याख्या करता है। यदि ईश्वर को न माना जाय तो स्वभाववादियों के तर्कों को काटना अति-कठिन कार्य है। जगत् में अनेक ऐसे कार्य हैं जो स्वभावतः होते प्रतीत होते हैं और उनसे कर्ता का संकेत नहीं मिलता। विभिन्न प्रकार की वनस्पतियाँ हैं जो अपने मौसम में अपने-आप पैदा हो जाती हैं और फिर नष्ट भी हो जाती हैं। बाह्य प्राकृतिक कारण उन्हें भले ही प्रभावित करते हों, परन्तु यह किसी कर्ता का कार्य प्रतीत नहीं होता। वास्तव में ईश्वर के प्रति आस्था इतनी दृढ़ हो चुकी है कि हम पहले उसे मान लेते हैं, फिर उस पर विचार करते हैं। किसी भी प्रकार की पूर्वमान्यता रख कर सही निर्णय नहीं लिया जा सकता।

किन्तु शैव-सिद्धान्त तर्कों तथा श्रुतियों के आधार पर ईश्वर की सत्ता मानता है[४], इसलिए उसके अनुसार सृष्टि की व्याख्या ईश्वर द्वारा ही हो सकती है।

बौद्ध-सिद्धान्त :—सौत्रान्तिक बौद्ध प्रथम कारण की आवश्यकता नहीं मानते क्योंकि वह जगत् की प्रक्रिया को अनुक्रम अथवा घटनाओं की कड़ी मानते हैं। प्रत्येक वस्तु एक अनुक्रम अथवा एक शृंखला में उत्पन्न होती है। प्रत्येक क्षण अपने पूर्ववर्ती का उत्पादन है और वर्तमान अपने उत्तरवर्ती का उत्पादक होगा। दो क्रमिक क्षणों

---

१. शिवज्ञान सिद्धियार, सुपक्कम १. ४

२. लोकायतों को ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिए अनुमान के आधार पर उसकी परिकल्पना आवश्यक नहीं समझते।

३. शिव तभी सर्वोच्च अथवा महान हो सकता है, जब सृष्टि जैसे महान कार्य करे।

४. ईश्वर की सत्ता के लिए दिये गये तर्कों की विवेचना पहले ही 'शिव-शक्ति स्वरूप' में की गई है।

के अतिरिक्त कुछ भी स्थित नहीं रहता। अस्तित्व में आना और नष्ट होना शाश्वत कार्य है। जिस प्रकार बीज और वृक्ष निरन्तर हैं, वैसे ही सभी क्षण (कारण-कार्य) हैं। यदि प्रत्येक वस्तु अपने पूर्ववर्ती से कार्यभूत है और अपने उत्तरवर्ती का कारण होती है तब घटनाओं के अतिरिक्त उनका कारण होने की किसी और सत्ता की आवश्यकता नहीं होती। बौद्धों को उत्पत्ति और विनाश से परे एक ईश्वर की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि उनके अनुसार जगत् की सारी प्रक्रियायें स्वभावतः संपादित हो जाती है।

बीज वृक्ष से उत्पन्न होता है। वृक्ष को स्वरूप देने के पश्चात बीज विलुप्त हो जाता है। निश्चित ही वृक्ष अपने अस्तित्व के लिए पूर्व क्षणों के बीज पर आश्रित होना है। इस सौत्रान्तिक विचार का माध्यमिक बौद्ध ही खण्डन कर देते हैं। वे द्वन्द्वात्मक प्रश्न पूछते हैं कि वह क्या है जो प्रतीत होता है; यह अपने प्राकट्य के पूर्व अस्तित्व में होता है अथवा नहीं ? यदि यह अस्तित्व में होता है तो इसे प्रकट होने की आवश्यकता नहीं होती और यदि यह अस्तित्व में नही होता है तो यह प्रकट भी नहीं किया जा सकता। जो अस्तित्ववान है उसे उत्पन्न किये जाने की अपेक्षा नहीं है और जो अस्तित्व में नहीं है वह उत्पन्न भी नहीं किया जा सकता। इसलिए माध्यमिक कहते हैं कि जो प्रतीत होता है, वह अनिर्वचनीय है।

परन्तु माध्यमिक स्थिति भी मान्य नहीं हो सकती। यह न तो 'है' का वर्ग है, न ही 'नहीं' का वर्ग है और न ही उभय और नोभय का वर्ग है। वे इस प्रकार के वर्गों से ही सभी वस्तुओं को परिभाषित करते हैं। वस्तुतः माध्यमिक शून्यवाद की स्थापना करते हैं। वे यह मानते प्रतीत होते हैं कि जगत् शून्य से उत्पन्न होता है और वही शून्य परम तत्त्व है। परन्तु इस प्रकार के विचार मान्य नहीं हो सकते क्योंकि शून्य के बारे में कुछ बोलना या सोचना ही उस परमतत्त्व का निषेध है।

शैव-सिद्धान्त भी मानता है कि जो नहीं है वह प्रकट नहीं हो सकता और जो है उसे प्रकट होने की आवश्यकता नहीं है। खरगोश की सींग अनस्तित्वान होने से प्रकट नहीं हो सकती और एक घड़े को अस्तित्ववान होने से प्रकट होने की आवश्यकता नहीं होती। यदि कारण निरन्तर रहता है तब कोई कारणता नहीं है क्योंकि कार्य उत्पन्न नहीं होता। निरन्तर रहने वाले को उत्पन्न नहीं सोचा जा सकता क्योंकि वह पहले से ही अस्तित्व में है। यदि जो अस्तित्व में है, पुनः अस्तित्व में लाया जा सकता है तो इस दुहरी प्रक्रिया का कोई अन्त नहीं होगा।[1]

बौद्ध संहार को केवल अस्तित्व का निषेध मानते हैं। उनके अनुसार यह कार्य नहीं हो सकता। संहार सत्ता के प्रवाही स्वरूप का संकेत करता है। प्रवाही स्वरूप

१. मापादियम, पृ० ७९

स्वयं वास्तविक सत्ता से भिन्न नहीं है। संहार को तुरन्त होने वाली घटना के विषय में एक परवर्ती घटना ही सोचा जा सकता है। संहार उत्पाद्यता का एक आवश्यक गुण है। वही कारण जो एक सत्ता का उत्पादन करते हैं दूसरे ही क्षण में इसका संहार भी करते हैं। वस्तु का अस्तित्व इस प्रकार क्षणिक है जो उत्पन्न होने के तुरन्त बाद नष्ट हो जाती है।[1] वस्तुयें प्रत्येक क्षण में निश्चित ही भिन्न हैं, परन्तु वास्तव में समय का भेद वस्तु का भेद है।[2]

कार्य का उत्पादन स्थायी रहने वाले कारण से नहीं हो सकता। यह उत्पादन कुछ और नहीं बल्कि एक घटना का दूसरे द्वारा स्थान ले लेना है। संहार या समाप्ति सामान्यतः वस्तु में अन्तभूत हो तब इसका अर्थ अस्तित्व की परम समाप्ति होगा। यदि एक वस्तु संघटनात्मक रूप से नष्ट नहीं होती है तो यह अविनाशी है। कोई बाह्य संहारक इसे नष्ट नहीं कर सकता। परन्तु यदि यह अपने घटकों द्वारा नाशवान है तो यह बिना किसी संहारक के ही अपने जन्म के उसी क्षण में नष्ट हो जायेगी।

क्षणिकवादी हर वस्तु का अस्थायित्व स्वीकार करते हैं। परन्तु अस्थायी वस्तुओं को न तो अस्तित्ववान माना जा सकता है और न ही अनस्तित्ववान। अस्तित्वान सदैव अस्तित्ववान होगा और अस्थायी नहीं हो सकता। अनस्तित्ववान सदैव अनस्तित्ववान होगा और यह कहना अर्थहीन है कि यह अस्थायी है। इस प्रकार न तो अस्तित्ववान को और न ही अनस्तित्ववान को ही अस्थायी कहा जा सकता है। अस्तित्ववान वस्तुओं को उसी समय अनस्तित्ववान नहीं कहा जा सकता और अनस्तित्ववान वस्तुयें उसी समय अस्तित्ववान नहीं कही जा सकती। इस प्रकार दोनों ही अवस्थाओं में यह अस्थायी नहीं कहा जा सकता। क्षणिक वस्तुओं को सत् और असत् के वर्ग में भी नहीं रखा जा सकता। यह कहना कि यह सत् है, इसकी क्षणभंगुरता को नकारना है। यह कहना कि यह असत् है जगत् को अनस्तित्ववान मानना है। इसे सत् और असत् दोनों नहीं माना जा सकता।

वस्तुतः क्षणिकवादी एक वस्तु को दूसरे का कारण नहीं मानते। कारण कार्य का मिल जाना मात्र एक घटना है। कार्य सत्ता में आने से पूर्व अनस्तित्ववान होता है। जब यह अस्तित्व में आता है तो कारण अस्तित्व से रहित हो जाता है। यह शुद्ध अनुक्रम है, कारणता नहीं। कारणात्मक सम्बन्ध कारण को सतत् रहने की पूर्व मान्यता रखता है।[3] बौद्ध मानते हैं कि कारण असत् है। यदि कार्य किसी चीज

---

१. वस्तुओं का क्षणस्थायित्व माना जा सकता है, परन्तु उतना तीव्र नहीं जितना बौद्ध मानते हैं।

२. शिवज्ञान सिद्धियार, प्रपक्कम, ७

३. क्षणभंगम् जगत् सर्वं पुनः संतानतो भवेत।

से उत्पन्न नहीं होता है तो कार्य स्वयं किसी स्वरूप का नहीं होगा। यदि कार्य के हो सकने के लिए किसी कारण की अपेक्षा नहीं है तब कोई भी चीज किसी समय अस्तित्व में आ सकती है। वास्तव में बौद्ध कारणात्मक निर्धारण जैसा कुछ नहीं मानते।

शैव-सिद्धान्त में कहा गया है कि संहार और सृष्टि की प्रक्रिया बिना प्रयोजन के नहीं है। प्राकृतिक प्रपंच, प्रलय और पुनः सृष्टि द्विविध आवश्यकता द्वारा घटित हैं। ये आवश्यकतायें हैं—सृष्टि-परक संचित कर्म के पकने की आवश्यकता और आत्मा की पूर्वसृष्टि-परक मल के पकने की आवश्यकता। इस प्रकार प्रक्रियाओं का क्रम एक अन्तर्निष्ठ ओर अकारण प्रपंच नहीं है बल्कि परिस्थितियों द्वारा निर्धारित है। ये सृष्टि परक परिस्थितियाँ आत्माओं को एक क्रियात्मक मल ओर अज्ञान की दशा में पुनः लाने के लिए हैं। कारण और कार्य का अस्तित्व है। परवर्ती पूर्ववर्ती से ईश्वर के साधन (शक्ति) द्वारा अभिव्यक्त होता है।

वास्तव में बौद्ध दार्शनिक जगत् को दुःखमय मानने पर केन्द्रित हैं (अथवा जगत् को दुखःमय मानने की पूर्व मान्यता रखते हैं)। वे जगत् का अस्तित्व स्वीकार करते[1] हैं परन्तु इसे क्षणिक मानते हैं। यह मानने का भी कारण है क्योंकि सुखमय प्रतीत होने वाली वस्तु दूसरे ही क्षण समाप्त हो जायेगी और इस प्रकार वह वस्तु भी दुःखमय ही प्रतीत होगी क्योंकि उसके समाप्त हो जाने का दुःख रहेगा। इसलिए बौद्ध दार्शनिक जगत् में शाश्वत कुछ नहीं मानते, वे इसीलिए आत्मा को भी नहीं मानते जो शाश्वत कहा जाता है। जगत् का अस्थायित्व स्वीकार किया जा सकता है परन्तु उसे सर्वथा अस्थायी अथवा बिल्कुल क्षणिक नहीं माना जा सकता। वस्तु परिवर्तनशील है परन्तु उसमें कुछ समय के लिए स्थायित्व तो प्रतीत होता ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शैव-सिद्धान्त और बौद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों में जो मतभेद है वह जगत् के प्रति भिन्न दृष्टिकोण के कारण है। शैव-सिद्धान्ती जगत् को साधन रूप में प्रयोग करना चाहते हैं इसलिए उपयोग की अवधि तक जगत् का

न नापाद असदुत्पत्तिः ततोन्यात् कारणम् भवेत् ॥
सद् एव कारणम् तस्माज्जायते सद् इदम् जगत् ।
कारणस्य जड़त्वेन कार्यकारता परः शिव. ॥

—सिद्धतन्त्रम, एन० वी० एम० पृ० ५९४

1. वस्तु उत्पत्ति के क्षण और संहार के क्षण के उद्गम के बीच की अवस्था में तो अस्तित्व न मानी ही जा सकती है

स्थायित्व मानना उनके लिए आवश्यक भी है। शैव-सिद्धान्ती जगत् को दुःखमय अथवा सुखमय नहीं मानते, बल्कि जगत् उनके लिए कर्म का स्थान है जहाँ दुःख और सुख की अनुभूति होती है। जगत् शैव-सिद्धान्त के लिए ग्राह्य है क्योंकि बिना इसके उसे परम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।[1] बौद्धों के लिए जगत् त्याज्य है क्योंकि यह दुःखमय है और दुःख से छुटकारा पाना ही वे चाहते हैं। दोनों सिद्धान्तों में मतभेद इन पूर्वमान्यताओं के कारण ही है। किन्तु श्रुतिकथनों तथा इनकी तार्किक वैधता के आधार पर शैव-सिद्धान्ती अपने मत की पुष्टि करते हैं तथा बौद्धों के जगत् सम्बन्धी मान्यताओं का विरोध करते हैं।

जैनमत

जैन वस्तुओं के बहुविध स्वरूप में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार कोई भी वस्तु उसी समय है भी और नहीं भी है। कार्य न तो अन्ततः एक उत्पत्ति है और न ही यह पूर्व उपस्थित है। द्रव्य के विचार से कार्य अपने कारण में पूर्व उपस्थित है परन्तु पर्याय के विचार से यह एक उत्पत्ति है। यदि कार्य को पूर्वस्थित माना जाय तो कारण कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि कार्य अन्ततः अनस्तित्ववान है तो भी यह उत्पन्न नहीं किया जा सकता। कार्य की उत्पत्ति तभी संभव है जब वह अस्तित्व में हो भी और नहीं भी हो। कार्य द्रव्य के रूप में पूर्वस्थित माना जा सकता है परन्तु पर्याय के रूप में पूर्वस्थित नहीं माना जा सकता। जैनों के अनुसार जगत् कारण और कार्य दोनों रूप का है। अणु को, जिससे जगत् बना है, यदि पर्याय की दृष्टि से देखा जाय तो वे अपने गुणों से विनाश के लिए उत्तरदायी हैं; परन्तु यदि उन्हें द्रव्य की दृष्टि से देखा जाय तो वे शाश्वत हैं। वास्तव में जैन सत्ता की अनेक-स्वरूपता की संभाव्यता को स्वीकार करते हैं। इसलिए वे कारण को कार्य के तदनुरूप और भेदात्मक दोनों मानते हैं।

यदि माना जाय कि कारण होता है तब कार्य को भी अव्यक्त रूप में उपस्थित मानना चाहिए। परन्तु जैन कहते हैं कि घड़ा केवल मृत्तिका रूप द्रव्य में विकार हो जाने से अस्तित्व में आता है। जहाँ तक घड़े का सम्बन्ध है, कार्य एक नयी उत्पत्ति है। परन्तु यह कथन तर्क संगत नहीं प्रतीत होता। अस्तित्व अनस्तित्व से नहीं आ सकता और न ही अनस्तित्व अस्तित्व से आ सकता है। वास्तव में वस्तु का धर्म

---

१. शैव-सिद्धान्त का लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। यह आणवमल से छुटकारा पाने पर ही प्राप्त हो सकती है और आणवमल से छुटकारा पाने के लिए मलपरिपाक आवश्यक है जो कर्मों के अनुभव द्वारा ही हो सकता है और कर्म जगत् में ही किये जा सकते हैं।

अपने धर्मों से अलग कुछ और नहीं होता। घड़ा मृत्तिका से अलग कोई अन्य वस्तु नहीं है, यह केवल एक विशेष परिष्कार की अवस्था में है। अव्यक्त का व्यक्त होना कारण की एक चेतन कर्त्तृता को निहित करता है।

जैन वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व दो रूप मानकर इसके कारण के लिए ईश्वर की अपेक्षा नहीं करते। यदि अस्तित्व में आना और नष्ट होना वस्तु का स्वभाव है तो उन कार्यों के लिए जो स्वभावतः होते हैं, ईश्वर अनावश्यक है।

शैव-सिद्धान्त के अनुसार एक वस्तु का दो विरोधी, अस्तित्ववान और अनस्तित्ववान स्वभाव नहीं हो सकता। यदि यह अस्तित्ववान है तो उसी समय यह अनस्तित्ववान नहीं हो सकता। यदि यह अस्तित्व में नहीं है तो इसे अस्तित्ववान भी नहीं कहा जा सकता। ये परस्पर विरोधी गुण हैं, इसलिए एक वस्तु का स्वभाव नहीं हो सकते। यदि यह कहा जाय कि अस्तित्व और नास्तित्व से अस्तित्व कारण रूप और नास्तित्व कार्य रूप अर्थ लिया जाता है तो शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि कारण और कार्य अभिन्न हैं। क्योंकि कारण अस्तित्ववान होता है, इसलिए इसका कार्य इसमें अव्यक्त होता है और बाद में किसी कर्ता के हस्तक्षेप से अभिव्यक्त हो जाता है।

वास्तव में जैन वस्तु के स्वरूप के प्रति अनेकान्तिक दृष्टि रखते हैं। ये दृष्टियाँ वस्तु के स्वरूप के प्रति संभावनायें व्यक्त करती हैं। संभावनाओं का सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता। परन्तु संभावनाओं को ही वस्तु के स्वरूप की व्याख्या भी नहीं माना जा सकता। संभावनाओं द्वारा जानने का प्रयास तो किया जा सकता है परन्तु बिना किसी एक संभावना को स्वीकार किये किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता। जैन संभावनाओं का प्रतिपादन करते हैं, परन्तु कोई निष्कर्ष प्रदान नहीं कर पाते। केवल तर्क के आधार पर अथवा बुद्धि द्वारा इन संभावनाओं से किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता क्योंकि संभावनायें अनन्त होंगी। संभावनाओं को एक अन्त प्रदान करने के लिए शैव-सिद्धान्ती श्रुतियों (आगमों) का सहारा लेते हैं। शैव-सिद्धान्त के अनुसार आगम ईश्वर के प्रकाशन हैं अतः जहाँ बुद्धि निर्णय न ले पाती हो वहाँ आगम ही निर्णायक हैं।

प्रकृति-परिणामवाद :—सांख्य दर्शन सत्कार्यवादी है परन्तु कार्य के उत्पादन के लिए किसी चेतन निमित्त कारण को स्वीकार नहीं करता। प्रकृति सृष्टि के विकास का प्रथम कारण है जो रज, सत् और तम तीन गुणों की साम्यावस्था है। इस साम्यावस्था में विक्षोभ होने से प्रकृति विकासोन्मुख होती है। जगत प्रकृति-पुरुष संयोग का परिणाम है। कार्य रूप जगत् अपने उपादान कारण प्रकृति में अव्यक्त रहता है। इसके स्वरूप पर एक आवरण पड़ा होता है। प्रकृति को अपना स्वरूप व्यक्त करने के लिए किसी निमित्त कारण की आवश्यकता नहीं होती। जब प्रकृति

महत् में विकास करती है तब इसके स्वरूप में अन्तर आरम्भ होता है।[1] यहाँ गुण स्वयं गति में प्रवृत्त होते हैं। सांख्य और योग की मान्यताओं में थोड़ा सा विभेद है। सांख्य के अनुसार कर्म आवरण का प्रतिरोध करता है, परन्तु योग के अनुसार ईश्वर की इच्छा इस आवरण का प्रतिरोध करती है।

सांख्य कारणता-सिद्धांत के अनुसार अचेतन के पास भी कारणात्मक क्षमता होती है। गाय के स्तन से बछड़े के लिए स्वतः दूध निकलता है। अचेतन चुम्बक लोहे को अपनी ओर आकर्षित करता है। इस प्रकार सांख्य की दृष्टि में जगत् के कारण रूप में प्रकृति की मान्यता से इसके विकास और प्रलय में चेतन सृष्टिकर्ता की आवश्यकता नहीं पड़ती।[2] इस सन्दर्भ में यह नहीं कहा जा सकता कि अचेतन प्रकृति के जगत् का कारण होने से सदा ही विकास होता रहेगा अथवा प्रलय ही होता रहेगा। विकास और विनाश निरन्तर प्रक्रियायें हैं। विकास स्व-संभवन है और विनाश भी इसके विपरीत दृष्टि से स्व-संभवन ही है। यद्यपि प्रकृति का विकास स्व-विकास है, परन्तु यह आत्माओं के लिए है। इस प्रकार यह एक नैतिक उद्देश्य[3] भी साध्य करता है। आत्म-संभवन प्रक्रिया अन्तर्यामिता से जीवों के भोग और कैवल्य के दो अन्तों द्वारा अनुबन्धित है। यह विकास जीवों के हित द्वारा नियन्त्रित होता है।

सांख्य के लिए गुण का अर्थ 'विशेषता' नहीं बल्कि घटक है। सांख्य की प्रकृति साम्यावस्था में तीन घटक है।[4] अनेक और उपादान होने से यह जगत् का अविकसित उपादान कारण हो सकता है, परन्तु केवल एक सम्बन्धवाची अर्थ में। अपने विकासों के सम्बन्ध में प्रकृति उपादान कारण है, परन्तु अति सूक्ष्म पदार्थों के सम्बन्ध में यह कार्य है। इसलिए इसे मूलभूत कारण नहीं माना जा सकता।[5] इसलिए शैव-सिद्धान्त माया को उपादान कारण मानता है जिससे सभी चीजें निःसृत होती हैं और जिसमें सभी चीजें विलीन होती हैं।[6]

प्रलय और सृष्टि के बीच सम्बन्ध बिना निमित्त कारण के स्थापित नहीं किया जा सकता। सूत आदि यद्यपि उपादान कारण हैं, परन्तु बिना बुनकर के कर्तृत्व के

१. मापादियम् पृ० ६६
२. सांख्य प्रवचन सूत्र II, ४६
३. संघात परार्थत्वात, सांख्यकारिका, ७
४. यत्र सौक्ष्म्य पराकाष्ठा सा मायेति अभिधीयते, पौ० आ० ३-८
५. शै० प० पृ० ३०
६. मा० का० ४-५

वस्त्र के रूप में रूपान्तरित नहीं हो सकते। सभी कार्य यद्यपि उपादान कारण द्वारा व्याप्त हैं, परन्तु एक 'इच्छा' का निर्देशन आवश्यक है। मृत्तिका उपादान घड़े में रूपान्तरित होता है, परन्तु केवल कुम्भकार की इच्छा द्वारा निर्धारित होने के पश्चात ही। शैव-सिद्धान्त की माया भी जगत् का विकास नहीं कर सकती जब तक कि एक चेतन कर्ता की इच्छा उसमें समाविष्ट न हो। अचेतन सत्ताओं की कारणात्मक क्षमता सांख्य के उदाहरणों द्वारा सिद्ध नहीं हो पाती। गाय के स्तन से दूध स्वत. नहीं निकलता उसमें चेतन क्रिया निहित है। चुम्बक स्वयं लोहे को आकर्षित नहीं करता जब तक कि उसे उचित दिशा में न ले जाया जाय।

मीमांसा :—मीमांसक जगत् को शाश्वत मानते है। उनका कहना है कि हम केवल शरीर आदि की ही उत्पत्ति और विनाश देखते हैं। हम सम्पूर्ण भौतिक जगत् की उत्पत्ति और विनाश नहीं देखते। जगत् अंश रूप में उत्पन्न और नष्ट हो सकता है, परन्तु सम्पूर्ण रूप में जगत स्थित रहता है और सदैव वैसा ही बना रहता है। अतः केवल उसके अंशों की उत्पत्ति और विनाश से हम सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति और विनाश नहीं मान सकते। परन्तु शैव-सिद्धान्त के अनुसार भौतिक जगत् साधारण संघ नहीं है। यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से निर्मित है। इसकी भी उत्पत्ति और विनाश वैसे ही होती है जैसे इसके अंशों की।

जगत् को शाश्वत मानने से मीमासकों को जगत् के एक स्रष्टा को मानने की आवश्यकता नहीं होती। मीमांसकों की एक उक्ति है 'न कदाचिदनीदृशम् जगत्' अर्थात् जगत् कभी इसके विपरीत नहीं था। जगत् जैसा इस समय है वैसा ही इसके पूर्व भी था। इसलिये जगत् की सृष्टि नहीं मानी जा सकती। इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् का विनाश भी नहीं माना जा सकता। जब जगत् का एक भाग नष्ट होता है तो दूसरा उत्पन्न हो जाता है। यह कहना कि सम्पूर्ण जगत् नष्ट हो जाता है, श्रुतियों के इस कथन कि 'कार्य-जगत् शाश्वत है', का विरोध करना है। फिर भी, यदि प्रत्येक वस्तु एक साथ नष्ट हो जाती है तो कुछ भी शेष नहीं बचेगा जिससे जगत् की पुनः उत्पत्ति हो सके। इसलिये यह माना जाता है कि जगत् का एक भाग नष्ट हो जाता है, जब दूसरा उत्पन्न होता है। शैव-सिद्धान्त इसे नहीं मानता। ऐसा पाया जाता है कि समान वर्ग से सम्बन्धित वस्तुयें एक निश्चित समय पर अस्तित्व में हैं और दूसरे समय में नष्ट हो जाती हैं, जैसे वसंत के आगमन पर वृक्ष में नवीन कोपलें अभिव्यक्त और विकसित होती है तथा पतझड़ के आरम्भ में नष्ट हो जाती हैं। इसी प्रकार जगत् भी भौतिक होने से उसी के समान उत्पत्ति

और विनाश का विषय है।[1] जब इसका समय आता है तो जगत् अभिव्यक्त हो जाता है, फिर जब इसका समय पूरा हो जाता है तो जगत् नष्ट भी हो जाता है। अन्तराल अपूर्व रूप से दीर्घ हो सकता है, परन्तु प्रक्रिया अनुरूप है।

शैव-सिद्धान्ती जगत् को कार्य मानते हैं, इस आधार पर कि यह विभिन्न और सीमित है। अपने तर्क को वे घटनाओं के अध्ययन के विश्लेषण का आधार देते हैं। उनका स्वभाव प्रकट करता है कि वे कार्य हैं। वस्तुओं के मूलभूत स्वभाव पर आधारित होने से तर्क सदोष नहीं माना जा सकता। जगत् के सभी वर्ग परिवर्तित होते देखे जाते हैं, इसलिये भी जगत् सृष्टि और संहार का विषय है। इस सन्दर्भ में कालवादी कहते हैं कि यदि जगत् अवधि के अनुसार उत्पन्न और नष्ट किया जाता है तो जो इसके उत्पत्ति और संहार को प्रभावित करता है, वह क्यों न काल मान लिया जाय, न कि ईश्वर। शैव-सिद्धान्ती उत्तर में कहते है कि काल जड़ और अचेतन है। काल जगत् का निमित्त कारण नहीं हो सकता। यह एक तथ्य है कि जगत् के परिवर्तनों में काल की एक विशेष भूमिका होती है, परन्तु यह केवल ईश्वर द्वारा प्रेरित होने पर ही कार्य करता है। इसे केवल सहकारी कारण माना जा सकता है। शैव-सिद्धान्त में काल स्वयं सृष्टि-विकास का एक तत्त्व है तथा प्रलय में सभी तत्त्वों के नष्ट होने के साथ यह नष्ट भी हो जाता है। इस प्रकार उत्पत्ति और विनाश का विषय होने से काल सृष्टि का कारण नहीं हो सकता।

मीमांसक वस्तु जगत् की सृष्टि तथा संहार मानते प्रतीत होते हैं, परन्तु मूल जगत् की सृष्टि तथा संहार कभी नहीं मानते। शैव-सिद्धान्त वस्तु जगत् की सृष्टि तथा संहार के आधार पर मूल जगत् की सृष्टि तथा संहार का अनुमान करता है। अनुमान को सर्वथा सत्य स्वीकार नहीं किया जा सकता, इसलिये मीमांसक मत को सर्वथा निराधार नहीं कहा जा सकता। किन्तु शैव-सिद्धान्ती अपने अनुमान को आगम से प्रमाणित करते हैं। वे आगमिक कथनों में कोई तार्किक दोष नहीं पाते इसलिये अपने मत को प्रमाण पुष्ट मानते हैं।

न्याय-वैशेषिक :— न्याय-वैशेषिक अपने कारणता सिद्धान्त में असत्कार्यवादी हैं। वे कार्य की सर्वथा नवीन उत्पत्ति मानते हैं। वे कारण को उपादान नहीं मानते जिसका रूपान्तरण अथवा परिणाम हो सके। कार्य कारण से अलग नहीं रह सकता। इसलिये कार्य की पूर्वस्थिति को यद्यपि नहीं मानते परन्तु उनके अनुसार कारण निरन्तर अस्तित्व में रहता है। कारण कार्य को उत्पन्न करता है और

१. यहाँ शैव-सिद्धान्त एक कर्ता की आवश्यकता पर जोर देता है जो अवधि के अनुसार जगत को उत्पन्न और नष्ट करे।

इसके आधार रूप में बना रहता है। कारण-कार्य में समवायि सम्बन्ध है जो गुण और गुणी में, अवयव और अवयवी में रहता है। कारणता एक नये अस्तित्व का आविर्भाव निहित करता है। सभी उत्पादन मात्र पुर्नसंगठन हैं और पुर्नसंगठन एक नये कार्य को उत्पन्न करता है। इस प्रकार उत्पन्न कार्य सर्वथा नवीन वस्तु है जो अपने आधार से भिन्न है।

न्याय-वैशेषिक परमाणुओं के संयोग से विश्व की सृष्टि मानते हैं। विश्व के नष्ट हो जाने पर प्राथमिक परमाणु विश्व का निर्माण करने के लिये एकत्र होते हैं; कुछ समय के लिये एकत्रित रहते हैं और फिर अलग हो जाते हैं। वे सृष्टि के लिये ईश्वर को महत्त्व प्रदान करना आवश्यक नहीं समझते। कर्म और काल के समान ईश्वर की इच्छा भी कारणों में से एक कारण है, इससे अधिक कुछ उसके लिये नहीं कहा जा सकता।

शैव-सिद्धान्त के अनुसार परमाणु कर्म और काल के समान जड़ हैं। वे अपने संयुक्त कार्य से सृष्टि आदि नहीं कर सकते। उनके लिये एक चेतन कर्ता की सहायता अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त जब विश्व नष्ट होता है तो परमाणु भी नष्ट हो जाते हैं, फिर उनका पुर्नसंगठन भी असंभव प्रतीत होता है।

परमाणु विश्व के कारण हैं। यदि वे नष्ट होते हैं तो उनके भोग का परिणाम भी नष्ट हो जाता है। शैव-सिद्धान्त जगत् का प्रथम कारण माया को मानता है जो शाश्वत और दिव्य शक्तियों से परिपूर्ण है। परमाणु जगत् का कारण नहीं माने जा सकते क्योंकि परमाणु बहुगुण और सावयव होने से कार्य रूप हैं। कोई भी वस्तु जो बहुगुण और सावयव है, कार्य रूप मानी जाती है, जैसे घट आदि। अणुओं के भी अवयव[1] होते हैं क्योंकि सावयव न होने से दो या दो से अधिक अणुओं में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। सभी कार्य सावयव होने से नष्ट-प्राय हैं, परमाणु भी नष्ट प्राय हैं। शैव-सिद्धान्त में माया निरवयव होने से अविनाशी है। यद्यपि मूल परमाणु नष्ट हो सकते हैं फिर भी जगत् की पुनः उत्पत्ति में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती।

ब्रह्म-परिणामवाद:—परिणामवाद के अनुसार कार्य कारण का विकास है। कार्य के रूपान्तरण में कारण अपना पूर्वरूप समाप्त कर देता है और एक भिन्न तथा नवीन रूप ग्रहण करता है। इस सिद्धान्त को मानने वाले जगत् को ब्रह्म का रूपान्तरण अथवा परिणाम मानते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य के सत्ता में आने पर

१. अणु की जिस अवस्था को परमाणु माना जाता है, वह अनुमान के आधार पर शैव-सिद्धान्त को मान्य नहीं है—शै० प० पृ० ३७

कारण समाप्त हो जाता है।[1] इसकी आलोचना में शैव-सिद्धान्त की तरफ से कहा जाता है कि चूंकि मृत्तिका के घट में रूपान्तरण के विषय में उपादान कारण की कोई समाप्ति नहीं होती इसलिए ब्रह्म-परिणामवाद के विषय में प्रश्न उठता है कि ब्रह्म का पूर्ण परिणाम होता है अथवा केवल इसके किसी अंश का। ब्रह्म जो सम्पूर्ण है, कभी भी जगत् नहीं हो सकता क्योंकि सम्पूर्ण कभी अंश नहीं हो सकता और न ही अंश कभी सम्पूर्ण हो सकता है। ब्रह्म सदैव सम्पूर्ण होता है और भागों का धारक होता है तथा कभी भाग नहीं हो सकता, इसलिए ससीम और सीमितता का विषय रूप जगत् वह कभी नहीं हो सकता।

अपूर्व परिणामवादी जगत् को शिव का रूपान्तरण मानते समय कहते हैं कि माया द्वारा विशेषित शिव जगत् का उपादान कारण है। परन्तु शैव-सिद्धान्त के अनुसार किसी भी प्रकार निमित्त कारण का रूपान्तरण जगत् नहीं हो सकता, जब तक कि उसमें जड़त्व आरोपित न किया जाय। जगत् को शिव का आंशिक विकास नहीं माना जा सकता क्योंकि तब शिव के अंगों को मानना पड़ेगा। सम्पूर्ण विकास मानने पर छत्तीस तत्त्वों के विकास की व्याख्या नहीं हो पाती। क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि परम तत्त्व (चित्) पहले शिव तत्त्व का विकास करता है, फिर बाद में शक्ति आदि तत्त्व का। मृत्तिका उपादान जो एक घट में विकसित होता है, दूसरे घटों में विकास करता नहीं देखा जाता। न ही यह कहा जा सकता है कि केवल प्रथम तत्त्व शिव परमतत्त्व का विकास है और अन्य इससे एक से एक करके विकसित होते हैं क्योंकि यह शिव के सभी प्रपंच का उपादान होने के विरुद्ध होगा।

शिव अपरिवर्त्य है, इसलिए ऐसा कोई भी परिणाम नहीं माना जा सकता जिससे शिव के स्वरूप में परिवर्तनशीलता की संभावना हो। परिणाम का एक प्रकार है जिसमें धागे वस्त्र में परिवर्तित होते हैं। दूसरे प्रकार में दूध दही में बदल जाता है। तीसरे प्रकार में अनाज ढेर के रूप में एकत्रित होता है। एक चतुर्थ प्रकार भी है जिसमें सार में कोई परिवर्तन नहीं होता। गोला किया गया वस्त्र तम्बू कहा जाता है। यह केवल अवस्था का परिवर्तन निहित करता है। एक कुन्डली मार कर बैठा हुआ सर्प बिना कुन्डली मारे सर्प से पूर्णतः भिन्न है। यह न तो एक विकास में विकसित है और न ही एक नये कार्य में परिणमित।[2] यह नहीं कहा जा सकता कि एक तम्बू कुछ नहीं बल्कि गोला किया हुआ कपड़ा है तथा यह भी नहीं कहा जा

१. रामानुज ब्रह्म परिणामवाद मानते हैं, परन्तु उनका ब्रह्म जगत् में परिणमित होने के पश्चात समाप्त नहीं होता।

२. शिवज्ञानबोधम पृ० १८३, मापादियम् पृ० १७४

सकता कि गोला किया हुआ कपड़ा तम्बू नहीं है। इस प्रकार की अवधारणायें शिव के संकोच-विकास में मानी जा सकती हैं।

शैव-सिद्धान्त के अनुसार शिव पर किसी भी प्रकार की परिवर्तनशीलता आरोपित नहीं की जा सकती। संकोच-विकास सम्बन्धी अवस्थाओं के परिवर्तन को केवल माया पर आरोपित किया जा सकता है। शिव के लिए प्रयुक्त ये परिवर्तन मात्र प्रतीकात्मक हैं। माया का भी रूपान्तरण इन रूपान्तरणों के समान नहीं है। दूध का दही के रूपान्तरण में अनिवार्यता है, परन्तु माया के विषय में प्रलय और विकास है। भौतिकता से देखने पर प्रलय विपरीतार्थ में एक कारणात्मक अनुक्रम है। इस प्रकार कारण में ही कार्य का समाधान (विलय) होता है।

विवर्तवादः—अद्वैत-वेदान्त विवर्तवाद को मानता हैं जिसके अनुसार कार्य-कारण का विवर्त है। कारण का किसी अर्थ में सही रूपान्तरण नहीं होता। कार्य असत् और मिथ्याभास माना जाता है। इस प्रकार कार्य एक अवास्तविक आभास है, यह वास्तविक रूपान्तरण नहीं है। कारण का उसी स्वरूप में रूपान्तरण परिणाम है और उससे भिन्न स्वरूप में रूपान्तरण विवर्त है। कारण से अभिन्न कार्य परिणाम है और जो न तो अभिन्न है और न ही भिन्न वह विवर्त हैं। अद्वैत-वेदान्त केवल ब्रह्म को सत्य मानता है, इसलिए कार्य रूप जगत् को वह मिथ्याभास मानता है।[1] यह किसी भी अर्थ में सत्य नहीं है। ब्रह्म निमित्त और उपादान कारण दोनों है। जगत् का मिथ्याभास माया के कारण होता है जो ब्रह्म के साथ शाश्वत है। माया के ही कारण ब्रह्म आकाश, जल और अन्य तत्त्वों के रूप में प्रपंचमय होता है।

अद्वैत-वेदान्त का कारण-कार्य सम्बन्ध सत् और असत् के बीच सम्बन्ध है। इस लिए इस सम्बन्ध को भी असत् कहा जा सकता है।[2] ब्रह्म जगत् के अनुभवातीत आधार रूप में है और जगत् बिना ब्रह्म के कुछ नहीं है। शैव-सिद्धान्त में शिव आत्म रूप में मूलतः अनुभवातीत है, परन्तु अपनी इच्छा से जगत् का अन्तर्भूत कारण भी है। सत् से असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती इसलिए जगत् का मिथ्याभास नहीं माना जा सकता।[3] यह मानते हुए भी कि जो प्रतीत होता है, सत्य नहीं है, अन्ततः प्रतीत होने वाले क्षण को मानना पड़ता है। रेगिस्तान में जल का आभास हो सकता है परन्तु जलाभास, मृगतृष्णा को मानना पड़ता है।

---

१. किसी एक वस्तु को ही केवल सत्य मानने के लिए आवश्यक है कि उससे इतर सारी वस्तुयें असत्य मानी जाँय।

२. मूर्ति, टी० आर० वी 'दि टू डेफिनीशन्स आफ ब्रह्मन इन दि अद्वैत'

३. शै० प० पृ० ४२

अद्वैत-वेदान्त ब्रह्म को निमित्त और उपादान दोनों कारण मानता है। शैव-सिद्धान्त शिव को केवल निमित्त कारण मानता है।[1] क्योंकि परमतत्त्व से, जो सत् है, किसी भी प्रकार का कोई अचेतन स्वरूप परिणमित नहीं हो सकता। अद्वैत-वेदान्ती कहते हैं कि ब्रह्म से जगत् परिणमित नहीं होता, केवल इसके परिणमन का आभास होता है। परन्तु इस मिथ्याभास का आधार भी ब्रह्म नहीं माना जा सकता क्योंकि आधार अथवा इसका उपादान मानने पर ब्रह्म को इससे सम्बन्धित होना पड़ेगा और यह सम्बन्ध किसी प्रकार ब्रह्म को प्रभावित भी कर सकता है। अद्वैत-वेदान्ती ब्रह्म को अपरिवर्त्य और अप्रभावित मानते हैं, इसलिए ब्रह्म जगत् के मिथ्याभास का भी उपादान नहीं माना जा सकता। यह मिथ्याभास माया के कारण होता है, इसलिए माया को ही इसका उपादान कारण होना चाहिए।

वास्तव में अद्वैत-वेदान्ती ब्रह्म को शुद्ध सत् और अपरिवर्त्य मानने पर केन्द्रित हैं, इसलिए जगत् को मिथ्याभास मान लेते हैं ताकि ब्रह्म के प्रभावित होने की संभावना न हो। परन्तु मिथ्या मान कर जगत् की व्याख्या नहीं हो सकती।[2] क्योंकि जगत् के ही आधार पर शैव-सिद्धान्ती ईश्वर की सत्ता सिद्ध करते हैं। अद्वैत-वेदान्ती मानते हैं कि जिस प्रकार रज्जु पर सर्प अध्यास है, वैसे ही जगत् ब्रह्म पर अध्यास है। रज्जु सर्प अध्यास में सर्प का अस्तित्व माना जा सकता है जब तक कि व्यक्ति विभ्रमित है। परन्तु यह अस्तित्व कोरा मानसिक है। यहाँ वास्तविकता है कि रज्जु सर्प नहीं बनता, इस प्रकार अप्रभावित रहता है। इसी प्रकार जगत् का भी मिथ्याभास माना जा सकता है, और ब्रह्म को अप्रभावित भी माना जा सकता है। परन्तु रज्जु सर्प अध्यास में कार्य रूप सर्प का उपादान रज्जु नहीं हो सकता, यह केवल व्यक्ति का मनस् हो सकता है जो विभ्रमित होता है। रज्जु सर्प की सृष्टि से सर्वथा अछूता है। यह सृष्टि मानसिक कही जा सकती है और तब इसका उपादान भी मनस ही कहा जा सकता है। रज्जु को केवल इसका निमित्त कारण कहा जा सकता है। रज्जु सर्प के उदाहरण द्वारा की गई सृष्टि की व्याख्या में दो बातें मिलती हैं। या तो इस उदाहरण के आधार पर सृष्टि हो ही नहीं सकती या फिर इस दृष्टान्त का चयन ही गलत है। इस उदाहरण के अनुसार रज्जु को ब्रह्म तथा सर्प को जगत् माना जाता है जिसके

१. शैव-सिद्धान्त भी शिव को उपादान कारण मानता है, परन्तु एक अपने विशिष्ट अर्थ में जिसका विवेचन शैव-सिद्धान्त की विशिष्टताओं के सन्दर्भ में आगे की जाएगी।

२. जगत् जैसी सत्य प्रतीत होनी वाली वस्तु को मिथ्या मान लिया जाय और ब्रह्म को सत्य मान लिया जाय, जिसकी केवल परिकल्पना की जा सकती है, यह बात तर्क संगत प्रतीत नहीं होती।

अनुसार जगत् ब्रह्म पर अध्यस्त है। किन्तु सर्प का मिथ्याभास व्यक्ति को होता है रज्जु को नहीं और यह स्पष्ट है कि रज्जु व्यक्ति नहीं है (अर्थात् रज्जु और व्यक्ति दो हैं) अद्वैत वेदान्त में केवल ब्रह्म की ही सत्ता है, ब्रह्म ही व्यक्ति है (अर्थात् ब्रह्म और व्यक्ति दो नहीं हैं)। अध्यास की अवस्था में ही (अर्थात् विभ्रम की अवस्था में ही) ब्रह्म और व्यक्ति का विभेद होता है, किन्तु अध्यास तब तक नहीं हो सकता जब तक ब्रह्म से भिन्न व्यक्ति न हो। इस प्रकार परस्पर विरोधी स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म को सृष्टि से अप्रभावित भी माना गया है तथा ब्रह्म और आत्मा का द्वैत भी स्वीकार नहीं किया गया है। रज्जु सर्प के दृष्टान्त के आधार पर विना द्वैत को मान्यता प्रदान किये सृष्टि की व्याख्या नहीं हो सकती। अद्वैत मानने पर ब्रह्म को स्वयं जगत् के रूप में आभासित होना पड़ेगा। अद्वैत मानते हुए ब्रह्म पर जगत् का अध्यास नहीं माना जा सकता। ऐसा मानने पर ब्रह्म को अविद्या अर्थात अज्ञान से प्रभावित मानना होगा किन्तु ज्ञान स्वरूप ब्रह्म अज्ञान से प्रभावित नहीं हो सकता।

अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म जगत् से किसी भी प्रकार सम्बन्धित नहीं हो सकता, इसलिए उसकी परिकल्पना का उपयोग नहीं हो सकता क्योंकि जगत् से नितान्त परे होने के कारण वह आत्माओं का हित साधन नहीं कर सकता। ब्रह्म का जगत् से सम्बन्ध होना आवश्यक है, परन्तु यह मिथ्यात्व के प्रतिपादन में संभव नहीं है और जगत् को मात्र मिथ्या कह कर छोड़ देना भी संभव नहीं है। यदि इसे मिथ्या ही कहना है तो क्यों न वास्तविक-मिथ्या कहा जाय। यह नाशवान है, इसलिये मिथ्या कहा जा सकता है परन्तु इसमें कुछ स्थायित्व भी है, इसलिए इसे वास्तविक भी कहा जा सकता है।

अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की आलोचना करने के पश्चात शैव-सिद्धान्ती अपने दर्शन की विशिष्टताओं का प्रतिपादन करते हैं। वे शिव को सर्वोच्च पद पर आसीन कराने के लिए शिव को निमित्त कारण, जगत् का स्रष्टा मानते हैं। वे शिव को सभी सत्ताओं का कारण मानते हैं। शिव की सर्वोच्चता स्थापित करने के क्रम में शैव-सिद्धान्त शिव को उपादान कारण भी मान लेता है परन्तु अपने विशिष्ट अर्थ में।

शिव जगत् का कारण :—शैव-सिद्धान्त माया को जगत् का प्रथम कारण मानता है, परन्तु अकेले माया इसके परिवर्तनों को संपादित कर लेने में सक्षम नहीं है। माया अचेतन है, इसलिये जगत् की सृष्टि के लिये ईश्वर आवश्यक है। जिस प्रकार घट कुम्भकार द्वारा मृत्तिका आदि से उत्पन्न एक कार्य है, वैसे ही तात्त्विक जगत् ईश्वर द्वारा माया से उत्पन्न एक कार्य है। घट जैसे कार्य के उत्पादन के लिये तीन कारण अपेक्षित हैं—प्रथम कारण (मृत्तिका), सहायक कारण (चक्र, दण्ड आदि) और निमित्त कारण (कुम्भकार)। उसी प्रकार जगत् के लिये माया,

शक्ति और ईश्वर की आवश्यकता होती है। आत्मा भी चेतन है, परन्तु उसे जगत् का उत्पादक नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह ससीम है और इसे ज्ञान तब होता है जब माया द्वारा भौतिक और मानसिक साधन इसे प्रदान किया जाता है।[१] माया को भी अन्तिम और निमित्त कारण नहीं कहा जा सकता क्योंकि जड़ जगत् का कारण होने से यह स्वयं चेतन नहीं है। इसलिये केवल ईश्वर ही बचता है जिसे जगत् का स्रष्टा कहा जा सकता है।

शिव को सृष्टि करने के लिये देश, काल की अपेक्षा नहीं होती है। ईश्वर को स्रष्टा मानने पर एक स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि कुम्भकार घट का निर्माण करते समय पृथ्वी पर स्थित होता है, परन्तु ईश्वर जगत् का निर्माण करने के लिये कहाँ स्थित हो सकता है? जगत् स्वयं अस्तित्व में नहीं आ जाता, इसे ईश्वर को सृष्ट करना पड़ता है। ईश्वर जगत् की रचना करने के लिये कहाँ स्थित होगा, यदि देश भी अस्तित्व में नहीं आया रहता। साधारणतः किसी वस्तु के अस्तित्व को वह कहाँ और कब है, के बिना नहीं सोचा जा सकता। इसलिये ईश्वर को भी अपना कार्य करने के लिये कहीं स्थित होना ही चाहिए। इस दृष्टि से देश को सृष्टि से पूर्व अस्तित्व में होना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि ईश्वर प्रत्येक जगह रहता है, तो हम पाते हैं कि जो कुछ भी प्रत्येक जगह के रूप में कहा जाता है, वह स्वयं ईश्वर द्वारा अस्तित्व में लाया जाता है। इस प्रकार ईश्वर सृष्टि नहीं कर सकता यदि उसे स्थित होने के लिये कोई देश पहले से नहीं है, किन्तु जब तक वह सृष्टि नहीं करता, कोई देश हो भी नहीं सकता। शैव-सिद्धान्त में शिव के लिये ये समस्यायें उत्पन्न ही नहीं हो सकतीं। उसकी कोई भौतिक संरचना नहीं है जिसे स्थित करने के लिये देश की अपेक्षा हो। काल अचेतन और जड़ है, इसलिये शिव के कार्यों को प्रभावित नहीं कर सकता। यह स्वयं शिव द्वारा सृष्ट है। शिव का कार्य देश काल में निर्धारित नहीं किया जा सकता। वह बिना देश और काल के ही देश और काल की सृष्टि कर सकता है। उसकी शक्ति कुछ भी कर सकने में समर्थ है। शिव के कार्यों की तुलना कुम्भकार के कार्यों से नहीं की जा सकती। कुम्भकार सीमित है और शिव द्वारा सृष्ट है तथा शिव की इच्छा से प्रेरित हो कर ही घट जैसे कार्य का सम्पादन करता है। जो कुछ भी शक्तियाँ (सीमित शक्तियाँ) कुम्भकार में हैं, वह शिव द्वारा प्रदत्त हैं।

ईश्वर वाणी और विचार से परे है। इसे जगत् के सादृश्य के आधार पर नहीं समझा जा सकता। जगत् अस्तित्व में लाया जाता है, पालन किया जाता है,

१. आत्मा अनादि आणव से ग्रस्त है। माया प्रदत्त साधनों से कर्म करके ही ज्ञान प्राप्त करता है।

और समय पर नष्ट कर दिया जाता है। यहाँ इस प्रकार समय बिना स्वयं किसी वस्तु की सहायता प्राप्त किये इन सभी घटनाओं का कारण होते हुए उन सबकी सहायता करता है। ईश्वर की स्थिति भी इसी प्रकार समझा जा सकता है। शैव-सिद्धान्त सृष्टि की प्रक्रिया में समय की महत्ता को मानता है, परन्तु उसके लिये समय केवल सहायक कारण है। शैव-सिद्धान्त में काल स्वयं सृष्टि-विकास का एक तत्त्व है तथा सभी तत्त्वों के साथ यह भी नष्ट हो जाता है।

शैव-सिद्धान्ती काल का भूत, वर्तमान और भविष्य में विभाजन मानते हैं, परन्तु सृष्टि, स्थिति और संहार के कार्यों से ईश्वर प्रभावित नहीं होता। वे ईश्वर की अतिभौतिक और इन्द्रियातीत अवस्थितियाँ मानते हैं। जाग्रत, स्वप्न आदि की अवस्थाएँ आत्मा के लिये उत्पन्न होती हैं और रहती हैं। आत्मा इन अवस्थाओं का विषय हो जाता है और उनसे अनुबन्धित सा हो जाता है। इसी प्रकार ईश्वर जिनमें सम्पूर्ण विश्व मिल जाता है और जहाँ से वह पुनः उत्पन्न होता है, लय, भोग और अधिकार के विषय हो जाते हैं। परन्तु ईश्वर न तो इनसे प्रभावित होता है और न ही विभिन्न अवस्थाओं का विषय होने के लिये अनुबन्धित ही है। ईश्वर जगत् से केवल अपनी उपस्थिति और कार्य से सम्बन्धित है। किसी अन्य प्रकार का सम्बन्ध इस पर आरोपित नहीं किया जा सकता।

ईश्वर आत्माओं की थकान को दूर करने के लिये जगत् को नष्ट करता है और उसे पुनः उत्पन्न करता है। माया के उत्पादन उनकी कार्य अवस्था में नष्ट कर दिये जाते हैं परन्तु अपने कारण में अव्यक्त रूप से रहते हैं। माया के उत्पादन ईश्वर द्वारा अभिव्यक्त किये जाते हैं। जब सूर्य प्रकाशित होता है तो कमल खिलते हैं, दाहक शीशे अग्नि प्रसारित करते हैं और पृथ्वी में जल सूखता है। यद्यपि सूर्य इन सभी परिवर्तनों के लिये उत्तरदायी है, परन्तु स्वयं किसी प्रकार से परिवर्तित नहीं होता है। उसी प्रकार ईश्वर सभी परिवर्तनों का कारण है, परन्तु स्वयं अपरिवर्त्य है।

शिव की इच्छा से सृष्टि होती है। सभी परिवर्तन इच्छित परिवर्तन हैं। इसलिये कहा जाता है कि सभी परिवर्तन इच्छा के सहज भाव से पैदा होते हैं।[1] कार्य में कारण की व्याप्ति के प्रत्येक विषय में दो पक्ष होते हैं, एक संकल्प और दूसरा उपादान का रूपान्तरण। कुम्भकार की इच्छा को उसकी सृष्टि को व्याप्त करने वाला कहा जा सकता है। वह घट का निर्माण करने से इसके प्रत्येक भाग को समझता है।[2] यदि वह न समझता तो उसके द्वारा निर्मित घट पर्वत जितना बड़ा

१. माण्डूक्य-कारिका III. १५
२. मा०का०१-२

हो जाता ।[1] सत्कार्यवाद के अनुसार कारण कार्य में इस अर्थ में निरन्तर है कि चेतन निमित्त कारण उपादान में अन्तर्भूत है जैसे इच्छा ही कार्य में विकसित होती है । मृत्तिका उपादान कुम्भकार की बुद्धि और इच्छा के अनुसार ही घट आदि होता है ।[2] उपादान कारण शिव की उपस्थिति से कार्यों को विकसित करता है । इस प्रकार निमित्त कारण के पास ही कार्य के उत्पादन की सीधी कारणता है । कारणता का वास्तविक गतिमान सिद्धान्त जो सत्कार्यवाद में माना गया है, वह चित् में अन्तर्विष्ट चित्-शक्ति है । सत्ता में अन्तर्भूत यही शक्ति है जो सृष्टि के कार्य के संपादन में कारण का कार्य करता है । इस प्रकार करण और कर्ता परस्पर सम्बन्धित हैं ।

कर्ता को सृष्टि करने के लिये कुछ साधन भी होना चाहिए । साधारणतः कर्ता के लिये शरीर आवश्यक है जिसके बिना वह कुछ करने की सोच भी नहीं सकता । ईश्वर आत्मरूप है । शरीर उसका साधन नहीं हो सकता क्योंकि वह अशरीरी है । कर्म भी साधन नहीं हो सकते क्योंकिकर्म शरीरी होने की पूर्व, मान्यता रखते हैं । हथौड़ा, निहाई आदि लोहार के कार्यों के तुरन्त के साधन नहीं हैं, यह लोहार के हथौड़ा उठाने और गिराने की उसकी इच्छा है जो कार्य के उत्पादन के लिये आवश्यक मानी जाती है । न ही यह बिन्दु या माया हो सकता है जो उपादान कारण परिभाषित किया गया है । इसका उपयुक्त साधन चित्-शक्ति ही माना जा सकता है । चित्-शक्ति भी जो इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप है, कारण नहीं हो सकती ।[3] चित्-शक्ति केवल तब करण होती है, जब यह एक विशिष्ट संकल्प में निर्धारित और साधनों से युक्त होती है और तभी कोई परिणाम भी ला सकती है । यदि कार्य का संकल्प न हो तो कुम्भकार जैसा कर्ता इच्छा रूप में चित्-शक्ति की निरन्तरता के कारण हर समय घड़े का ही उत्पादन करता रहेगा । यदि कुम्भकार की चित्-शक्ति ही घट का निर्माण करने के लिये आवश्यक और पर्याप्त शर्त होती तो उसे अपनी इच्छा मात्र से ही बिना मृत्तिका दण्ड और चक्र के ही घड़े का निर्माण कर लेना चाहिए । इच्छा कर्ता की कर्तृता में एक कारणात्मक अवस्थिति है, इसलिये एक ही साथ साधन भी नहीं हो सकती ।

इच्छा परिणाम लाने में साधन रूप हो सकती है परन्तु योग्य अथवा उचित सहायक कारणों के संयोग से ही । कुम्भकार की इच्छा को मृत्तिका और चक्र पर

१. रत्नत्रम, १२२-१२३.

२. शिव ज्ञान सिद्धियार, सुपक्कम १. १९.

३. शिवज्ञान बोधम पृ० १८५

आधारित होना पड़ता है। यदि कुम्भकार की चेतना अभिव्यक्त नहीं है अथवा उस पर किसी प्रकार का आवरण है तो उसकी इच्छा का कोई उपयोग नहीं हो सकता। उसकी कर्तृता परिणामतः सीमित और परतन्त्र है। इसलिये बाह्य सहायकों पर आश्रित है। किन्तु दिव्य इच्छा सदैव अबाधित होने से मल से स्वतन्त्र है और कोई भी चीज स्वतन्त्रतापूर्वक इच्छित हो सकती है। रचनात्मक इच्छा ही एक मात्र साधन है जो अबाधित होने से अद्वितीय है।

ईश्वर को स्रष्टा कहने पर एक प्रश्न और उत्पन्न हो सकता है कि किस प्रकार अरूप, ईश्वर सरूप जगत् को उत्पन्न करता है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार रूपहीन आकाश से दूसरे सरूप तत्त्व उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार रूपहीन ईश्वर से सरूप जगत् प्रकट होता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह कोई रूप ग्रहण नहीं कर सकता क्योंकि उसके लिये कुछ भी असंभव नहीं है। वह सरूप, अरूप और सरूप-अरूप दोनों है। वह जगत् के साथ एक है, जगत् से भिन्न है और जगत् के साथ एक तथा भिन्न दोनों है। वह पूर्णतया स्वतन्त्र और निर्मल है। वह अपनी इच्छा से कोई भी रूप ग्रहण कर सकता है।

वास्तव में ईश्वर रूपों का स्वतन्त्र स्रष्टा है, इसलिये ये रुप उसे सीमित या अनुबन्धित नहीं कर सकते। उसे अरुप मानना, उसे सृष्टि के एक वर्ग में रखना है जिससे आकाश सम्बन्ध रखता है। इसलिये यह मानना चाहिए कि ईश्वर इच्छा-नुसार अपनी चित्-शक्ति के माध्यम से कोई भी रुप ग्रहण कर सकता है। रुप ग्रहण करने में ईश्वर विकास की प्रक्रिया में नहीं जाता। इस प्रक्रिया का स्वामी होने से वह इसका विषय नहीं हो सकता। उसके रूप अभौतिक हैं, इसलिये वे माया से निर्मित नहीं हैं। ईश्वर विश्वमय और विश्वाधिक दोनों है। कोई शब्द ठीक-ठीक उसका वर्णन नहीं कर सकते। यद्यपि वह सभी वस्तुओं को व्याप्त करता है, परन्तु वह इनसे भिन्न है।

शिव जगत् का उपादान कारणः—शैव-सिद्धान्त शिव को केवल निमित्त कारण मानता है, परन्तु विशिष्ट अर्थों में अथवा कुछ विशिष्ट कारणों से इसे उपादान कारण भी कहा जा सकता है। शिव को जगत् से परे और जगत् में अन्तर्भूत भी कहा गया है। शिव विश्वातीत है, परन्तु अपनी शक्ति के माध्यम से माया और जगत् के साथ सम्बन्ध बनाये रखता है।[1] यह शक्ति जगत् की वस्तुओं को व्याप्त किये रहती है। इस शक्ति से शिव के उपादान कारणता की व्याख्या की जा सकती है। शैव-सिद्धान्त में माया को उपादान कारण माना गया है और शिव को माया का संचालक अथवा

१. शै०प० पृ० ३६

स्वामी कहा गया है ।[1] शिव की इच्छा शक्ति से प्रेरित होकर ही माया जगत् का उत्पादन करती है। माया अकेले जगत् का उत्पादन नहीं कर सकती क्योकि यह अचेतन है । इसलिए शिव की इच्छा शक्ति का संयोग आवश्यक है । परन्तु केवल संयोग मात्र से जगत् का उत्पादन नहीं होने लगेगा । शिव की इच्छा शक्ति को माया में अथवा माया के प्रत्येक कार्य में निरन्तर अन्तर्भूत रहना पड़ेगा ।[2] यद्यपि माया जगत् का उत्पादन करने में पूर्ण समर्थ है, परन्तु इस क्षमता का उपयोग शिव की शक्ति ही करती है । माया की निष्क्रिय अवस्था की क्षमता को क्षमता भी नहीं कहा जा सकता क्योकि यह कोई कार्य संपादित नहीं कर सकती । जब शिव की शक्ति इस क्षमता में अन्तर्भूत होती है, तभी यह सक्रिय हो पाती है । इस प्रकार वास्तविक क्षमता तो शिव की शक्ति ही है । एक दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि शिव की शक्ति माया के रूप में सृष्टि करती है ।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि शिव निमित्त रूप में तो आवश्यक है ही, उपादान कारण की जीवनी शक्ति के रूप मे भी आवश्यक है । इस प्रकार उपादान कारण रूप में शिव की शक्ति का ही उपयोग होता है, इसलिए शिव को जगत् का उपादान कारण भी कहा जा सकता है ।

शैव स्मृतियों, पुराणों और शैवागमों में कहा गया है कि यह सब चेतन और अचेतन जगत् शिव से उत्पन्न होता है ।[4] शिव में ही प्रत्येक चीज सुरक्षित है, वहीं से सबका प्रारम्भ है, वह सर्वोच्च अवस्था है ।[5] इन सभी वर्णनों में शिव के लिए पचमी कारक का प्रयोग हुआ है । पंचमी कारक उपादान और इसके कार्य के बीच के सम्बन्ध का द्योतक है । इससे यह अर्थ लिया जा सकता है कि विश्व शिव से उत्पन्न होता है ।[6] ईश्वर की उपादान कारणता के समर्थन में बहुत से रूपक श्रुतियों में

१. मायाम् तु प्रकृतिम् विधि, मायिनन्तु महेश्वरम्–श्वेताश्वत उप० (४–१०)
२. ऐसा नहीं हो सकता कि शिव एक बार इच्छा कर दे और सृष्टि लगातार होती रहे, इसलिए सृष्टि-क्रिया को संचालित और नियन्त्रित करने के लिए आवश्यक है, यह मानना कि शिव की इच्छा शक्ति जब तक माया मे रहती है, वह सक्रिय रहती है और जब शिव अपनी शक्ति वापस कर लेता है तो माया निष्क्रिय हो जाती है ।
३. यह भी कहा जा सकता है कि माया की आड़ में शिव की शक्ति ही सृष्टि में विकसित होती है ।
४. शिवात् सत्य-परानन्द-प्रकाशैक–स्वलक्षणात् आविर्भूतम इदं सर्व चेतनाचेतनात्मक सूत–संहिता और ज्ञान तिलककम, पृ० ८४
५. शि० बो० पृ० १६०.
६. पाणिनि पंचमी के लिए यतः का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ है, जहाँ से अर्थात्

मिलते हैं। जिस प्रकार अग्नि की चिन्गारियाँ स्वरूप में अनेक होती हैं, उसी प्रकार अनेक प्रकार के प्राणी उस अपरिवर्त्य से उत्पन्न होकर उसी में पुनः वापस आ जाते है।[1] जैसे शाक पृथ्वी से उत्पन्न हो जाती है, जैसे बाल जीवित प्राणी के सर और शरीर पर उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार अविनाशी से यहाँ विश्व उत्पन्न हो जाता है।[2] जिस प्रकार समुद्र लहर और बुलबुले निहित किये रहता है, जो इसके तल में से ही उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार सर्वोच्च आत्मा आधार तल है जहाँ से सजीव और निर्जीव जगत् उत्पन्न होता है। ये रूपक ईश्वर की उपादान कारणता का संकेत करते हैं, परन्तु सामान्य अर्थ में।

वास्तव में ये रूपक शिव का जगत के साथ अद्वैत सम्बन्ध दिखाने लिए प्रयुक्त हैं, न कि ईश्वर की उपादान कारणता का प्रतिपादन करने के लिए। शैव-सिद्धान्त किसी अचेतन जगत् को चेतन से विकसित होना नहीं मानता। क्योंकि जो कारण के लिए सच है, वह कार्य के लिए सच नहीं हो सकता। दूध का धर्म मक्खन का धर्म नहीं हैं। बिच्छू का जीवन धर्म गाय के निर्जीव गोबर का धर्म नहीं हो सकता। कारण की निरन्तरता कार्य में नहीं मिलती। सत्कार्यवाद के अनुसार धर्मी को धर्म से भिन्न नहीं माना जा सकता। इस प्रकार ये रूपक शिव की उपादान कारणता को सिद्ध नहीं कर पाते। परन्तु विशिष्ट अर्थ में अथवा शिव की अन्तर्यामिता मानने पर रूपकों को भी शिव की उपादान कारणता के समर्थन में लिया जा सकता है। जगत् के सारे कार्यों में ईश्वर की इच्छा शक्ति अन्तर्भूत है, जिसकी प्रेरणा से ही कोई परिणाम हो पाता है। इसलिए शिव उपादान कारण भी कहा जा सकता है।

ईश्वर के लिए निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों का प्रयोग किया जाता है। वह इच्छा करता है कि मैं अनेक हो जाऊँ। यहाँ इच्छा करने से वह निमित्त कारण है और अनेक हो जाने के कार्य से उपादान कारण है। ईश्वर कुम्भकार के समान मात्र निमित्त कारण नहीं है जो कभी नहीं सोचता कि 'मुझे घड़ा हो जाना है'। कुम्भकार स्वयं घड़ा हो जाने की नहीं सोचता और नहीं मृत्तिका जैसा उपादान कारण ही ऐसा संकल्प कर सकता है। विविध जगत् हो जाने का वास्तविक अर्थ है

जिससे वस्तु उत्पन्न होती है। वैदिक सूत्रों में यतः को येन (जिससे) और यद (जिसको) प्रयोग किया गया है। यहाँ यतः अलगाव के अर्थ में नहीं लिया जा सकता प्रत्युत तात्त्विक विकास के अर्थ मे लिया जाता है। बादरायण यतः का प्रयोग करते है और इससे ब्रह्म की कारणता निरूपित करते हैं जिसके अनुसार यह जगत् के विकास और पालन एव प्रलय का कारण है।

1. बृ० उ० IV, २०
2. मुन्डक उप० १. १. ७.

कि ईश्वर विविध जगत् नहीं हो जाता बल्कि अपनी अन्तर्यामिता से उसे व्याप्त कर लेता है। इस प्रकार जगत् ईश्वर से अलग नहीं रहता और इस अर्थ में कहा जा सकता है कि ईश्वर जगत् हो गया। वास्तव में ईश्वर कारण है जो जगत् को एक बाह्य कर्ता के रूप में नियन्त्रित नहीं करता बल्कि एक अन्तर्भूत इच्छा के रूप में नियन्त्रित करता है। जगत् की सृष्टि करने में ईश्वर जगत् के साथ एक है। यद्यपि यह कारण और कार्य के समान है, परन्तु यह जगत से अभिन्न है क्योंकि वह इसे आधार रूप में व्याप्त करता है।[1] इस व्याप्ति सम्बन्ध के कारण ही शिव को जगत् का उपादान कारण भी कहा जा सकता है।

शैव-सिद्धान्त के तमिल साहित्य में शिव का उसकी सृष्टि के साथ तादात्म्य निरूपण किया गया है। शरीर, आत्मा, चेतना और प्रत्येक चीज शिव की रचना कही गयी है।[2] शिव वस्तुतः व्यापक पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश, यजमान, सूर्य और चाँद इन आठ रूपों का वर्णित है।[3] वह फल है, इसका रस और उसका स्वाद लेने वाला भी है।[4] वह ज्ञाता है, वह प्रकाशक है, वह ज्ञान है, वह ज्ञात भी है, वह यह विशाल जगत्, आकाश आदि भी है। इन उद्धरणों से यह संकेत होता है कि ईश्वर चेतन और अचेतन जगत् के समान रूप का है। जगत् शिव का एक सच्चा प्राकट्य है। यह शिव का रूपान्तरण है। विषयी और विषय समान रूप से शिव के भाग है। शैवागम जगत् की सृष्टि और प्रलय को शिव के विभिन्न भाग के रूप में मानते है। शिव को सभी जगत् का उद्गम स्थान भी कहा गया है।

शिव का इसकी सृष्टि के साथ शुद्ध तादात्म्य नहीं माना जा सकता क्योंकि सार में एक भेद भी किया जाता है। इन उद्धरणों से कारण और कार्य के बीच तादात्म्य सम्बन्ध मिलता है। जो कुछ भी कारण से कार्य रूप में उत्पन्न होता है, वह कारण में निरन्तर रहता है और फिर उसी मे मिल जाता है। ईश्वर कारण रूप में अद्वितीय है। यहाँ अद्वैत का संकेत मिलता है जो द्वैत का निषेध करता है। शिव अपनी सृष्टि से एकत्व सम्बन्ध में है। शिव का ज्ञाता और उसके ज्ञान से, भोक्ता और उसके आनन्द से तादात्म्य निरूपित किया गया है। कारण और कार्य का सम्बन्ध विषयी और विषय का सम्बन्ध है। यह कर्ता और उसके कार्य का और इच्छा तथा इसके इच्छित विचारों का सम्बन्ध है। इसलिए कारण के कार्य से तदनुरूपित होने में कोई कठिनाई नहीं होती। जो कुछ भी स्वयं उसे होने को कहा जाता है, वास्तव में

१ 'अन्यस्सन् व्याप्तितोनन्यः' शि० बो०

२. अप्पर ६ ६२: २

३. अप्पर निन्द्र तुत्तकम् १

४. वही ६; ९४, ५;

वह स्वयं उसका विषय नहीं है बल्कि इन सबका एक कारणात्मक अर्थ है। शिव की इच्छा द्वारा ही सब कुछ हो जाता है। यह कर्ता रूप में यह सब नहीं है। फल, इसके स्वाद और स्वादकर्ता से इसका तादात्म्य निरूपण करने का तात्पर्य केवल यह है कि वह फल की सृष्टि, इसके स्वाद और स्वादकर्ता का भी रचनात्मक आधार है।

श्रुतियों की मान्यता है कि एक का ज्ञान होने से प्रत्येक का ज्ञान हो जाता है (एक विज्ञानेन सर्वविज्ञान-प्रतिज्ञा)। यह मान्यता ईश्वर की उपादान कारणता का संकेत करता है। निमित्त और उपादान कारण का अन्तर कार्य से भिन्न और अभिन्न होने से है। यदि ईश्वर केवल निमित्त कारण होता तब जगत् से भिन्न होने से, ईश्वर का ज्ञान प्रत्येक चीजों के ज्ञान के लिये आवश्यक नहीं हो सकता। एक घड़े का ज्ञान होने से वस्त्र का भी ज्ञान नहीं हो जाता। एक विशेष का ज्ञान एक दूसरे का ज्ञान नहीं कराता जिससे यह सम्बन्धित न हो। दो प्रकार के कारणों के बीच वास्तविक अन्तर उनके कार्य में है। पदार्थ होने से जो स्वयं को कार्य में रूपान्तरित करना है, यह उपादान या समवायि कारण की विशेषता है। आवश्यक ज्ञान और इच्छा से युक्त होना निमित्त कारण का कार्य है। ये दोनों ही विशेषताएँ ब्रह्म पर आरोपित हैं, इसलिये ब्रह्म को उपादान और निमित्त दोनों कारण कहा जाता है।[1] शिव के लिये भी यह कथन प्रयुक्त होता है (शिव-ज्ञानेन सर्व कार्य विज्ञानम)। यहाँ मान्यता यह है कि सर्वोच्च सत्ता और सभी न तो पूर्णतः तदनुरूप है, न ही पूर्णतः भिन्न हैं, परन्तु तादात्म्य सम्बन्ध में है। उपादान कारण और इसके कार्य में भी तादात्म्य सम्बन्ध है। मृत्तिका उपादान ज्ञात होने से सभी मृत्तिका उत्पादन ज्ञात हो जाते हैं। परन्तु आत्म रूप शिव इस प्रकार का उपादान कारण नहीं है। केवल माया ही उपादान कारण है। उपादान कारण का ज्ञान इसके कार्य का अक्षरशः ज्ञान अपेक्षित नहीं कर सकता। शिव का ज्ञान माया के उत्पादनों का ज्ञान नहीं करता, क्योंकि ये शिव से विकसित नही होते।

शिव और माया को एक साथ जगत् का उपादान कारण माना जा सकता है। यह मान्यता ईश्वर पर बाह्य उपादान कारणता आरोपित नहीं करती। यह ईश्वर को माया से संयुक्त करती है जो चेतन और अचेतन जगत् में रूपान्तरित होता है। शिव अपने कारण रूप अभिनय में उपादान कारणता और कर्त्तृता दोनों को निहित करता है। वह पृथ्वी, जल आदि नहीं है, परन्तु पृथ्वी जल आदि में वह विस्तार करता है। इस कथन से शिव और माया दोनों जगत् के उपादान कारण हैं। परन्तु शिव और माया जगत् का संयुक्त कारण नहीं हो सकते क्योंकि दोनों के कार्यों में समता नहीं होती। माया परिवर्तन का कारण है और शिव इसका आधार

१. शिवप्रकाशम् पृ० ३९.

है । यदि माया और शिव अपने कार्यों के समान रूप से उपादान कारण है तो उन्हें अलग नहीं किया जा सकता । यदि यह माना जाय कि माया वास्तविक रूपान्तरित कारण है और शिव इसका आधार उपादान कारण है तो उपादान और निमित्त कारण में विशेषण विशेष्य सम्बन्ध मानना होगा । जगत् का कारणात्मक कर्ता निमित्त कारण है जो उपादान कारण भी है क्योंकि यह माया से अविभाज्य है । इसके लिये शरीर आत्मा सम्बन्ध का उदाहरण दिया जाता है । जगत् का निमित्त कारण शिव स्वयं को चेतन और अचेतन रूपों में रूपान्तरित करके उपादान कारण जैसा रूप ग्रहण करता है । यह रुपान्तरण अद्वितीय प्रकार का होता है । निमित्त कारण शाश्वत, शुद्ध और अपरिवर्त्य है, यह परिवर्तन द्वारा प्रभावित नहीं होता । जिस प्रकार बाल और नाखून आदि अकेले शरीर (अचेतन) से या अकेले आत्मा (चेतन) से पैदा नहीं होते, उसी प्रकार जगत् अकेले माया या अकेले महेश्वर से पैदा नहीं होता परन्तु इनकी संयुक्त एकता से आविर्भूत होता है । इसीलिये माया को सभी तत्त्वों का गर्भ माना जाता है और शिव को सर्वोच्च स्वामी कहा जाता है ।[१]

वास्तव में चेतन-अचेतन द्विविध रुप जगत् के लिये द्विविध रुप उपादान कारण मानना आवश्यक है । केवल अचेतन से सृष्टि नहीं हो सकती, उसके लिये चेतन का होना आवश्यक है । यदि मान लिया जाय किसी प्रकार चेतन के प्रयास से अचेतन परिणमित होने लगे तो यह केवल अचेतन कार्य ही परिणमित करेगा । यह कभी चेतन कार्य परिणमित नहीं कर सकता । इसी प्रकार यदि केवल माया उपादान कारण हो और वह शिव की इच्छा से परिणमित होने लगे[२] तो वह केवल अचेतन जगत् को परिणमित करेगा और इस जगत् में किसी भी प्रकार की चेतना परिलक्षित नहीं होगी । इसी प्रकार यदि केवल चेतन अथवा शिव को उपादान कारण मान लिया जाय और वह किसी प्रकार परिणमित होने लगे तो केवल चेतन की सृष्टि हो सकती है, अचेतन जगत् उत्पन्न नहीं हो सकता । इसलिये शिव और माया को संयुक्त उपादान कारण मानना यथेष्ट है । हम कह सकते हैं कि जो कुछ जगत् में चेतना है वह उपादान कारण के शिवांश के कारण है और जो कुछ अचेतन है वह माया के कारण है ।

माया के विभिन्न प्रकार हैं । अशुद्ध माया से मानव शरीर और जगत् के अन्य प्राणियों के शरीरों का आविर्भाव होता है । शैव-सिद्धान्त यह नहीं मानता कि माया एक भ्रम है, बिना वास्तविक अस्तित्व के । इसके असीमित और परिवर्त्य नाम,

१. शि० सि० प०, पृ० ४२
२. परन्तु उसमें शिव की इच्छा शक्ति अन्तर्भूत न हो ।

रुप और आकार हो सकते हैं। यह पाश का एक भाग है और वैसे ही नित्य है जैसे ईश्वर।

ईश्वर सहकारी कारण भी नहीं है क्योंकि एक साधन से कार्य करना पदार्थ के साथ एक प्रकार का सम्बन्ध आवश्यक करता है। ईश्वर की शक्ति का द्विविध स्वरुप है। यह अचेतन जड़ पदार्थ और चेतन शिव के बीच एक मध्यस्थ का कार्य करती है और शिव के स्वरुप में भी अविभाज्य रुप से बनी रहती है। इसलिये शक्ति सहकारी कारण मानी गई है जो उपादान कारण को संचालित करती है।

निमित्त कारण रुप में ईश्वर कुम्भकार अथवा बढ़ई से सर्वथा भिन्न प्रकार से कार्य करता है। उसकी उपस्थिति मात्र में पंचकृत्य होने लगते हैं, जिस प्रकार सूर्य की उपस्थिति से कमल की नई कोपलें निकलती हैं, कलियाँ प्रकट होती हैं, और अन्य झड़ जाते हैं। पति के सान्निध्य मात्र से सृष्टि के कार्य होने लगते हैं।[1] जिस प्रकार राज्य के स्वामी की उपस्थिति मात्र से राज्य के कार्य मन्त्रियों द्वारा सम्पन्न होने लगते हैं, वैसे ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर और सदाशिव द्वारा सृष्टि के कार्य सम्पन्न होने लगते हैं। इन कृत्यों के परिणाम स्वरुप परमतत्त्व में कोई भी परिवर्तन या विकार नहीं होता।

ईश्वर जगत् के अस्तित्व का आधार है। यह जगत् को व्याप्त करता है और इसका निर्माता भी कहा गया है। यह कथन ईश्वर को उपादान कारणता कम निमित्त कारणता आरोपित करता है। ईश्वर आत्म रुप में माया का आधार है। यह जगत् में विकास करता है। इसके विस्तार, प्रकाश और आनन्दपूर्णता जैसे गुणों से जगत् का निर्माण होता है। ईश्वर जगत् और इसके उपादान कारण माया का भी आधार है। यह जगत् में इच्छा रुप में अन्तर्भूत है।[2] इस प्रकार शैव-सिद्धान्त ईश्वर की पूर्ण कारणता को मानता है। शक्ति जगत् का सहकारी कारण है जो शिव से अविभाज्य है। इस अर्थ में ईश्वर सहकारी कारण भी है।

अपने विशिष्ट अर्थों में शिव को उपादान तथा सहकारी कारण मान लेने से शैव-सिद्धान्त को आलोचना में कहा जा सकता है कि क्या शिव का परिणाम (अथवा विकास) होता है? शिव अपनी शक्ति द्वारा माया में (सृष्टि संपादित करते समय) अन्तर्भूत है तथा शिव और शक्ति में अभेद होने से माया का परिणाम होने के साथ शिव का भी परिणाम माना जा सकता है। किन्तु शैव-सिद्धान्त में शिव का परिणाम होना नहीं माना गया है। शैव-सिद्धान्त की मान्यताओं के अनुसार शिव माया अथवा जगत् में अन्तर्भूत होने पर भी माया और जगत् से परे है। अतः

१. शै० प० पृ० १४

२. शि०सि० सु० १.१, टी०, शिवा योगी

माया के परिणाम से सम्बन्धित होते हुए भी शिव स्वयं परिमित नहीं होता ।[1]

काश्मीर शैव दर्शन की तरफ से शैव-सिद्धान्त की आलोचना में कहा जा सकता है कि निमित्त और उपादान (शिव और माया) दो कारणों को मानने की क्या आवश्यकता है जबकि सृष्टि की व्याख्या एक ही कारण से हो सकती है ? शैव-सिद्धान्ती इसके उत्तर में कहेंगे कि जड़ जगत् की उत्पत्ति चेतन शिव से नहीं हो सकती इसलिये उपादान कारण रुप माया को माना जाता है ।

वास्तव में काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त का एतद्विषयक मतभेद जगत् के स्वरुप को लेकर है । काश्मीर शैव दर्शन में जगत् को शिव का चेतन आभास माना गया है इसलिये अभिन्ननिमित्तोपादान कारणता की व्याख्या की गयी है तथा शैव-सिद्धान्त के अनुसार जगत् जड़ है जिससे निमित्त और उपादान का भेद किया गया है । यह विभेद दोनों दर्शनों की तत्त्व विषयक अवधारणा में मतभेद के कारण है ।[2]

शैव-सिद्धान्त की आलोचना में यह भी कहा जा सकता है कि क्या काश्मीर शैव दर्शन के समान शैव-सिद्धान्त में शिव अपनी इच्छा मात्र से सृष्टि नहीं कर सकता जो उसे उपादान की आवश्यकता पड़ती है ? इस प्रश्न पर शैव-सिद्धान्त की दृष्टि से विचार करने पर उत्तर में कहा जा सकता है कि निस्सन्देह शैव-सिद्धान्त में भी शिव अपनी इच्छा मात्र से सृष्टि कर सकता है क्योंकि दोनों दर्शनों में शिव विषयक अवधारणा को लेकर साम्य है । किन्तु शैव-सिद्धान्त में माया उपादान इसलिये आवश्यक है क्योंकि जगत् मानसिक अथवा काल्पनिक सृष्टि न होकर यथार्थवादी सृष्टि है और सृष्टि यथार्थवादी इसलिये है क्योंकि यह शिव के लिये न होकर आत्माओं के (दूसरों के) लिये है ।[3]

१. शिव का माया तथा जगत् से सम्बन्ध की विवेचना अगले अध्याय में की गई है ।
२. इस मतभेद पर विचार 'उपसंहार' में किया गया है ।
३. इन बातों को अगले अध्यायों में स्पष्ट किया गया है ।

शिव का सृष्टि से सम्बन्ध

सृष्टि का प्रयोजन :—सामान्यतः प्रत्येक कार्य किसी न किसी उद्देश्य को लेकर होता है। कार्य में किसी रूप में कर्ता का मन्तव्य अवश्य निहित रहता है। शैव-सिद्धान्त भी जगत् की सृष्टि में प्रयोजन का निहित होना मानता है।

सृष्टि को प्रयोजनरहित मानने वाले कहते हैं कि सृष्टि खेल अथवा कलाकार की सहज कलात्मक सृष्टि है। शैव-सिद्धाती सृष्टि में प्रयोजन मानते हुए कहते हैं कि खेल प्रयोजनरहित कार्य नहीं माना जा सकता। यह मनोरंजन अथवा अन्ततः सुखानुभूति के लिए है। कलाकार भी यदि कुछ नहीं चाहता तो स्वयं को अपनी रचना में व्यक्त करना चाहता है। कोई चीज अवश्य रहती है जो उसे प्रेरित करती है। इसलिए सृष्टि जैसे कार्य को प्रयोजनरहित नहीं कहा जा सकता। शैव-सिद्धान्त में भी सृष्टि को ईश्वर का खेल कहा गया है,[1] परन्तु विशिष्ट अर्थ में। इसका तात्पर्य है कि यहाँ ईश्वर के लिए किसी भी प्रकार का उद्योग अथवा प्रयास निहित नहीं होता। यह कार्य ईश्वर द्वारा खेल में ही हो जाता है अर्थात विना किसी परिश्रम के अत्यन्त आराम से संपादित हो जाता है।

सृष्टि में प्रयोजन मान लेने पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि शिव यह सृष्टि अपने लिए करता है अथवा दूसरों के लिए ? यदि ईश्वर अपने लिए सृष्टि करता है तो इसका अर्थ होगा कि उसमें कुछ कमी है जिसे वह अपने सृष्टि कार्य से प्राप्त करता है। परन्तु यह कहना कि ईश्वर किसी चीज की पूर्ति की आवश्यकता में है, उसके 'नित्य तृप्तत्व' के विरुद्ध है। इसलिए सृष्टि नैसर्गिक होनी चाहिए, न कि किसी आवश्यकता के परिणाम स्वरूप क्योंकि ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे वह चाहता हो और जिसे वह विना अपने सृष्टि-कार्यों के प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए शैव-सिद्धान्त मानता है कि शिव जगत् की सृष्टि अपने लिए नहीं करता बल्कि दूसरों के लिए करता है।[2]

अद्वैत वादी दर्शन सृष्टि या तो परमार्थतः मानता नहीं एवं यदि मानता भी हैं तो स्वयं अपने लिए।[3] यहाँ सृष्टि दूसरों के लिए नहीं हो सकती क्योंकि तब ईश्वर से भिन्न उन सत्ताओं को मानना पड़ेगा, जिनके लिए सृष्टि की जाती है। ऐसी दशा

१. मायादियम् पृ० ११८

२. शैव-सिद्धान्त के अनुसार शिव जगत् की सृष्टि आत्माओं के लिये करता है।

३. जैसे काश्मीर शैव दर्शन में।

में ईश्वर और उन सत्ताओं (जिनके लिए सृष्टि की जाती है) के बीच सम्बन्ध की व्याख्या स्पष्ट नहीं हो पाती। यदि यह सम्बन्ध तादात्म्य का है, जैसे स्वर्ण और इससे निर्मित गहनों में है तो इसका अर्थ यह होगा कि ईश्वर अपने लिए सृष्टि करता है। यदि यह सम्बन्ध शुद्ध भेद का है, जैसे प्रकाश और अन्धकार में तो इसका अर्थ यह है कि वह उसके लिए सृष्टि करता है जो उससे पूर्णतः भिन्न है। ईश्वर का कार्य किसी भी चीज के लिए हो सकता है, परन्तु उसके लिए मान्य नहीं हो सकता जो उससे पूर्णतः भिन्न है। जिस प्रकार शुद्ध तादात्म्य कोई सम्बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार शुद्ध भेद भी सम्बन्ध का निषेध है। शैव-सिद्धान्त में इस प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न नहीं होतीं, क्योंकि ईश्वर उन सत्ताओं (आत्माओं) से भिन्न होते हुए भी अभिन्न है।[1] इसलिए सृष्टि दूसरों के लिए मानी जा सकती है।

शैव-सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि में एक दिव्य प्रयोजन निहित है। ईश्वर सृष्टि द्वारा आत्मा की भलाई करना चाहता है। आणव के आवरण के कारण आत्मा के वास्तविक स्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। मल से संसिक्त होने के कारण इसकी यथार्थ योग्यता स्पष्ट नहीं हो पाती। ईश्वर आत्मा को उसके सच्चे स्वरूप में वापस लाना चाहता है। ऐसा करने के लिए उसे अशुद्धता को हटाना पड़ता है जो आत्मा को आच्छादित किये है। यह अशुद्धता एक प्रकार का मल है जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप को बाधित करता है, और इसीलिए बन्धन स्वरूप कहा जाता है। यह अपने को आत्मा से सम्बद्ध करके इसकी शुद्धता को मैला करता है जैसे जंग ताँबे की शुद्धता को दूषित करता है।

आत्मा की मल से मुक्त होने की प्रक्रिया जटिल है। शिव इस प्रक्रिया को प्रवर्तित करता है और आत्माओं का मार्गदर्शन करता है। अपनी मुक्ति के लिए प्रयास आत्माओं को ही करना पड़ता है। आत्माओं को प्रयास करने के लिए एक शरीर और आधारभूमि की आवश्यकता होती है, जहाँ वह कार्य कर सके। सृष्टि द्वारा इन आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है। स्थिति की अवधि में शरीर से युक्त आत्मा कार्य करना आरम्भ करता है। इसके कार्य कर्म में परिणत होते हैं जिससे आत्मा एक शरीर को ग्रहण करता है। यह प्रक्रिया बार-बार दुहरायी जाने से लम्बी और कष्टप्रद हो जाती है। इसलिए आत्माओं को आराम देने के लिए प्रलय किया जाता है। इस अवधि में आत्मा आराम करते हैं।[2]

---

१. इस सम्बन्ध की विवेचना आगे की जायेगी

२. सृष्टि ही नहीं स्थिति और संहार में भी निहित प्रयोजन आत्माओं का कल्याण करना है। सृष्टि इसे शरीर और जगत् प्रस्तुत करता है, जिसकी आवश्यकता इसके कार्य कर सकने के पूर्व होती है। स्थिति इसे कार्य करने की सुविधायें

शिव द्वारा आत्माओं को कल्याण करने के प्रयोजन में कोई बाह्य कारण अथवा दबाव निहित नहीं है। शिव आत्माओं के प्रति अपने प्रेम के कारण सृष्टि करता है। आत्माओं के प्रति यह प्रेम ही शिव के सारे कृत्यों को वास्तविक करता है। इस प्रेम के कारण ही वह जगत् की सृष्टि करने की इच्छा करता है और उसे सृष्ट भी करता है। वह उसे नष्ट करता है और पुनः उत्पन्न भी करता है। यह प्रक्रिया बार-बार दुहराई जाती है। वह यह कृत्य प्रयोजन हीन अथवा मात्र अपनी मौज या आनन्द के लिए नहीं करता। वह इसे केवल अपने प्रेम के कारण करता है। भ्रमित और अज्ञानी आत्माओं को ऊपर उठने में सहायता करने के लिए वह उन्हें शरीर और इन्द्रियाँ प्रदान करता है ताकि वे स्वयं इच्छा और कार्य कर सकें तथा पाप और पुण्य का विभेद करने में सक्षम हो सकें। कष्ट और दुःख द्वारा परिष्कृत और शुद्ध हो सकें तथा अपनी इच्छा को सर्वोच्च इच्छा में मिलाना सीख सकें। इस प्रकार शैव-सिद्धान्त में जगत् आणव से मुक्ति दिलाने के लिए सृष्ट किया गया है जो पूर्ववैश्विक है।[1] इस आणव के प्रभाव से आत्मा की ज्ञान और इच्छा शक्तियाँ सीमित हो गई हैं जिससे वे ससीम हो गये हैं।[2] शिव इस प्रकार के आत्माओं को बन्धन की पकड़ से मुक्त करता है और उन्हें शिवत्व प्राप्त करने में सहायता करता है।[3]

काश्मीर शैव दर्शन के समान ही शैव-सिद्धान्त शिव और आत्मा में सम्बन्ध प्रतिपादित करता है परन्तु इसकी व्याख्या काश्मीर शैव दर्शन से थोड़े भिन्न अर्थ में करता है—

शिव का आत्मा से सम्बन्ध :—सत्तामूलक दृष्टि से शिव और आत्मा भिन्न हैं। जहाँ शिव शुद्ध है, आत्मा मल से युक्त है। परन्तु सृष्टि के लिए आत्मा और शिव में सम्बन्ध आवश्यक है। शैव-सिद्धान्त उनमें एक भावात्मक सम्बन्ध की परिकल्पना करता है।[4] यह सम्बन्ध अभेद का नहीं हो सकता, जैसा स्वर्ण और इससे निर्मित गहने में है, क्योंकि शिव और आत्मा में सत्तामूलक द्वैत है। शिव और आत्मा में

देने के लिए है जो इसे मल से मुक्त होने में सहायता करेंगे। प्रलय आत्माओं को पुनर्जन्म की लम्बी और थकाने वाली प्रक्रिया में समय-समय पर आराम देने के लिए है।

१. मुण्डकम्, ३-१-३
२. कामिक आगम, २१
३. सेक्रेड बुक १, हिम्न १२, ३
४. सत्तामूलक द्वैत मानने से उनमें अद्वैत-वेदान्त और काश्मीर शैव दर्शन जैसा सत्तामूलक सम्बन्ध नहीं हो सकता इसलिए शैव-सिद्धान्त एक भावात्मक सम्बन्ध की परिकल्पना करता है।

अन्धकार और प्रकाश जैसा भेद भी नहीं माना जा सकता क्योंकि तब कोई सम्बन्ध ही संभाव्य नहीं होगा। इसलिए शैव-सिद्धान्त शिव और आत्मा में भेद तो मानता है परन्तु सार में एक अभेद सम्बन्ध की भी कल्पना करता है। इसे भेदाभेद सम्बन्ध, शब्द और इसके अर्थ के समान कहा जा सकता है।[1] यहाँ शब्द या तो ध्वनि है या प्रतीक और नाम के सश्लेषण से यदि विभाज्य है तो भी दोनों प्रतीक या ध्वनि और संश्लेषण अविभाज्य और अविसर्जनीय रूप से एक दूसरे से सम्बन्धित है।[2]

शैव-सिद्धान्त आत्मा और शिव के बीच इस प्रकार के सम्बन्ध को अद्वैत सम्बन्ध कहता है और इस सम्बन्ध की स्थापना के लिए व्याप्ति का आधार लेता है। शिव आत्माओं को व्याप्त कर उनके सम्बन्ध में है। शैव-सिद्धान्त कहता है कि वे व्याप्ति

---

१. यह सम्बन्ध (भेदाभेद) भी शैव-सिद्धान्त की मान्यता के सम्बन्ध की सही व्याख्या नहीं देता, इसे उस भावके केवल समीपस्थ कहा जा सकता है। शैव-सिद्धान्त के शिव और आत्मा में कुछ इस प्रकार का सम्बन्ध है जो उपरोक्त तीनों भावों को व्यक्त करता है।

२. अभेद सम्बन्ध अनुक्रम या कारणता सम्बन्ध है। जब एक वस्तु कारण है और दूसरा कार्य तो उनमें कुछ भी भेद नहीं है। इस सम्बन्ध को मानने वालों में मायावाद, नास्तिकवाद और बौद्धावाद दोनों आता है। दोनों सिद्धान्तों में कारणता माना गया है चाहे यह हो कि तत्त्व चैतन्य से निःसृत हैं या चैतन्य का विश्व और तत्त्व एक परमतत्त्व से निःसृत है अथवा चैतन्य तत्त्व से निःसृत है या स्कन्धों के योग से। कारणता के सिद्धान्त से जब तत्त्व को चैतन्य से निःसृत किया जाता है, यह उतना ही आसान होगा जितना चैतन्य को तत्त्व से निःसृत करना। हिन्दू विज्ञानवादी भी मकड़ी और इसके जाल तथा अग्नि और इसकी चिन्गारी के रूपकों का प्रयोग करते हैं। ये पदार्थ में तदनुरूप हैं और जाल मात्र भौतिक शरीर का उत्पादन है; यह मकड़ी की ग्रन्थियों और इसके जीवन तत्त्व का उत्पादन नहीं है। शैव-सिद्धान्त इस प्रकार के रूपकों द्वारा संकेत किये गये सम्बन्धों को नहीं मानता। रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत और मध्वाचार्य का द्वैत भेद और भेदाभेद कहा जा सकता हैं क्योंकि कुछ प्रकार के सम्बन्ध ईश्वर और मनुष्य के बीच कहे गये हैं। रामानुज के मोक्ष में प्रत्येक आत्मा अपना व्यक्तित्व ईश्वर से भिन्न बनाये रहता है। परन्तु इसकी भावना (चिति) और सार्वभौम चित में एक एकता होती है। यह अंगांगी सम्बन्ध है। मध्व के अनुसार यह सम्बन्ध गुरु और शिष्य, माता-पिता और बच्चे के सम्बन्ध के समान है। शैव-सिद्धान्त इस प्रकार के सम्बन्ध को नहीं मानता।

और चेतना की दृष्टि से अभिन्न हैं। अनगिनत आत्माओं के कर्म के अनुसार ईश्वर अपनी शक्ति द्वारा माया को उत्तेजित करता है और शरीर, इन्द्रियों आदि की सृष्टि करता है जिसमें सन्निहित शक्ति निरन्तर उपस्थित रहती है।

व्याप्ति दो प्रकार की होती है, बाह्य (वैषयिक) और अन्तरिम (औपश्लेषिक)। बाह्य व्याप्ति आकाश के समान सभी सरूप वस्तुओं को व्याप्त करने वाली है जैसे घट आदि। आन्तरिक व्याप्ति दूध में घी, फल में रस, सरसों में तेल और काष्ठ में अग्नि है। शिव और आत्मा दोनों ही व्यापक और चेतन हैं इसलिए यहाँ व्यापक और व्याप्त के बीच का सम्बन्ध आन्तरिक है।[1] इस सम्बन्ध को बताने के लिए शैव-सिद्धान्ती स्वर और व्यञ्जन का उदाहरण देते हैं। जिस प्रकार 'अ' स्वर सभी वर्णों में पाया जाता है, वैसे ही एक सर्वोच्च आत्मा (शिव) अनेक सीमित आत्माओं को व्याप्त करता है। जिस प्रकार स्वर व्यञ्जन का जीवन देते हैं वैसे ही शिव आत्माओं को जीवन देता है। यद्यपि स्वर व्यञ्जन नहीं हो सकते और व्यञ्जन स्वर नहीं हो सकते, परन्तु दोनों किसी परिणाम की उत्पत्ति के लिए एक हो सकते हैं। ससीम आत्मा और असीम ईश्वर व्याप्ति के विषय में अभिन्न हैं, यद्यपि वे तात्त्विक दृष्टि से भिन्न हैं। जिस प्रकार वर्ण 'अ' दूसरे वर्णों को अनुप्राणित करता है और उनके जीवन जैसा बना रहता है, वैसे ही शिव आत्माओं को उनके साथ अभिन्न रूप से रह कर अनुप्राणित करता है। जहाँ 'अ' आदि रूप है, अ के समान पन्द्रह वर्ण इसके परिष्कृत रूप हैं।[2]

---

१. ज्ञान प्रकाशर इस आन्तरिक सम्बन्ध को नहीं मानते। उनके अनुसार आकाश जैसे अशरीरी विषय और आत्मा जैसे अशरीरी विषय एक दूसरे से संघर्ष नहीं करते। जैसे दो नेत्रों से किरणें चाँद तक एक साथ बिना संघर्ष के पहुँचती हैं वैसे ही ईश्वर की चेतना और मुक्तात्मा की चेतना सभी विषयों में एक साथ बिना एक दूसरे के साथ संघर्ष के पायी जाती हैं। उनमें कोई बाह्य और आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है, नहीं उनमें कोई संघर्ष है। इसलिए मुक्तात्माओं और ईश्वर में कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता, न तो संयोग का और न ही समवाय का और न ही वह सम्बन्ध जो व्यापी और व्याप्य में प्रयुक्त किया जाता है। अतः मुक्तात्माओं और ईश्वर के सम्बन्ध में केवल यह कहा जा सकता है कि वे समान हैं।

२. जिस प्रकार 'अ' प्रथम वर्ण है और अन्य सभी वर्णों को व्याप्त करता है, वैसे ही ईश्वर सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करता है।

—शि० बो०, २, ३

आत्मा और शिव के सम्बन्ध की व्याख्या के लिए शैव-सिद्धान्ती कुछ अन्य उदाहरणों का प्रयोग करते हैं। यहाँ कतिपय प्रमुख उदाहरणों का विवेचन अपेक्षित होगा। इस सन्दर्भ में शैव-सिद्धान्ती एक उदाहरण शरीर और आत्मा का देते है। आत्मा स्नायु और ज्ञानेन्द्रियों से युक्त शरीर में रहता है फिर भी आत्मा और शरीर दो कहे जाते हैं। हम भौतिक शरीर को एक नाम देते हैं और उसे उस नाम से पुकारते हैं तो प्रत्युत्तर आत्मा से आता है। यह इसलिए होता है क्योंकि आत्मा शरीर से भिन्न होने पर भी स्वयं को शरीर और इसके कार्यों के साथ तदनुरूपित करता है। इस प्रकार व्यवहारतः वे एक या अभिन्न हैं। परन्तु आत्मा कभी शरीर नहीं हो सकता और शरीर कभी आत्मा नहीं हो सकता। इसी प्रकार ईश्वर भी स्वयं को आत्मा से तादात्म्यनिरूपित करता है, यद्यपि ईश्वर आत्मा नहीं है और आत्मा ईश्वर नहीं है। इस प्रकार ईश्वर आत्मा के साथ एक भी है और एक नहीं भी है।[1] यहाँ एक प्रश्न उठता है कि किस प्रकार शिव स्वयं को अनेक से जोड़ता है और अनेक हो जाता है अथवा स्वयं को बाँट देता है? इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि उसके पास उसकी शक्ति है जो उसे अनेक से जोड़ती है।

शैव-सिद्धान्त द्वारा दूसरा उदाहरण प्रत्यक्ष के कार्य का दिया जाता है। प्रत्यक्ष का कार्य एक है, परन्तु दो कर्तृताओं, नेत्र और सूर्य या प्रकाश द्वारा कार्यभूत होता है। नेत्र बिना प्रकाश की सहायता से प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। यद्यपि दोनों, नेत्र का प्रकाश और सूर्य-प्रकाश एक साथ होते हैं, उनका संयोग एक रूप में प्रत्यक्ष होता है। यहाँ नेत्र और सूर्य में कोई कारणता नहीं है। यहाँ भेदाभेद है। यह सम्बन्ध आत्मा या मन अथवा दृश्य इन्द्रिय या नेत्र के सम्बन्ध के समान है। यद्यपि इन सभी विषयों में एक तादात्म्य प्रत्यक्ष होता है, परन्तु सार में एक अन्तर भी देखा जा सकता है। यह ऐसा सम्बन्ध है जो आसानी से शब्दों में स्थापित नहीं किया जा सकता, परन्तु जो शायद कल्पित हो सकता है। शैव-सिद्धान्ती इस प्रकार के सम्बन्ध को अद्वैत नाम देते हैं।[2]

अद्वैत की विवेचना—शैव-सिद्धान्ती अद्वैत की व्याख्या काश्मीर शैव दर्शन तथा अद्वैत-वेदान्त से भिन्न अर्थ में करते हैं। काश्मीर शैव दर्शन तथा अद्वैत-वेदान्त में अद्वैत को एकत्व या एकम् के अर्थ में लिया गया है। परन्तु शैव-सिद्धान्त के अनुसार अद्वैत शब्द का अर्थ एकत्व या एकम् नहीं हो सकता क्योंकि कोई स्वयं को एक जैसा नहीं सोच सकता। यह शब्द मात्र दो के अलगाव को नकारता है। निषेधात्मक उपसर्ग अ या न एक या दो के भावात्मक अस्तित्व का निषेध नहीं करता। यह

१. शिव प्रकाशम् ७
२. मापादियम् पृ० ४४८

अभाव के अर्थ में भी प्रयोग नहीं किया गया है। यदि यह इस प्रकार प्रयुक्त किया जाय तो यह न केवल एक या अन्य वस्तु का निषेध करेगा बल्कि यह दोनों का निषेध कर सकता है और इसकी परिसमाप्ति शून्यवाद में हो सकती है। अद्वैत का संख्यावाची अर्थ लेने पर यह केवल एक अथवा 'एकम् या एकत्व' अर्थ नहीं रख सकता, परन्तु दो से अधिक तीन या अन्य अंक रख सकता है। शिवज्ञान योगी कहते हैं कि जब निषेधात्मक उपसर्ग संख्या के लिए प्रयुक्त होता है तो यह सामान्य प्रयोग में 'इन्मै या अपायम्' अर्थ नहीं रखता। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि 'कमरे में दो पुस्तकें नहीं हैं' तो इसका अर्थ हो सकता है कि 'कमरे में पुस्तकें नहीं हैं' या 'केवल एक पुस्तक कमरे में है' अथवा 'दो पुस्तकों से अधिक है।'

यदि निषेधात्मक उपसर्ग अद्वैतम् में 'अभाव' अर्थ नहीं रखता तो फिर इसका क्या अर्थ सम्भव हो सकता है? यदि दो विषयों का प्रत्यक्ष होता है तो क्या उन्हें द्वैत कहा जा सकता है। इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि वे 'अ-द्वैत' हैं अर्थात् 'दो जैसे नहीं हैं।' अद्वैतम् इस प्रकार बिल्कुल शाब्दिक अर्थ रखता है, यह संख्यावाचक अर्थ एकत्व नहीं रखता। शिवज्ञान सिद्धि में अद्वैत की परिभाषा 'न तो एक, न ही दो, न ही कोई' दिया गया है। इस प्रकार यहाँ एक भावात्मक निषेध होना प्रतीत होता है। इसलिए यह भी कहा जाता है कि उसे एक या दो नहीं कहा जा सकता। यदि एक परमतत्त्व ही है तो द्वैत का यह विचार असंभव है। अद्वैत शब्द दो वस्तुओं का अस्तित्व निहित करता है और दोनों में से एक की सत्ता या अस्तित्व का निषेध नहीं करता। यह मात्र दोनों के बीच सम्बन्ध को बताता है।

मनुष्य जैसे-जैसे ईश्वर के समीप होता है, उसका अणुत्व मिटता जाता है। इस प्रकार एकता के क्षण में उसका कुछ भी नहीं बचता और जो बचता है वह सर्वोच्च एक की उपस्थिति और केवल उसकी उपस्थिति की भावना है। उसके स्वयं की कोई भावना या अन्य की चेतना नहीं रहती। ईश्वर की उपस्थिति और आनन्द की यह भावना 'एक' और 'अद्वैत' है। इस प्रकार के एकत्व या आनन्द की कोई चेतना नहीं होती और द्वैत निश्चय ही उस क्षण उत्पन्न हो सकता है जब चेतना पुनः प्राप्त होगी।

वेदान्त 'अहम् ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) मानता है। शैव-सिद्धान्त 'तत एक' (वह अकेले) मानता है। शैव-सिद्धान्त पूर्णतया और अन्ततः केवल अनुभव को मानता है। यह अनुभव ईश्वर का आनन्द है। इसी के द्वारा वेदान्त सोऽहम् का संकेत करता है, जिसके द्वारा यह अनुभव प्राप्त होता है। शैव-सिद्धान्त की दृष्टि में इस प्रकार सोऽहम् अनुभव एक द्वैत की चेतना है। यह अर्थ लेने पर शैव-सिद्धान्त अद्वैत है और वेदान्त द्वैत कहा जा सकता है। शिवज्ञान योगी 'अहम ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' महा-

वाक्यों का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि इन महावाक्यों में प्रयुक्त अद्वैत शब्द एक या दो से अधिक का अनस्तित्व अर्थ नही रखता, परन्तु यह विशिष्ट सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त है जो दो भिन्न वस्तुओं के बीच होता है, जो एक हो सकते हैं।

इस सन्दर्भ में एक समस्या उत्पन्न होती है कि शिव को आत्माओं का ज्ञान प्राप्त होता है, परन्तु किस रूप में ? आत्मा शिव से भिन्न है, इसलिये कहा जाता है कि आत्मा शिव द्वारा ज्ञान के विषय रूप में ज्ञात है। यहाँ हमें एक उभयतोपाश का सामना करना पड़ सकता है। यदि आत्मा ज्ञान का विषय हैं तो वे अवच्छिन्न हो जाते हैं और इस प्रकार नाशवान हो जाते हैं। यदि हम कहते हैं कि शिव आत्माओं को नहीं जानता, ताकि इस असंगत स्थिति से बचा जा सके, तो उसकी सर्वज्ञता खतरे में पड़ती है। इस उभयतोपाश से बचने के लिये अर्थात् इसका समाधान करते हुए शैव-सिद्धाती कहेंगे कि शिव, आत्मा दोनों चित् स्वरूप है। शिव के ज्ञान का ढंग विशिष्ट है। उसके ज्ञान का विषय व्यक्ति के ज्ञान के विषय के समान[1] होना आवश्यक नहीं है। इसलिये शिव द्वारा ज्ञान का विषय होने से आत्मा नाशवान नहीं हो सकता और ईश्वर की सर्वज्ञता में कमी आना भी संभव नहीं है।

आत्मा की स्थिति स्पष्ट करते हुए शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि शुद्ध विषयात्मक अवस्था में कोई विषयि-परक भावना उपस्थित नहीं होती, वैसे ही मानव अवस्था में आत्मा शुद्ध विषयात्मक दशा में है। इस अवस्था में यह अपने विषयि ईश्वर से अवगत् नहीं है। आत्मा दोहरे सम्बन्ध में समर्थ है, इसके पास दो प्रकार के अद्वैत सम्बन्ध हैं। यह माया के साथ अद्वैत सम्बन्ध में है और उसी समय ईश्वर के साथ अद्वैत सम्बन्ध में है। हम प्रथम को इसका विषयात्मक सम्बन्ध कह सकते हैं और दूसरे को इसका विषयि-परक सम्बन्ध कह सकते हैं। जब इसका विषयात्मक सम्बन्ध (इसका तनु, करण आदि से सम्बन्ध) प्रमुख होता है, यह बन्धन में है, यह मूर्त मानव आत्मा है। जब इसकी विषयिपरक अवस्था प्रमुख होती है, यह स्वयं ईश्वर में है और यह मोक्ष है। इसके प्रथम दशा में हम आत्मा को नहीं देखते परन्तु इसके विषय पक्ष, भौतिक शरीर और इन्द्रियों, मनस्, चित्त आदि और संवेदनाओं को प्रत्यक्ष करते हैं। इसके दूसरी दशा में हम आत्मा को नहीं देखते परन्तु ईश्वर का अनुभव करते हैं जिसके साथ यह स्वयं को तदनुरूपित करता है। यद्यपि एक में या आत्मा के

१. सामान्यतः ससीम वस्तुयें ही व्यक्ति के ज्ञान का विषय होती है क्योंकि वह सीमित है, परन्तु ईश्वर असीम है, इसलिये किसी भी वस्तु का ज्ञान कर सकता है। वह स्वयं ज्ञानरूप है, इसलिये ज्ञाता और ज्ञात का विभेद उसके लिये आवश्यक नहीं है।

दूसरी दशा में, एक वस्तु (ईश्वर) या दूसरी (माया) उपस्थित नहीं है, तो भी इसका अस्तित्व या सत्यता नकारी नहीं जा सकती।

शिव का जगत् से सम्बन्ध :—आत्माओं की तरह जगत् भी शिव से अद्वैत[1] सम्बन्ध में है। इस सन्दर्भ की व्याख्या भी शैव-सिद्धान्त काश्मीर शैव दर्शन से थोड़े भिन्न अर्थ में करता है। काश्मीर शैव दर्शन शिव और जगत् में तात्त्विक अद्वैत मानता है जबकि शैव-सिद्धान्त शिव और जगत् में तात्त्विक द्वैत मानते हुए भी उनके बीच सम्बन्ध को अद्वैत कहता है। शिव अपनी शक्ति द्वारा जगत् के साथ सम्बन्ध में सोचे जाते हैं। इस शक्ति के अभिधान से ही सोचा जाता है कि शिव सम्पूर्ण जगत् हो गये। वह जगत् से एक, भिन्न और अपनी शक्ति द्वारा जगत् में तत्काल उपस्थित भी है। इसलिये उसे द्वितीय उपचार द्वारा सम्पूर्ण जगत् होना कहा जाता है।

वेदान्त में ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध संकेत करने के लिये 'अनन्यत्वम्' पद का प्रयोग हुआ है।[2] इस सन्दर्भ में एक आक्षेप होता है कि यदि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म से अस्तित्व में आता है, तब ब्रह्म एक और जगत् के समरूप होने से, इसके विषयी और विषय (भोक्तृ-भोज्य) के क्रम में पूर्णतया नहीं लिये जा सकते। इस आक्षेप के लिए बादरायण कहते हैं कि ब्रह्म और जगत् भेदाभेद सम्बन्ध में है। शंकर अपनी टीका में कार्यों की सम्पूर्ण रचना का ब्रह्म से अलग कोई अस्तित्व नहीं मानते।[3] वह अनन्यत्वम् को व्यतिरेकेण अभावः के अर्थ में समझते हैं, जिसके अनुसार सम्बन्ध वास्तविक नहीं है क्योंकि जगत् वास्तव में ब्रह्म से उत्पन्न नहीं होता पर केवल प्रपंचात्मक आभास है।

वाचस्पति कहते हैं कि अनन्यत्वम् का तात्पर्य ब्रह्म और जगत् का परम एकत्व नहीं है; परन्तु केवल उनके अलगाव का निषेध है।[4] वह कहते हैं कि सम्बन्ध न तो भेद है और न ही अभेद, न ही भेदाभेद बल्कि यह अपरिभाषेय है। भर्तृप्रपंच और भास्कर अनन्यत्वम् को भेदाभेद सम्बन्ध के अर्थ में लेते हैं।[5]

---

१. अद्वैत की व्याख्या इसके पहले की जा चुकी है।

२ तद् अनन्यत्वम् आरम्भण–शब्दादिभ्यः—वेदान्त सूत्र (२'१-१४)

३. व्यतिरेकेण कार्यजातस्याभा इति गम्यते।"

४. न खलु अनन्यत्वम् इति अभेदम् ब्रूमहे, किम् तु भेदम् व्यासोधमः'—भामती २'१-१४

५. कार्यरूपेण नामात्वम् अभेदः कारणात्मना हेमात्मना यथाभेदः कुण्डलाद्यात्मना हेमात्मना यथाभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा"—भास्कर

न्याय-वैशेषिक अनन्यत्वम् को समवाय सम्बन्ध के अर्थ में उन वस्तुओं में लेते हैं जो अविभाज्य हैं। कुमारिल इसे भेदाभेद अर्थ में लेते हैं। रामानुज अपृथक् सिद्धि या अविभाज्यता मानते हैं।[1] नीलकण्ठ शिवाचार्य[2] मानते हैं कि अद्वैत 'अनन्यत्वम्' का संकेत करता है जिसका तात्पर्य अभेद है। उनके अनुसार अद्वैत का अर्थ भेदाभेद (विशिष्टाद्वैत जैसा) नहीं है, न ही भेद जैसे घट और कपड़े में, न ही परम अभेद जैसे सीप और चाँदी में, जिनमें से एक विभ्रम है। जगत् ईश्वर से अलग अस्तित्व में नहीं हो सकता, यह अविभाज्य है। ये दोनों अविभाज्य रूप से सम्बद्ध हैं, इसलिए एक कहे जाते हैं।

ईश्वर के साथ जगत् का अद्वैत सम्बन्ध दिखाने के लिये अद्वैत-वेदान्त जगत् को मिथ्या मानता है। रामानुजाचार्य जगत् को सत् मानते हैं परन्तु इसे ईश्वर का अंश कहते हैं। इस सन्दर्भ में शैव-सिद्धान्त एक अलग ही दृष्टिकोण रखता है। वह जगत् को सत् मानता है परन्तु इसे ईश्वर का अंश न मानकर यह मानता है कि ईश्वर जगत् में अन्तर्भूत है।[3-4]

शैव-सिद्धान्त का जगत् स्वरूप में जड़ है, इसलिये वह चेतन शिव से कोई सम्बन्ध स्थापित करने में असमर्थ है। शिव ही जड़ जगत् से सम्बन्ध स्थापित करता है। यहाँ भी सम्बन्ध स्थापन में सांख्य दर्शन के प्रकृति-पुरुष सम्बन्ध की समस्या उत्पन्न हो सकती है। परन्तु इस समस्या का निराकरण इसलिये हो जाता है क्योंकि शिव में शक्ति तो है ही, उसमें इच्छा शक्ति का भी समावेश है। शिव अपनी इच्छा शक्ति से अथवा कहा जा सकता है कि अपनी शक्ति की मध्यस्थता से जगत् के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। शैव-सिद्धान्त में निरूपित यह सम्बन्ध संभव अथवा उचित तो है, परन्तु इस सम्बन्ध के स्वरूप के विषय में निश्चित रूप से भेद, अभेद अथवा भेदाभेद में से कोई एक नहीं कहा जा सकता।[5] ईश्वर का केन्द्र प्रत्येक जगह

१. कुमारिल वेदान्त सूत्र पर भाष्य ।।. २-१२
२. नीलकण्ठ शिवाचार्य—११. १: २२
३. अन्तर्भूत की विवेचना आगे की जायेगी।
४. शैव-सिद्धान्त शिव को पूर्ण और शुद्ध सत् तो मानता है लेकिन शिव इस प्रकार का शुद्ध-सत् नहीं है जिसमें सम्बन्धों की संभावना ही न हो। शैव-सिद्धान्त जगत् को सत् मानता है क्योंकि यह ईश्वर की सृष्टि है और प्रलय तक इसका अस्तित्व बना रहता है। इसे असत् भी कहा जाता है क्योंकि यह शिव और आत्माओं की तरह शाश्वत नहीं है। अपनी उत्पत्ति और विनाश के कारण इसे सदसत् भी कहा जाता है।
५. तिरुक्कलिरुप्पतियार, ८१, ८२

है, परन्तु उसकी परिधि कहीं नहीं है। वह आत्मा और जगत् की अशुद्धताओं को न देखते हुए उनमें रहता है।[1] शिव सभी प्राणियों का आन्तरिक तत्त्व हो जाता है। वह अपने पंचकृत्यों के कारण तो जगत् का पिता और माता भी कहा जाता है।[2]

इस सदन्दर्भ में उल्लेखनीय बात यह है कि शिव जगत् से प्रभावित नहीं होता अर्थात जगत् की मलिनता से मलिन नहीं होता। यह इसलिए है क्योंकि शैव-सिद्धान्त जगत् में किसी भी प्रकार से शिव का अवरोहण अथवा अवतार नहीं मानता।

शिव की अन्तर्यामिता: काश्मीर शैव दर्शन के समान ही शैव-सिद्धान्त शिव की अन्तर्यामिता पर विशेष आग्रह करता है। शैव-सिद्धान्त का शिव सत्ता की दृष्टि से आत्मा और जगत् से भिन्न है, परन्तु फिर भी उनमें अद्वैत सम्बन्ध है। सामान्यतः सत्ता की दृष्टि से भिन्न अथवा द्वैत (दो) होने से अद्वैत की व्याख्या में कठिनाई होती है। शैव-सिद्धान्ती इस कठिनाई से बचने के लिए अथवा यह कहा जाय कि अपनी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए शिव को विश्वातीत और अन्तर्भूत मानते हैं। शिव तत्त्वातीत और सर्वव्यापी दोनों है। इसलिए उसे एक और अनेक दोनों कहा जा सकता है। वह अपनी अनुभवातीत अवस्था मे एक है और वही अनेक है जब वह आत्माओं और जगत् की सीमा में होता है। शिव आत्मा और जगत् के साथ तादात्म्य में रहता है, उनसे अलग भी रहता है और उनमें जीवन रूप अविभाज्य भी रहता है।[3] शैव-सिद्धान्त में इस[4] लिए जहाँ भी शिव को तत्त्वातीत कहा गया है, वहीं उसे अन्तर्भूत भी कहा गया हैं। वह जगत् से परे है, परन्तु जगत् में रहता भी है जैसे कि इसमें न हो। सभी प्राणी उस पर आश्रित है और इस प्रकार भी उससे सम्बन्धित है। वह आत्म तत्त्वों[5] और आत्माओं में रहता है और उन्हें सब कुछ से परिपूर्ण करता है।[6] यद्यपि वह सभी प्राणियों में उन जैसा ही रहता है, फिर भी वह उनसे भिन्न है।[7]

शिव की आत्माओं और जगत् में अन्तर्यामिता के विचार में निहित तीन तत्त्व मिलते हैं। एक तो यह कि शिव अपनी शक्ति द्वारा उनमें उपस्थित है, दूसरे

---

१. वही, ८८
२. वही १. १
३. सम्बन्दर पृ० ११, ६०-२
४. तिरुक्कलिरुप्पतियार
५ प्रकृति मे पृथ्वी तक आत्म तत्त्व कहे जाते हैं।
६. तिरुक्कालिरुप्पतियार ६७, १
७. वही, ८७, ८, ४

शिव विभिन्न प्रकार से स्वयं को आत्मा के सामने प्रकट करता है, तीसरे शिव के अन्तर्यामिता की अनुभूति स्वयं होती है। इन विचार तत्वों का विवेचन यहाँ अपेक्षित है।

प्रत्येक आत्मा में ईश्वर की शक्ति उपस्थित है, जिस पर आत्मा का कार्य और परिवर्तन मूलतः सहकारी कारण रूप से आधारित होता है। यह दिव्य अन्तर्यामिता आत्मा से स्थायी अविभाज्यता की अवस्था है।[१] स्वर्ण और इससे निर्मित गहने जैसा तादात्म्य इस सम्बन्ध में देखा जा सकता है[२], परन्तु ईश्वर यहाँ स्वर्ण जैसा निष्क्रिय रूप से उपस्थित नहीं है। ईश्वर आत्मा में संचालन अथवा गति करता है और अपनी अरुलशक्ति से इसके प्रत्येक क्रिया में सहयोग करता है। ईश्वर का आत्माओं के साथ व्यवहार करने का अपना तरीका अथवा ढंग होता है।[३] परन्तु आत्मा यहाँ कोई अपना ढंग नहीं अपना सकता।[४]

ईश्वर की इस अन्तर्यामिता का एक प्रयोजन होता है और वह प्रयोजन है आत्मा को त्रिविध अशुद्धताओं से बचाना।[५] यहाँ एक द्वन्द्वात्मक प्रश्न उठता है कि यदि ईश्वर लगातार सृष्टि संचालन करता है और आत्माओं को सुरक्षापूर्वक मोक्ष के सर्वोच्च लक्ष्य की ओर ले जाता है तो किस प्रकार अशुद्धता उसे प्रभावित करती है और उसे ईश्वर से विपरीत दिशा की ओर ले जाती है? इसके उत्तर में शैव सिद्धान्ती बताते हैं कि शिव अपने कार्य करने में एक विशिष्ट तरीका अपनाता है। वह अशुद्धताओं को भी अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही प्रयोग करता है। सर्वप्रथम ईश्वर कर्म और माया की अशुद्धता को मोक्ष के उद्देश्य के लिए प्रयोग करता है क्योंकि ये दोनों अशुद्धताएँ आत्मा को इसके शुद्ध स्थिर, निष्क्रिय, प्रसुप्त और आणव के कारण पूर्ण अन्धकार की एकाकी अवस्था से जागृत करता है। दूसरे इस प्रकार की अशुद्धता आत्मा के स्वरूप से सम्बन्धित नहीं है क्योंकि यदि यह उसके स्वरूप से सम्बन्धित होती तो यह इसे कभी छोड़ नहीं सकती। इसलिए इसे केवल आवरण माना जाता है।

शिव की अन्तर्यामिता के विषय में एक द्वन्द्वात्मक प्रश्न और उठता है कि किस प्रकार आणव और शक्ति बिना ईश्वर के प्रभावित हुए एक साथ रह सकती है और

१. इरुपाविरुपतु (२. ५-६)
२. वस्तुतः शैव-सिद्धान्त शिव और आत्मा तथा जगत् के बीच तादात्म्य सम्बन्ध नहीं मानता। यह मात्र विवेचना की सुविधा के लिए कहा गया है।
३. इरुपाविरुपतु ४, १२
४. वही, ४, १३
५. इरुपाविरुपतु ४,-२७

ईश्वर फिर भी शुद्ध, निष्कलंक, तत्त्वातीत और सभी प्राणियों की सत्ता अथवा स्वामी बना रहता है ?[१] इस कठिनाई से बचने के लिए शैव-सिद्धान्ती कह सकता है कि ईश्वर आत्मा से परे और अलग रहकर उनकी सहायता करता है, परन्तु तब वह सर्वव्यापी और अन्तर्यामी नहीं रह जायेगा और उसकी अन्तर्यामिता की अनुभूति भी तब नहीं हो पायेगी।[२] इस समस्या का समाधान करते हुए अरुलनन्दी शिवाचार्य कहते हैं कि ईश्वर आत्मा से वैसे ही सम्बन्धित है जैसे स्वयं आत्मा शरीर से सम्बन्धित है। शिव आत्मा से अविभाज्यतः सम्बद्ध है, परन्तु यहाँ इस अविभाज्यता का अर्थ तादात्म्य नहीं है। तादात्म्य मानने पर सर्वोच्च सत्ता अशुद्धताओं से प्रभावित हो सकता है।

शैव-सिद्धान्त यह भी मानता है कि शिव अपनी अन्तर्यामिता को विभिन्न प्रकार से आत्माओं के समक्ष प्रकाशित करता है ताकि आत्मा अपने अज्ञान और कष्ट से मुक्त होकर उसकी उपस्थिति को अनुभूत कर सकें। यह प्रकाशन विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न प्रकार से होता है। बन्धन की अवस्था में आत्मा स्वयं को जगत् का स्वामी और असत्य को सत्य मानता है।[३] इस अवस्था में अवास्तविक और अस्थायी को वास्तविक और स्थायी से तादात्म्यनिरुपित करते हुए ईश्वर आत्मा में इसकी चेतना से छिपा हुआ रहता है।[४] आत्मा स्वयं और ईश्वर के सच्चे स्वरूप से अज्ञानी बना रहता है। वह बिलकुल 'आत्म-केन्द्रित' हो जाता है। उसमें 'मैं' और 'मेरे' की भावना उत्पन्न हो जाती है। आत्मा की इस धृष्टता अथवा अज्ञान के कारण भी ईश्वर आत्मा का परित्याग नहीं करता। यहाँ भी ईश्वर अन्तर्भूत है परन्तु उसकी अन्तर्यामिता छिपी हुई अथवा अनभिव्यक्त है। जब आत्मा अपने में भक्ति के भाव लाता है तो शिव गुरु रूप में प्रकट होता है और उपदेश द्वारा उसे मोक्ष की ओर ले जाता है। परन्तु यह उसकी अन्तर्यामिता की बाह्य अभिव्यक्ति है। वास्तव में ईश्वर की अन्तर्यामिता उसकी अरुलशक्ति की उपस्थिति है जो पहले छिपी है और बाद में अभिव्यक्त होती है।

शैव-सिद्धान्त यह भी मानता है कि शिव की अन्तर्यामिता की अनुभूति आत्मा को स्वयं भी होती है। शिव अपने प्रेम के अतिशयता से अपने अनुग्रह के अनुभव की दिव्य विधि द्वारा आत्मा की सहायता करता है। अनुग्रह से भक्त यह ज्ञान प्राप्त

---

१. वही २, १०

२. इरुपाविरुपतु २, १२, १३

३. वही, १८, २ (यह आणव मल के प्रभाव से होता है)

४. इरुपाविरुपतु, १८, ५

करते हैं कि उनका वास्तविक स्वरूप अशुद्धता से युक्त होना नहीं है बल्कि ईश्वर से संयुक्त होना है। ईश्वर द्वारा प्रदत्त दृष्टि से भक्त ईश्वर की अन्तर्यामिता को गहराई से अनुभूत करता है और इस प्रकार वह ईश्वर पर आश्रितता और उससे अपनी एकता को अनुभव करता है।[१] अन्तर्यामिता का यह अनुभव इस प्रकार का नहीं है कि आत्मा और ईश्वर तदनुरूपित हो जाते हैं और प्रत्येक अपनी व्यक्तिरूपता खो देता है अथवा यह अनुभव शिव की तत्त्वातीतता को ही समाप्त कर देता है। अरुलनन्दी भी एकता में विभेद मान लेते हैं। वह कहते हैं कि ईश्वर का सत्य ज्ञान नहीं हो सकता यदि ईश्वर और आत्मा अलग हों। यदि आत्मा केवल स्वयं को जानता है[२] तो इस प्रकार का ज्ञान सांसारिक होगा। यदि आत्मा ईश्वर को एक विषयात्मक ढंग से जानता है तो ज्ञाता का ज्ञात से विरोध होगा[३] क्योंकि इस प्रकार का ज्ञान पुनः अपूर्ण और सांसारिक होगा। अन्ततः यदि आत्मा ईश्वर को अपने पूर्ण विलय से जानते[४] तो यहाँ दो के बीच चेतन एकता नहीं होगी। इसलिए यह माना जाता है कि आत्मा ईश्वर की एकता में उसकी अन्तर्भूत अनुग्रह से ईश्वर और स्वयं को जानता है।[५] यह एकता ईश्वर का आत्मा में एक प्रकार का प्रवेश है।

कर्म-नियम :—एक ही जीवन पूर्व कर्मों के फल को भोगने के लिये पर्याप्त नहीं होता, इसलिये व्यक्ति को एक जन्म से दूसरे जन्म में जाना पड़ता है। आत्मा भोग के लिये कर्म करता है और कर्म के लिये भोग करता है और इसलिये कर्म ओर भोग के लिये बार-बार जन्म लेता है। यह पूर्व कर्मों के फल पाने के लिये शरीर ग्रहण करता है। यह जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त, नवीन कार्य करता रहता है और कर्मों का ढेर संचित करता है जिसके फल के लिये इसे फिर यह प्रक्रिया दुहरानी पड़ती है। इस प्रकार कर्म-नियम से सम्बन्धित पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी शैव-सिद्धान्त को ग्राह्य है।

इस सन्दर्भ में कुछ दर्शन ऐसे हैं जो कोई कर्म का नियम नहीं मानते। कुछ इस प्रकार के दर्शन है जो कर्म का नियम तो मानते हैं, परन्तु इसका नियन्ता नहीं मानते

---

१. अरुलनन्दी इस अनुभव को अद्वैत के समान मानते हैं (जिसकी व्याख्या पीछे की जा चुकी है)। वह कहते हैं कि यदि 'भक्त कहते हैं कि मैं ब्रह्म हूँ' तब ईश्वर को वह अपना स्रष्टा, अपना स्वामी नहीं मान सकते।

—इरुपाविरुपतु, ८. १७

२. इरुपाविरुपतु, ८, १८-१९

३. वही, ८-२१

४. वही, १८, २१-२

५. वही, १

अर्थात् इसके संचालन के लिए ईश्वर को आवश्यक नहीं मानते। शैव-सिद्धान्त कर्म का नियम मानता है और इसका नियन्ता ईश्वर होना आवश्यक भी मानता है। यहाँ इन सिद्धान्तों की संक्षिप्त विवेचना शैव-सिद्धान्त की दृष्टि से अपेक्षित है।

लोकायत किसी भी प्रकार का कर्म का नियम नहीं मानते। उनके अनुसार वर्तमान जीवन को प्रभावित करने वाला कोई पूर्व कर्म नहीं होता। वह आत्मा में विश्वास नहीं करते। इसलिए वह मानते हैं कि हमारे वर्तमान सुख और दुःख स्वाभाविक हैं तथा पूर्वजन्म में किये गये कर्मों को मानने की आवश्यकता नहीं है। पूर्वजन्म या पूर्व कर्म को मानने का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। इसलिए भी उन्हें मानना मूर्खतापूर्ण है।

लोकायत दृष्टिकोण उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि सुख और दुःख हमारे लिए स्वाभाविक नहीं हो सकते! सुख और दुःख एक दूसरे के विरोधी हैं। इस प्रकार के विरोधी गुण एक प्राणी के लिए स्वाभाविक नहीं हो सकते है। अपने पक्ष के समर्थन में लोकायत कह सकते हैं कि जैसे जल फूलों के सम्पर्क में सुगन्धित हो जाता है या अग्नि का प्रयोग करने पर यह गर्म हो जाता है वैसे ही व्यक्ति सुखदायक और कष्टदायक वस्तुओं के सम्पर्क से सुखी अथवा दुःखी हो जाता है। यह भी अमान्य है क्योंकि जल सुगन्धित या गर्म अपने से नहीं हो जाता, परन्तु पुष्प या अग्नि के सम्पर्क होने से होता है। सुगन्ध पुष्प के स्वरूप से सम्बन्धित है, न कि जल से। उष्मा अग्नि का गुण है, जल का नहीं। इस प्रकार एक वस्तु की प्रकृति परिवर्तित नहीं होती, न ही यह विरोधी गुण सन्निहित करता है। सुख और दुःख परस्पर विरोधी युग्म हैं। इसलिए यह मानना चाहिए कि वे कर्म के विभिन्न पक्षों से उत्पन्न होते हैं।

लोकायत पुनर्जन्म की संभावना का निषेध करते हुए कहता है कि इस जन्म के सुख और दुख की व्याख्या इसी जीवन में हो सकती है, इसलिए एक पूर्वजन्म के मान्यता की आवश्यकता नहीं है। हम इस जगत् में देखते हैं कि वह जो परिश्रमी है, सुखी है, जबकि वह जो आलसी है, दुःखी है। सम्पत्ति कठिन परिश्रम का परिणाम है। आलस्य का प्रतिफल कष्ट है। यदि यह सत्य है कि पूर्वजन्म के कर्म व्यक्ति के वर्तमान स्तर को प्रभावित करते हैं तो उन्हें बिना प्रयास के सम्पत्तिशाली होना संभव नहीं होना चाहिए।

शैव-सिद्धान्ती लोकायत दृष्टिकोण की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि कर्मों की व्याख्या एक ही जन्म से नही हो सकती। कुछ व्यक्ति जन्म से धनी हैं और दूसरे जन्म से गरीब। कुछ व्यक्ति के पास जन्म-जात दोष हैं और कुछ इनसे मुक्त हैं। कुछ की परिस्थितियाँ सुखदायी हैं तो कुछ की कष्टपूर्ण। इन विषमताओं की व्याख्या बिना एक पूर्वजन्म को माने नहीं हो सकती। वर्तमान विषमताओं की व्याख्या कर्ता

के पूर्व जन्म में किए गए कर्मों के सन्दर्भ में ही की जा सकती है। यदि किसी विषय में अच्छाई और खुशी का ठीक समायोजन नहीं हो पाता तो हमें एक भविष्य के जीवन को मान्यता देना पड़ता है, जहाँ यह समायोजन होगा। कर्म और पुर्नजन्म अन्तर्सं-बंधित सिद्धान्त हैं। एक की व्याख्या करने में हमें दूसरे की अपेक्षा होती है। इसलिए हम मानते हैं कि आत्माओं के अनुभव के बीज वर्तमान जन्म के पूर्व पहले से ही रहते हैं। प्राप्ति और खोना, सुख और दुःख, सम्मान और असम्मान ये सभी शक्ति रूप में गर्भ में रहते हैं। शिशु इन सभी के साथ अपने संस्कार रूप में पैदा होता है और जैसे यह बढ़ता है, वे स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार जो पूर्व जन्म में अर्जित रहता है, इस जन्म में फलित होता है। समानतः वर्तमान शरीर के वे कर्म जो वर्तमान जीवन में भोगे नहीं गये हैं, एक अन्य जीवन में भोगे जायेंगे। इस प्रकार कर्म और पुनर्जन्म अन्तर्सम्बन्धित हैं। कर्म का निषेध करना संभव नहीं है और यदि कर्म स्वीकार्य है तो वैसे ही पुनर्जन्म भी स्वीकार्य है।

मीमांसक कर्म का नियम तो मानते हैं परन्तु इसके संचालन के लिए ईश्वर को आवश्यक नहीं मानते। उनके अनुसार कर्म स्वयं अपना परिणाम उत्पन्न कर सकते हैं। अच्छे कर्म का अच्छा परिणाम होता है और बुरे कर्म का बुरा परिणाम होता है। जब अशुभ के तथ्यों की व्याख्या धर्म और अधर्म के सन्दर्भ में हो सकती है तो मीमांसकों के लिये ईश्वर को मानना तर्कसंगत नहीं है। परन्तु यहाँ प्रश्न हो सकता है कि किस प्रकार कर्म जो संपादित होते ही नष्ट हो जाते हैं, भविष्य में फलों को उत्पन्न कर सकते हैं? मीमांसक यह कह कर उत्तर दे सकते है कि कर्म अपना परिणाम अपने नष्ट होने के बाद उत्पन्न कर सकते हैं जैसे खाद या दवा नष्ट हो जाती है और फिर बाद में फलित होती है। परन्तु यह कहना उचित नहीं है क्योंकि खाद या दवा जिस अर्थ में नष्ट होते हैं, उस अर्थ में कर्म नष्ट नहीं होते। यदि कर्म को भी उसी अर्थ में नष्ट होना माना जाय जिसमें खाद या दवा नष्ट होते हैं तो खाद या दवा उसी स्थान पर अपना परिणाम उत्पन्न करते हैं, जहाँ वे नष्ट होते हैं। परन्तु कर्म के साथ ऐसा नहीं है। कर्म इस जगत् में किये जाते हैं, यथा तर्पण जल में प्रदान किया जाता है, हविष अग्नि में और दिया गया दान यहीं नष्ट हो जाते हैं। किस प्रकार ये कर्म, जो इस जगत् में संपादित किये जाते हैं और संपादित होते ही नष्ट हो जाते हैं, दूसरे जगत् अथवा स्वर्ग में या भविष्य में सुख उत्पन्न करते हैं? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि कर्म अपना प्रभाव कर्ता के मन पर छोड़ते हैं और इन प्रभावों के कारण ही वे बाद में फलित होते हैं। परन्तु यदि ऐसा है तो स्वर्ग, नरक, पृथ्वी आदि मन में रहना चाहिए क्योंकि मन में ही ये स्वर्गिक या नारकीय भोग हो सकते हैं। मीमांसक यह विचार

नहीं मान सकते क्योंकि यह मानना विषयवादिता को स्वीकार करना होगा। यदि स्वर्ग आदि शुद्ध और सामान्य कल्पनायें हैं तो कौन त्याग करेगा जो अत्यन्त कष्टप्रद है।

शैव-सिद्धान्त की दृष्टि में मीमांसक अशुभ के तथ्यों को केवल कर्म से व्याख्या नहीं कर सकते। कर्म अपने संपादन के साथ नष्ट हो जाते हैं। कर्म के नष्ट होने के साथ ही उससे सम्बन्धित सभी वस्तुएँ, यथा दान और दाता, पिण्डदान और प्राप्त करने वाला नष्ट हो जाते हैं। फिर भी यह इन्कार नहीं किया जा सकता कि कर्म के नियम कार्य करते हैं। परन्तु बिना एक चेतन निर्देशक के यह कार्य नहीं कर सकता। यदि नियम बनाने वाला नहीं है तो कोई नियम हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार यह नियम कार्य भी नहीं कर सकता यदि इसका नियन्ता नहीं है।

कर्म-नियम के नियन्ता की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए शैव-सिद्धान्त कहता है कि आत्माओं और शरीरों के बीच एक संयोजन होना चाहिए। यह आत्माओं को उनके मल से मुक्त करने के लिये आवश्यक है। आत्माओं को शरीर से मुक्त करने का कार्य जड़ पदार्थ द्वारा संपादित नहीं किया जा सकता। न तो आत्मा ही अपने अनुसार शरीर चुन सकते हैं। इसलिये आत्माओं को शरीर से मुक्त करने के लिये एक सत्ता होनी चाहिए जो न तो जड़ हो और न ही संसार का विषय। वह सत्ता ईश्वर ही हो सकता है।

यद्यपि आत्मा कर्म के नियम द्वारा नियन्त्रित होते हैं, परन्तु कर्म स्वयं संचालित नहीं हो सकते क्योंकि ये अचेतन हैं। न ही शरीर से अलग हुए आत्मा अपना उचित कर्म ही चुन सकते हैं। इसलिये एक ऐसी सत्ता होनी चाहिए जो कर्म का प्राणी न हो और जो कर्म-नियम संचालित करने की चेतना रखता हो। आत्मा के कर्मों का निर्धारण बिना एक न्याय कर्ता के नहीं हो सकता वह न्याय कर्ता ईश्वर है।

आत्मा के भोग इसके शरीर, ज्ञानेन्द्रियों, देश, काल, कार्य और विषय के संयोजन से अनुबन्धित हैं। ये सभी अचेतन हैं और अपने सहयोगी को चुन नहीं सकते। एक शरीर-संरचना भी आत्मा और जगत् का चुनाव नहीं कर सकती। ससीम आत्मा भी अपना शरीर नहीं चुन सकता क्योंकि यह मल से आवृत है और इस कारण इसकी चेतना सीमित है। इस प्रकार केवल यही माना जा सकता है कि ईश्वर कर्म का नियम संचालित करता है। वही आत्मा और भोग के साधनों तथा भोग के विषयों में एकता स्थापित करता है। कर्म उसके आदेश में कार्य करते हैं।

इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि इस कर्म नियम का शिव के अनुग्रह स्वरूप से कोई तार्किक विरोध नहीं है। कर्म नियम के अनुसार बुरा कर्म करने वाला व्यक्ति

दण्डित होता है अर्थात् कष्ट सहता है। शिव को अनुग्रह स्वरूप कहने का तात्पर्य यह है कि शिव आत्माओं को प्रेम करता है। यहाँ एक द्वन्द्वात्मक प्रश्न उठ सकता है कि यदि शिव आत्माओं को दण्डित करता है तो इसका तात्पर्य यह होगा कि वह आत्माओं को प्रेम नहीं करता। यदि वह आत्माओं को प्रेम करता है तो कर्म-नियम के अनुसार उन्हें दण्डित नहीं कर सकता क्योंकि आत्माओं को कष्ट देना उसके प्रेम स्वरूप के विरुद्ध होगा। इसका समाधान करते हुए शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि ईश्वर का न्याय और प्रेम तदनुरूप हैं। अपने प्रेम के कारण ईश्वर अच्छे को पुरस्कृत करता है और उसी प्रेम के ही कारण पापी को दण्डित भी करता है। यहाँ दण्ड भी दया-कार्य माना गया है। यदि एक माँ अपने बच्चे को प्रताड़ित करती है तो यह उस बच्चे के भलाई के लिये ही है। इसी प्रकार एक उद्दण्ड (दुर्दान्त) आत्मा के लिये ईश्वर द्वारा दिया गया दण्ड आत्मा की भलाई के लिये है। ईश्वर प्रेम है और कर्म नियम प्रेम प्रदान करने का सिद्धान्त है!

●

सृष्टि क्रम

काश्मीर शैव दर्शन के समान ही शैव-सिद्धान्त छत्तीस तत्त्वों में सृष्टि-क्रम की व्याख्या करता है, परन्तु कुछ बातों को लेकर दोनों दर्शनों में मौलिक विभेद है। काश्मीर शैव-दर्शन अभिन्ननिमित्तोपादान कारणता का प्रतिपादन करता है तथा शिव से ही सम्पूर्ण सृष्टि-क्रम की आभासवादी व्याख्या करता है। किन्तु शैव-सिद्धान्त निमित्त और उपादान कारण का भेद करता है तथा शिव को केवल निमित्त कारण मान कर तथा माया को उपादान कारण प्रतिपादित कर यथार्थवादी सृष्टि-क्रम की व्याख्या करता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार शिव सृष्टि से सीधा सम्बन्धित नहीं है। शिव की केवल इच्छा ही सृष्टि-कार्य में संलग्न है जो शैव-सिद्धान्त की दृष्टि में सम्पूर्ण सृष्टि को संपादित करने के लिये पर्याप्त है। इसलिये शैव-सिद्धान्त में शिव केवल निमित्त कारण है तथा उसे (शिव को) जगत् के उपादान के लिये माया की अपेक्षा होती है। माया की इस अपेक्षा को शैव-सिद्धान्त तार्किक आवश्यकता मानता है।

माया की तार्किक आवश्यकता :—पति, पशु और पाश की विवेचना में शैव-सिद्धान्त के अनुसार पशु ससीम है और पदार्थ जड़ हैं, इसलिये ये जगत् की सृष्टि का संपादन करने में समर्थ नहीं हैं। पति असीम है और पूर्ण है अतः वह सृष्टि संपादन में समर्थ है। शैव-सिद्धान्त में जगत् को कार्य रूप माना गया है क्योंकि यह अनेक घटकों से निर्मित है। कार्य होने से इसका कारण भी होना चाहिए क्योंकि सत्कार्यवाद[1] के अनुसार विना कारण के कोई भी कार्य नहीं हो सकता। शैव-सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार शाखाओं और पत्तियों सहित वृक्ष बीज के अंकुरायमाण अवस्था में अन्तर्निहित रहता है, उसी प्रकार जगत् का निर्माण करने के लिये विकसित तत्त्वों का एक आधार होना चाहिए जिससे वे उत्पन्न हों।[2] जगत् यद्यपि परिवर्त्य अवस्थाओं का विषय होने से असत् है फिर भी आकाश कुसुम के समान (शैव-सिद्धान्त के अनुसार) असत् नहीं है।[3] अपने परिवर्त्य स्वरूप के बावजूद यह सत् है, इसलिये परिवर्त्य अवस्थाओं में इसके सत्य का निर्माण करने के लिये इसे एक आधार की अपेक्षा होती है। इस आधार को भी जगत् के समान

१. पिछले अध्याय 'कारणता' में देखा जा चुका है कि शैव-सिद्धान्त सत्कार्यवादी है।

२. शिवज्ञानबोधक, । १४

३. शिवज्ञानसिद्धि, टी० पृ० १७

स्वरूप का ही होना चाहिए क्योंकि कारण और कार्य समान स्वरूप के होते हैं। जगत् भौतिक कार्य है इसलिये भौतिक कारण से ही इसकी व्याख्या हो सकती है। शिव चेतन है अतः अपने में से अचेतन और भौतिक जगत को उत्पन्न नहीं कर सकता।[1] इस प्रकार जगत् के लिये एक तात्त्विक आधार अपेक्षित है। पुनः कर्म, जो जड़ होने से उत्पत्ति और विनाश का विषय है, चित में नहीं रह सकते।[2] वह केवल अचित् में ही रह सकते हैं। इसलिये उनके वाहक स्वरूप भी एक तात्त्विक आधार अपेक्षित है। इस आधार को शैव-सिद्धान्त में माया से अभिहित किया गया है।

सांख्य दर्शन सृष्टि-विकास का यह आधार प्रकृति को मानता है। शिव-सिद्धान्त में प्रकृति विकास की प्रक्रिया के मध्य में आती है। यद्यपि इससे भी कुछ तत्त्व विकसित होते हैं, परन्तु यह स्वयं एक विकास है।[3] सांख्य दर्शन में सृष्टि-विकास बिना ईश्वर के ही प्रकृति से सम्पन्न हो जाता है। शैव-सिद्धान्त की दृष्टि में यह संभव नहीं है। शैव-सिद्धान्त में माया अचित् और जड़ है इसलिए अकेले कोई विकास नहीं कर सकती। शिव अपनी शक्ति के माध्यम से माया द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि का विकास कराता है क्योंकि बिना ईश्वर के माया में कोई गति नहीं हो सकती।[4]

काश्मीर शैव दर्शन में भी सृष्टि-विकास की व्याख्या के लिए माया का प्रतिपादन किया गया है किन्तु माया विषयक अवधारणाओं को लेकर काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त में मतभेद है। काश्मीर शैव दर्शन में माया शिव की परिग्रह शक्ति है तथा स्वरूप में चेतन है और तात्त्विक दृष्टि से शिव से अभिन्न है। शैव-सिद्धान्त में माया यद्यपि शिव की परिग्रह शक्ति के रूप में प्रतिपादित है परन्तु स्वरूप से जड़ है तथा तात्त्विक दृष्टि से शिव से भिन्न होते हुए भी शिव के साथ अभिन्न सम्बन्ध में है। ईश्वर और माया के बीच यहाँ स्वामित्व का सम्बन्ध माना गया है।[5] शिव और माया एक दूसरे से चित् और अचित् रूप में विभाज्य हैं परन्तु दोनों सर्वथा भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हैं। यद्यपि माया में सृष्टि विकास की क्षमता है परन्तु बिना शिव की शक्ति के इसमें गतिशीलता नहीं आती। इसीलिए माया को यद्यपि जगत् का प्रथम कारण अथवा उपादान कारण माना गया है परन्तु अन्तिम कारण शिव ही है।

---

१. शैव परिभाषा पृ० ८१
२. शै० प० पृ० ८८
३. शिवज्ञान बोधम्, मापादियम् पृ० १२२
४. शिव प्रकाशम्, २४
५. शिव प्रकाशम्, २३

अद्वैत-वेदान्त में भी प्रतिपादित सृष्टि की व्याख्या माया से ही की गयी है किन्तु अद्वैत-वेदान्त की मायाजन्य सृष्टि तथा शैव-सिद्धान्त की मायोत्पादित सृष्टि में विरोध है। अद्वैत-वेदान्त के मायावाद के अनुसार परमतत्त्व ही अकेले सत्य है तथा द्वैत का सर्वथा अभाव है। जगत् ब्रह्म से सर्वथा भिन्न होने के कारण न तो यह इसमें निहित है और न ही इसमें मिल सकता है। इसलिए जगत् सत्य न होकर मात्र मिथ्याभास है। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार जगत् का हमारा प्रत्यक्ष मिथ्या है। अज्ञान सत्य विषय के ज्ञान का अभाव है तथा सत्य विषय के स्थान पर किसी अन्य विषय का आरोपण है। मिथ्या विषय सत्य घटकों से निर्मित नहीं हो सकता; यह स्वयं अज्ञान का परिणाम है। इसके परिणामस्वरूप जगत् अज्ञान के आधार या उपादान की सामग्री है और जब तक अज्ञान रहता है, जगत् का मिथ्याभास भी बना रहता है। इस प्रकार अद्वैत-वेदान्त के अनुसार जगत् वास्तव में 'कुछ' है लेकिन वह ज्ञान के स्पर्शमात्र से विलुप्त हो जाता है। मायावाद के अनुसार मिथ्या सृष्टि का चरमतत्त्व माया है। जगत् का प्रत्येक तथ्य या क्षण, चाहे वह भौतिक हो या मानसिक, माया का गुण है। माया ही जगत् का उपादान या आदि स्रोत है। इसलिए माया के मिथ्याजनक होने से जगत् भी असत्य है। किन्तु शैव-सिद्धान्त के अनुसार मायोत्पादित जगत् अपने अभिव्यक्त या अनभिव्यक्त रूपों में मिथ्या नहीं है बल्कि वैध आनुभूतिक ज्ञान का विषय है। जगत् ईश्वर द्वारा प्रदत्त अज्ञान और मल की अशुद्धता का विरोध करने का सर्वोच्च साधन है। यह स्वयं ईश्वर के अनुग्रह की अभिव्यक्ति है, यद्यपि इस पर आवरण पड़ा हुआ है।[1]

माया का स्वरूप विवेचन :—शैव-सिद्धान्त में माया की स्वरूप विषयक अवधारणा प्रायः काश्मीर शैव दर्शन के समान ही है किन्तु कुछ बातों को लेकर मतभेद है। काश्मीर शैव दर्शन में माया शिव की शक्ति का अवस्था भेद है तथा अस्तित्व के लिए शिव पर आश्रित है। शैव-सिद्धान्त में माया नित्य सत्ता[2] है तथा यद्यपि अपने अस्तित्व के लिए शिव पर आश्रित नहीं है परन्तु क्रियाशीलता के लिए शिव पर आधारित है। अद्वैत-वेदान्त में माया न तो सत् है और न ही असत् बल्कि सदसद्विलक्षण है। शैव-सिद्धान्त में माया सत् और विषयात्मक है। आत्मा अपनी ज्ञानात्मक और क्रियात्मक क्षमताओं का प्रयोग करने के लिए शक्ति की अपेक्षा करते हैं। यह शक्ति माया द्वारा प्रदान की जाती है। शक्ति प्रदान करने के अतिरिक्त माया शक्ति का प्रयोग करने का साधन और उनके रहने के लिए जगत् भी प्रदान करती है। इस प्रकार माया भौतिक शरीर, मानसिक इन्द्रियाँ और भोग के विषय प्रदान

१. मापाडियम् पृ० ३४४
२. शिवज्ञान सिद्धि, १, १२; १३, ६१; शै० प० पृ० ८८

करती है। यह ब्रह्माण्ड और लघुजगत् दोनों प्रस्तुत करती है।

इस माया के सामान्यतया दो अर्थ किये जाते हैं।[१] यह कला, कृत्रिमता, असाधारण शक्ति तथा चमत्कार करने की शक्ति आपादित करती है। दूसरे अर्थ में यह 'मा' धातु से निर्मित एक संज्ञा है जिसका अर्थ है मापना या ले आना और इस प्रकार माया अपनी व्युत्पत्ति के आधार पर मापना और संरचनात्मक चेतना का संकेत करती है। यह शब्द धूर्तता, कृत्रिमता, धोखा, जालसाजी या सम्मोहन भी आपादित करता है। शैव-सिद्धान्त इसे पहले अर्थ में लेता है।[२] माया का अर्थ शक्ति है जो इच्छा के स्वतन्त्र निर्धारण के विकास की संभाव्यता है। माया का उपादान कारण के रूप में विकास के विचार में धूर्तता संकेत करने वाला अर्थ अस्पष्ट है क्योंकि यह चित् के सच्चे स्वरूप पर आवरण के परिणामस्वरूप किसी चीज के प्रकाशन का विकास है। चित् स्वेच्छा से स्वयं को अनेकता में व्यक्त करता है जिसके अनुसार सुख, दुःख और मोह संचालित होते हैं। शैव-सिद्धान्त में माया को भी मल माना गया है जिसके सहयोग से आत्मा अन्ततः अपनी अशुद्धता से मुक्त होता है। माया आत्मा को कर्म के नियम के अनुसार मोहित करती है। यह मोह आत्म को अनात्म के समरूप करती है जो भोग के कारण हैं और माया अपने भौतिक विकासों के द्वारा अनात्म में शाश्वतता, शुद्धता और आनन्दपूर्णता आरोपित करती है जो आत्म के गुण हैं। एक अर्थ में माया के विकास मलाबद्ध आत्मा को आंशिक अनावरण करने का कार्य करते हैं जो आत्मा को चेतना की त्रिविध, इच्छा, ज्ञान और क्रियात्मक अवस्थितियों की सुविधा प्रदान कर संपादित किया जाता है। एक दूसरे अर्थ में यह चेतना को शरीर जगत् और भोग के विषयों द्वारा सीमित करके मोहित[3] करती है। इस प्रकार यह कर्म के नियम द्वारा दुःख और कष्ट के अनुभव करने में सहायता करती है।

माया का विकास :—विकासोन्मुखी माया त्रिविध रूप धारण करती है। ये रूप माया के विकास की तीन अवस्थायें हैं जिनके अनुसार सृष्टि के तत्त्वों का विकास होता है। सृष्टि के आरम्भ में माया की अतिसूक्ष्म अवस्था शुद्ध माया कही जाती है। इस अवस्था से यह परिवर्तित होती है और स्थूल अवस्था को प्राप्त करती है। इस अवस्था की माया अशुद्ध माया कही जाती है। इस अवस्था से पुनः स्थूलतर रूप धारण करने पर यह माया प्रकृति माया कही जाती है।[४] इनका अलग-अलग

१. यह अर्थभेद माया शब्द पर आधारित है।
२. शिवज्ञान सिद्धियार सु०, १.१९
३. शै० प० पृ० ८९
४. शिवज्ञानबोधम्, मापादियम पृ० १३६-१३

संक्षिप्त विवेचन अपेक्षित है।

शुद्ध माया :—शुद्ध माया शुद्ध है क्योंकि इसमें कर्म अथवा मल का समावेश नहीं होता। यह सुख उत्पन्न करती है। शुद्ध माया पूर्णज्ञान को उत्पन्न करती है तथा शुद्ध प्रपंच की उत्पत्ति इससे होती है। वाणी के चार प्रकार (बैखरी आदि) इससे उत्पन्न होते हैं। शुद्ध माया को बिन्दु कहा जाता है।[१] इसके विकास में स्वयं शिव कर्ता हैं। यह शिव की परिग्रह शक्ति है।[२]

अशुद्ध माया :—कर्म से मिश्रित होने के कारण अशुद्ध माया अशुद्ध है तथा इसे अधोमाया और मोहिनी भी कहा जाता है। अशुद्ध माया सुख और दुःख दोनों उत्पन्न करती है। इसके द्वारा अपूर्ण ज्ञान तथा अशुद्ध प्रपंच की उत्पत्ति होती है अशुद्ध माया भौतिक जगत् का उपादान कारण है तथा शाश्वत है यद्यपि इसके उत्पादन उत्पन्न और नष्ट होते हैं। यह एक है यद्यपि इसके घटक विभिन्न हैं। अरूप होने पर भी इसके विकास सरूप या अरूप दोनों हो सकते हैं।[३] अशुद्ध माया से तनु, करण, भुवन, भोग, शरीर, इन्द्रियाँ, जगत् और सकलों के लिए भोग के विषय उत्पन्न होते हैं। यद्यपि यह अशुद्ध है फिर भी आणव की अशुद्धता से आत्माओं को मुक्त करने में सहायता करती है। अशुद्ध माया वैसे ही अशुद्धता को दूर करती है जैसे बालू आदि से गन्दे वस्त्रों को साफ किया जाता है।[४] माया और आणव के परस्पर विरोधी कार्य है। आणव आत्माओं को अज्ञानी बनाने के लिए उनके स्वरूप को तिरोहित करता है जबकि माया उन्हें प्रकाशित करती है।[५]

अशुद्ध माया के अशुद्ध होने के कारण शिव इस पर कार्य नहीं करता। अपनी शक्ति से वह शुद्ध माया में रहने वाले देवों को शक्ति मानकर शेष विकासों को कराता है। सदाशिव अशुद्ध माया से काल, नियति और कला तथा इससे विद्या और राग उत्पन्न करता है।[६] इससे उत्पन्न होने वाला ज्ञान यद्यपि भ्रामक होता है परन्तु यह आत्माओं के आणव की अशुद्धता को दूर करने में सक्षम है।[७]

प्रकृतिमाया :—अशुद्ध माया[८] से उत्पन्न होने के कारण प्रकृति माया अशुद्ध है।

१. शिवप्रकाश, २२; शिवज्ञानसिद्धि ११, ५१
२. शिवज्ञानसिद्धि, ११, ५२
३. शिवप्रकाश, ७३
४. शैव परिभाषा पृ० ७९
५. वही,
६. शिव प्रकाश, २६
७. शिवज्ञान सिद्धियार, सुपक्कम, १४२-३४३
८. शिव प्रकाश ११

यह सत्त्व, रजस् और तमस् तीन गुणों से युक्त है तथा चौबीस गुण तत्त्वों को उत्पन्न करती है। इस अवस्था में ईश्वर द्वारा प्रदत्त शक्ति से सम्पन्न रुद्र कर्ता है।

माया के इस विकास के क्रम में ही सृष्टि के छत्तीस तत्त्वों की सृष्टि होती है। पहले वाणी के प्रकारों (शब्द जगत्) की सृष्टि का विवेचन अभीष्ट है जिससे शिव तत्त्वों की अभिव्यक्ति का क्रम निर्दिष्ट होता है। वाक सृष्टि की व्याख्या शैव-सिद्धान्त में काश्मीर शैव दर्शन के समान ही की गयी है; अन्तर केवल इतना ही है कि काश्मीर शैव दर्शन से वाक् सृष्टि शिव चैतन्य से होती है जबकि शैव-सिद्धान्त मे वाक् सृष्टि शुद्ध माया से होती है।

शब्द सृष्टि :—शुद्ध माया से शब्द जगत् अथवा वाणी के चार प्रकारो की सृष्टि होती है। वाणी के ये प्रकार पाँच शिव तत्त्वों (शिव, शक्ति, सादाख्य, महेश्वर और शुद्ध विद्या) में रहते हैं। ये पाँच कलाओं (निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यातीत) पर आश्रित होते हैं। वे अपने मूल स्वरूप मे विना परिवर्तन के ही विकास करते हैं। शब्द-ब्रह्मवादी वाणी के इन प्रकारों को ब्रह्म कहते हैं। शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि वे ब्रह्म नहीं बल्कि ब्रह्म की परिग्रह शक्ति है जो शुद्ध माया रूप है।

वाणी के ये प्रकार सविकल्पक ज्ञान के लिये आवश्यक हैं। वाणी के इन प्रकारों के विना ज्ञान नहीं हो सकता। वे आत्मा की अवस्था के अनुसार अपनी अभिव्यक्ति क्रम में विभिन्न होती हैं। वे विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल के लिये स्थूलतर और स्थूलतम हैं।[1] वाणी के इन प्रकारों का अलग-अलग विवेचन अपेक्षित है।

१—परा वाक् :—यह वाणी के सांकेतिक क्षमता का मूल स्रोत है। इसे नाद भी कहा जाता है। वाणी की अति सूक्ष्म अवस्था होने के कारण इसे सूक्ष्मावाक् भी कहा जाता है। इसके दो गुण हैं, यह कारण शरीर में ध्वनि रूप में रहती है और दूसरे यह ज्ञान को संभव करती है।[2] इस अवस्था का ज्ञान बिना किसी निर्धारण के होता है।

परा वाक् वाणी की उच्चतम अवस्थिति है। यह वाणी के अन्य प्रकारों से उच्चतर तथा भिन्न है। परा वाक् व्यक्ति में बोधगम्यता की साधारण दशा के रूप में सदा अभिव्यक्त रहती है, उस समय भी जबकि वाणी के अन्य प्रकार अनभिव्यक्त रहते हैं। यह तुरीयावस्था में भी उपस्थित रहती है, इसलिये इसे प्रकाश भी कहा

---

१. वाणी के इन प्रकारों द्वारा प्रदत्त ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार ये मोक्ष प्राप्ति में सहायक हैं।

२. शैव परिभाषा पृ० ८१

जाता है।[1] परावाक् अपने आन्तरिक गुणों से आत्मा के सामीप्य के कारण स्वयं आत्मा कही जाती है।[2] इससे ही वाणी के अन्य प्रकार विकसित होते हैं इसलिए इसे शुद्ध माया रूप अथवा विन्दु भी कहा जाता है। शब्द सृष्टि का प्रथम उत्पादन होने से यह शिव से साम्य रखती है इसलिये इसे छत्तीस तत्त्वों का प्रथम भी कहा जाता है।

शब्द ब्रह्मवादी परा वाक् को वाणी के मूल रूप में स्वयं परमतत्त्व मानते हैं। यह शब्द ब्रह्म है जो आत्म-प्रकाशित, अविभाज्य, अपरिवर्त्य और शाश्वत है। यदि इसकी मौलिकता को अनुभूत किया जाय तो आत्मा वैयक्तितता के विचार से ऊपर उठती है। परा वाक् शब्द प्रपंच और जगत् से वैसे ही सम्बन्धित है जैसे सत्य अपने आभास से।[3]

शैव-सिद्धान्त परा के इस विचार को नहीं मानता। यह परा या नाद को ब्रह्म नहीं वल्कि शक्ति मानता है। यह ब्रह्म की परिग्रह शक्ति है। यह इसके स्थूल और स्पष्ट वाणी रूपों में इसके प्राकट्य की अवस्थाओं का वास्तविक परिवर्तन कहता है; ये परिवर्तन वृत्ति का है न कि अवास्तविक आभास। यदि प्रपंच केवल शब्द के आभास हैं तव शब्द न केवल इसके आभास का स्रोत होगा प्रत्युत उस मोह का भी जो आभास का कारण है। इस प्रकार यहाँ असीमित पुनरावृत्ति का दोष होगा। यदि यह वास्तविक रूपान्तरण का विषय है तो यह शाश्वत नहीं रह जायेगा।[4]

---

१. शिवज्ञान सिद्धियार, सुपक्कम्, १.४३

२. र० ग्र०, ७९,

३. शि० सि० सु० १.२४

४. शैव-सिद्धान्त का शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के विषय में विचार है कि शब्द अर्थ को समझने का साधन है, वैसे ही जैसे दीपक अन्धकार से घिरी वस्तुओं को प्रकाशित करके दिखाता है। यहाँ अर्थ केवल शब्द का परिष्कार कहा गया है। अद्वैतवादियों के अनुसार अर्थ शब्द का आभास है और शब्द अर्थ की वास्तविकता है। एक दूसरे द्वारा प्रक्रिया में विना दूसरे उत्पादन के उत्पन्न है। स्वयं शब्द ही अर्थ रूप में बाह्य परियोजित है। शब्द द्वारा सोचे गये के अतिरिक्त कोई अन्य विषय नहीं है। इस प्रकार विषय केवल शब्द का परिष्कार या पूर्णता है। अर्थ शब्द से निःसृत होता है और एक ही शब्द विभिन्न अर्थ रखता है। यह दिखाता है कि शब्द स्वयं अर्थ से गर्भित है और उनके पास कोई भी अर्थ व्यक्त करने की स्वतन्त्रता है। शब्द के आविर्भाव के साथ अर्थ आविर्भूत होता है। यह शब्द ही है जो अर्थ की व्याख्या करने के लिये भी प्रयोग किया जाता है।

२—पश्यन्ती वाक् :—पश्यन्ती मयूरनी के अण्डे के समान[१] बहुत से वर्णों को अन्तर्निहित किये रहती है जो बाद में अभिव्यक्त होते हैं।[२] यह निर्विकल्पक ज्ञान को संभव करती है। विभाजित वर्णों की अवस्था पश्यन्ती को अपना कारण संकेत करती है जहाँ वर्ण अपने क्रम में बिना विभाजन के उपस्थित हैं। पश्यन्ती वाक् स्वयं में सभी वर्णों की एक अविभाजित सूक्ष्म दशा निहित करता है। अविभाजित होने पर भी पश्यन्ती आत्म-प्रकाशित है। इसकी सांकेतिक क्षमता एक निर्विकल्पक विचार रूप ग्रहण करती है। सभी सविकल्पक ज्ञान निर्विकल्पक बोध की पूर्वमान्यता रखते हैं, पश्यन्ती जिसका कारण है।

३—मध्यमा वाक् :—मध्यमा वक्ता के मस्तिष्क में सविकल्पक ज्ञान को रूप देने में सहायता करता है। यह दूसरे द्वारा सुनी नहीं जा सकती। यह गले में अन्दर रहने वाली मन्द ध्वनि है। प्राण वायु इस पर कार्य नहीं करती।[3] यहाँ केवल उदान वायु द्वारा कार्य होता है। यह दाँत, ओष्ठ, जिह्वा और तालु से टकराकर प्रस्फुटित नहीं होती। यहाँ केवल पश्यन्ती में अवस्थित अविभाजित वर्ण सूक्ष्म रूप में विभाजित हो जाते हैं।

४—वैखरी वाक् :—वैखरी वाणी रूप है जिसमें वर्ण जो पहले से विभाजित हैं अभिव्यक्ति पूर्वक उच्चरित हो जाते हैं। इस प्रकार वर्णमाला के वर्ण अपने विभिन्न संयोगों से श्रोता को सुनाई पड़ जाते हैं। यह उच्चारण प्रतीक के रूप में प्रयुक्त शब्द है। यह एक सामान्य स्थल है जिसे प्रतीक अपने कार्य के लिये आधार दशा के रूप में अपेक्षा करते हैं जिससे वे श्रोता द्वारा समझे जा सकें। वैखरी अर्थ का संकेत करने में समर्थ शब्द होने से श्रोता में भी वही भाव उत्पन्न कर लेती है।[४] वैखरी में जो संकेत करने की सामर्थ्य है वह श्रोता में भी वही क्षमता उत्पन्न कर देती है जिससे अर्थ का भाव प्रवृत्त हो जाता है।[५] इस प्रकार यह आत्मा में भाषा की संचारिता को संभव बनाती है।

इस अवस्था में प्राण वायु कार्य करता है। उदान-वायु द्वारा वर्ण विभाजित तो हो जाते हैं परन्तु बाह्य उच्चरित नहीं हो पाते। उच्चरित होने के क्रम में यह एक अतिरिक्त प्रेरणा की अपेक्षा करते हैं जो इसे बाह्य अभिव्यक्त करे तथा अन्यों को

१. शैव परिभाषा पृ० ८१
२. ये वर्ण मध्यमा में पृथक् किये जाते हैं।
३. शैव परिभाषा पृ० ८१
४. शै० प० पृ० ८२
५. ना० का०, ११, टी०

समान रूप से श्रवण कराये। दाँत, ओष्ठ, जिह्वा और तालु इसे आकार और रूप देते हैं, परन्तु बाह्यीकरण की मुख्य शक्ति प्राणवायु से आती है। यह सविकल्पक ज्ञान प्रदान करती है।[१]

वैखरी के साथ सम्बन्ध में वाणी के अन्य सभी स्तर अतीन्द्रिय वर्णित हो सकते हैं। वैखरी आनुभविक तौर पर ज्ञेय है जबकि मध्यमा तथा अन्य अस्पष्ट हैं। मध्यमा सविकल्पक ज्ञान के पूर्व की अवस्था है। यह प्राण वायु के संचालन के पूर्व है इसलिये यह अनुच्चरित रहता है परन्तु यह बुद्धि के लिये ग्रहणार्य प्रवृत विषय प्रस्तुत करता है। इस आन्तरिक संयोग की प्रक्रिया में उदानवायु सहायता करता है। प्राणवायु ध्वनि मिश्रण को ग्रन्थि से मुख की ओर दबाव देकर उच्चारण में सुविधा देता है जहाँ जिह्वा और तालु इसे मोड़ते हैं। उदानवायु इसे फेफड़े से कंठ तक उठाकर विभाज्यता में सुविधा देता है।[२]

वाणी के ये प्रकार शुद्ध अध्वा, शुद्धा-शुद्ध तथा अशुद्ध अध्वा के वाणी के प्रकार है।[3]

सृष्टि तत्त्व :—तत्त्व[४] के लिए तमिल में 'तत्तुवम' शब्द प्रयुक्त होता है। यह शब्द संस्कृत तत्त्व से निकला है जिसका अर्थ है एक वस्तु का 'सार' या उसकी वास्तविक दशा। इसका तमिल रूप 'तत्-त्व' है। यह 'तत-त्वम्' के अर्थ में नहीं लिया जा सकता। अद्वैत-वेदान्त में यह कभी-कभी तत्-त्वम्' के अर्थ में व्यक्तिगत आत्मा का सार्वभौम ब्रह्म के साथ तादात्म्य-निरूपण में प्रयोग किया जाता है। शैव-सिद्धान्त में यह मानव संरचना के किसी भी इन्द्रियादि भाग के लिए प्रयुक्त हो सकता है चाहे वह दृश्य हो अथवा अदृश्य, सक्रिय हो या जड़। तत्त्व का मुख्य प्रतिपाद्य है कि मनुष्य एक पूर्ण लघुविश्व है और वह शिव-शक्ति पर अपनी उत्पत्ति तथा स्वरूप दोनों के लिए आश्रित है।

---

१. वैखरी-प्रदत्त ज्ञान निर्भ्रान्ति और निर्धारित होता है क्योंकि इसके उच्चारण के लिए जिम्मेदार प्राणवायु इसके संशयात्मक अवस्थिति मनस् द्वारा संचालित नहीं होती बल्कि इसके निर्धारित अवस्थिति अहंकार द्वारा संचालित होती है। बुद्धि का कार्य निर्धारण वास्तव में अकेले अहंकार द्वारा प्रदत्त विषयात्मक संकल्प से होता है।

२. शिवज्ञान सिद्धियार, सुपक्कम् १.२१

३. पौ० वि० प० श्लो० १९-३०

४. तत्त्वों का वर्णन उन्मैविलक्कम, तत्तुवप पिरकाशम्, तत्तुवक कटलै में मिलता है। सन्त अप्पर के तेवारम् गीतों में भी इन तत्त्वों का वर्णन मिलता है।

तत्त्व का अर्थ शाश्वत होना भी लिया जाता है। इस प्रकार आदि और अन्त होने से ये तत्त्व नहीं कहे जा सकते। पाँच तत्त्वों के लय से शरीरियों का नाश होता है। परन्तु मरणशील लोगों के सन्दर्भ में उन्हें (तत्त्वों) को अमर कहा जाता है। तत्त्व अपने परिणामों के समान तुरन्त नष्ट नहीं होते परन्तु प्रलय की अवस्था तक बने रहते हैं। इस प्रकार वे तत्त्व कहे जा सकते हैं। ज्ञान प्रकाशर कहते हैं कि 'तत्त्व' शब्द कारणात्मक और कार्यभूत सत्ताओं के लिए प्रयुक्त होता है। अशरीरी से उत्पन्न शरीरी कार्यभूत है, अशरीरी यहाँ कारण सत्ता है।

शैव-सिद्धान्त में छत्तीस[1] सृष्टि तत्त्व माने गये है जो तीन वर्गों में विभाजित हैं– आत्म तत्त्व[2], विद्या तत्त्व[3] और शिव तत्त्व[4]। आत्म तत्त्व आत्मा के निजी धर्म अथवा सम्पत्ति हैं। वे अकुत्त तत्तुवम (अशुद्ध तत्त्व) और पोक्किय कान्तम (भोग के साधन) भी कहे जाते हैं। इस वर्ग में पंचमहाभूत, तन्मात्रायें, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ आती हैं। विद्या तत्त्व के वर्ग में काल, नियति और कला आदि आती हैं। शिव तत्त्व का वर्ग शिव की पाँच अभिव्यक्तियाँ हैं।

पाँच शिव तत्व शुद्ध कहे गये हैं। ये तत्व शुद्ध माया से उत्पन्न होते हैं। कला आदि सात शुद्धाशुद्ध तत्व हैं। ये अशुद्ध माया से आते हैं। अशुद्ध माया को शुद्धाशुद्ध माया कहा गया है क्योंकि यह शुद्ध माया और प्रकृति माया के बीच रहता है। पुरुष तत्व से नीचे चौबीस तत्व प्रकृति माया कहे जाते हैं क्योंकि ये प्रकृति माया से उत्पन्न होते हैं। शुद्ध तत्त्व कला आदि तत्वों को आनन्द की ओर प्रकृत करने के साधन हैं; वे प्रेरक काण्ड कहे जाते हैं।[5] शुद्धाशुद्ध तत्व आत्माओं के भोग का कारण होते हैं, इसलिए ये भोजयित्रि काण्ड कहे जाते है। चौबीस अशुद्ध तत्त्व अनन्त आत्माओं के आनन्द अनुभव के साधन हैं। ये भोग्यकाण्ड कहे जाते हैं।

माया से विकसित सम्पूर्ण कार्यभूत जगत् जो त्रिविध अर्थात् अशरीरी, शरीरी और शरीरी-अशरीरी है, तत्त्वों के रूप का है। छत्तीस तत्त्वों में प्रत्येक त्रिविध है जैसे स्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म। इनमें रहने वाले और इन्हें नियन्त्रित करने वाले देव (आत्मा और ईश्वर के वर्ग के देव) इन तत्त्वों का नाम प्राप्त करते हैं।

छत्तीस तत्त्व सृष्टि विकास के समय अपने कारण माया से खींच लिए जाते हैं।

---

१. उन्मैविलक्कम् २१
२. उन्मैविलक्कम् ४. १७
३. उन्मैविलक्कम १८-१९
४. उन्मैविलक्कम २० १
५. शै० प० पृ० ८७

चौबीस तत्त्व पृथ्वी से आरम्भ कर मूल-प्रकृति तक श्रीकण्ठ रुद्र द्वारा[1] लाये जाते हैं जो सभी प्रकार के आत्माओं के लिए नियत देव हैं। मूल प्रकृति से ऊपर छः तत्त्व अनन्त द्वारा, लाये जाते हैं. विद्या, शुद्ध विद्या, ईश्वर और सादाख्य लय शिव द्वारा लाये जाते हैं। पुनः सृष्टि के समय ये तत्त्व अपने उचित कर्त्ताओं द्वारा अभिव्यक्त होते है। शुद्ध शिव अकेले बिना उत्पत्ति और विनाश के शाश्वत हैं। लयशिव, अनन्त (भोगशिव) और श्रीकण्ठ रुद्र (अधिकार शिव) भी कुछ लोगों द्वारा शाश्वत कहे जाते हैं। परन्तु यह केवल लाक्षणिक कथन है।

सृष्टि-क्रम

1. **शिव तत्त्व** :—शिव सृष्टि प्रक्रिया का प्रथम तत्त्व है।[2] वह ईश्वर[3] तथा प्रथम सत्ता है।[4] जब सृष्टि-प्रलय के अन्त में बिन्दु[5] अपने मौलिक दशा को संकुचित हो जाता है तो बिन्दु में निहित अतीन्द्रिय शिव बिना अपनी शक्ति से विभेद के ज्ञान और क्रिया के पदों में होता है। इच्छा के आगमन के साथ सृष्टि कार्य को पुनः शुरू करने के लिए बिन्दु में तनाव होता है। यह आगमन परमशिव में ज्ञानशक्ति के उद्गम का रूप ग्रहण करता है। ज्ञानशक्ति के प्रभाव से बिन्दु अपनी साम्यावस्था से क्षुब्ध हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानशक्ति द्वारा प्रेरित बिन्दु अपने उत्तेजित रूप में शिव तत्त्व[6] कहा जाता है। यह बिन्दु का प्रथम अवस्था परिवर्तन है। बिन्दु अपने सार में कुन्डलिनी है और शिव अपने जाग्रतावस्था में वही कुन्डलिनी है।[7]

शिव तात्त्विक संरचना मे विकसित पुरुष शक्ति है।[8] शिव शिव-ज्ञान रूप है जो आत्मा को शिव की ओर ले जाता है। शिव तत्त्व एक सर्वव्यापी, सभी तत्त्वों का शाश्वत कारण और ज्ञान तथा क्रिया शक्तियों से युक्त है। वह एक, बिना द्वितीय के, अप्रतिम, सर्वश्रेष्ठ और सभी तत्त्वों का सार है। वह सर्वव्यापी और सभी तत्त्वों

---

1. शैं० प०, पृ० ४।
2. तिरुक्कलिरुप्पतियार ६४. १
3. तिरुक्कालिरुप्पतियार १४. ४
4. तिरुक्कलिरुप्पतियार ९७. १
5. शुद्ध माया को बिन्दु कहा जाता है।
6. शैं० प०, पृ० ८५
7. शब्दतत्त्वम अघोषा वाग ब्रह्मा कुण्डलिनी ध्रुवम
   विद्या शक्तिः परा नादो महामायेति देशिकैः।
   —र० त्र०, ३०
8. उन्मैविलक्कम-२०

में अन्तर्भूत है। वह शाश्वत और अविनाशी है इसलिए सर्वव्यापी आकाश से भिन्न है क्योंकि आकाश अशाश्वत है। वह सभी तत्त्वों का कारण है और इसलिए व्यक्तिगत आत्मा से भिन्न है जो एक है, सर्वव्यापी[1] है परन्तु सभी तत्त्वों का कारण नहीं है। वह ज्ञान और क्रिया स्वरूप है जो उसका सार-रूप है। माया भी एक, सर्वव्यापी, शाश्वत और सभी अशुद्ध तत्त्वों का उपादान कारण है परन्तु चेतन और सक्रिय नहीं है। इसलिए शिव तत्त्व माया से भी भिन्न है। शिव बिना आदि, मध्य और अन्त का है। वह स्वरूप में शुद्ध, सर्वज्ञ और पूर्ण है।

२. शक्ति तत्त्व[1] :— शक्ति बिन्दु की अवस्था परिवर्तन का द्वितीय तत्त्व है। शक्ति एक तात्त्विक संरचना में विकसित ईश्वर की स्त्रीशक्ति है। शक्ति क्रिया का रूप है जिसके माध्यम से आत्मा अनुग्रह प्राप्त करने की अवस्था में जाता है। ज्ञान-शक्ति के सविकल्पक ज्ञान में क्रियाशक्ति की एक सविकल्पक इच्छा उत्पन्न होती है। यदि जानने के पीछे अभिप्राय बिन्दु को विकास के योग्य बनाना है तो वर्तमान अभिप्राय इसको विकसित करना है। बिन्दु में परिणामी परिष्कार द्वितीय तत्त्व का आविर्भाव है। ईश्वर की जगत् को सृष्ट करने की इच्छा का प्रथम उन्मेष शक्ति-तत्त्व है। यह शिव तत्त्व से अभिन्न है। ईश्वर अपना कोई भी कार्य बिना शक्ति के संपादित नहीं कर सकता।

३. सदाशिव तत्त्व :—शक्ति के आविर्भाव के साथ ज्ञान शक्ति और क्रियाशक्ति का एक संयोग परिणमित होता है। यहाँ ज्ञान और इच्छा में एक निर्धारणता आती है जो तीसरे तत्त्व सदाशिव के आविर्भाव से युक्त होती है। यह तत्त्व सृष्टि के लिये तैयारी की अवस्था का संकेत करता है। इस तत्त्व में ईश्वर की पुरुष और स्त्री दोनों शक्तियाँ संयुक्त होती हैं। शिव तत्त्व सदाशिव तत्त्व हो जाता है जब उसकी ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति न तो बढ़ती है और न ही घटती है बल्कि साम्यावस्था में होती है।[3] और जब उसकी संकल्प शक्ति उनपर प्रबल हो जाती है।

४. महेश्वर तत्त्व :—जब ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के संयोग की अवस्था एक नये संयोग को स्थान देती है, क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति पर प्रबल होकर इसके सूक्ष्म रूप में सृष्टि-क्रिया को उत्पन्न करने के क्रम में सदाशिव तत्त्व के उपरान्त सृष्टि करने को अभिमुख बिन्दु की परिष्कृत अवस्था महेश्वर तत्त्व[4] से अभिहित है। शिव तत्त्व

---

१. शैव-सिद्धान्त में आत्मा को भी सर्वव्यापी कहा गया है क्योंकि यह अपने मूल स्वरूप में चित् रूप तथा ज्ञान स्वरूप है। यह शरीर को व्याप्त करता है।

२. क्रिया से युक्त बिन्दु शक्ति तत्त्व है। (शै० प० पृ० ८५)

३. शै० प० पृ० ८५

४. वही

सभी तत्त्वों का स्रष्टा महेश्वर तत्त्व हो जाता है जब उसकी क्रिया शक्ति उसकी ज्ञान और संकल्प शक्ति पर प्रबल हो जाती है जो एक साम्यावस्था में रहती हैं। यहाँ आक्षेप हो सकता है कि ईश्वर की क्रियाशक्ति कार्य नहीं कर सकती जब उसकी ज्ञान और संकल्प शक्ति साम्यावस्था में हो क्योंकि कार्य पूर्ववर्ती ज्ञान और संकल्प पर आधारित होता है। परन्तु ईश्वर की ज्ञान शक्ति और संकल्प शक्ति अपने विषयों को अभिव्यक्त करती हैं, यद्यपि एक निष्क्रिय अवस्था में होती हैं। महेश्वर तत्त्व में ईश्वर की तिरोधानकारी कर्तृता कार्य करती है। इस तत्त्व के द्वारा ईश्वर मनुष्यों को उनके कर्म के अनुसार शासित करता है। अपनी तिरोधान शक्ति से स्वयं को व्यक्ति से छिपाये रहता है। इसलिए यह तिरोधानकारी ईश्वर कहा जाता है।

५. **शुद्ध विद्या तत्त्व** :—महेश्वर तत्त्व की अवस्था जब पुनः इच्छा को स्थान देती है, सृष्टि क्रिया को इसके प्रकट रूप में उत्पन्न करने के लिए शक्ति के भाग पर इसकी ज्ञान अवस्थिति के साथ क्रिया पर प्रबलता से[१], तब पंचम तत्त्व शुद्ध विद्या का आविर्भाव होता है। इस अवस्था में ईश्वर की ज्ञान शक्ति उसके संकल्प शक्ति और क्रिया शक्ति पर प्रबल होती है जो एक साम्यावस्था में है। यह ज्ञान स्वरूप होने के कारण सभी को अभिव्यक्त करता है। यह शुद्ध ज्ञान का तत्त्व है। इस अवस्था में ज्ञान का प्राबल्य होता है।[२] यह तत्त्व सभी संरचनात्मक अस्तित्व के संहार का भी स्रोत है।[३]

ये पाँच[४] तत्त्व कालिक क्रम से रहित हैं क्योंकि वे काल से स्वतन्त्र हैं। परन्तु सृष्टि में अपने कार्यों के कारण इस क्रम में सोचे जाते हैं। शिव तत्त्व वास्तव में एक शक्ति से युक्त है परन्तु कार्यों में विभिन्नता के कारण उसमें विभिन्नता सोची जाती है। ईश्वर अनेक नहीं है। पाँच शुद्ध तत्त्व उसकी शक्तियों के कार्यों के गुणों के कारण हैं। उसमें कोई वास्तविक विभेद नहीं है। ईश्वर के स्वरूप में पाँच तत्त्व सृष्टि के कार्य में विभिन्न क्षणों के रूप में सोचे गये हैं; यद्यपि वह अद्वैत है। वास्तव में शैव-सिद्धान्त परमशिव की किसी भी अनेकता का निषेध करता है। ये पाँच उसकी अभिव्यक्ति की अवस्थितियाँ (प्रवृत्तियाँ हैं)।[५] जगत् ईश्वर रूप है।[६] शिव मूल कारण है; शक्ति जगत् में अन्तर्भूत है; सदाशिव नियन्ता है; ईश्वर स्रष्टा है

१. शैं० पृ० ८५
२. शिव प्रकाशम २१
३. उन्मैविलक्कम २१
४. ये पाँच तत्त्व विन्दु से विशिष्ट शिव के वृत्ति रूप हैं न कि परिणाम। (शैं० पृ० ८५)
५. पौ० विन्दु प० श्लो० ३
६. जगत् में शक्ति की अन्तर्यामिता के कारण इसे ईश्वर रूप कहा जाता है।

और शुद्ध विद्या अभिव्यक्तिकर्ता है। शिव इन विभिन्न काल्पनिक तत्त्वों के माध्यम से अपना अनुग्रह प्रदान करता है।

६. कार्य माया :—पाँच शिव तत्त्वों के विकास के बाद शुद्ध माया अन्य तत्त्वों के विकास के लिए स्थूल रूप ग्रहण करती है। माया के इस विकास की अवस्था में मल का सन्निवेश हो जाने के कारण इसे अशुद्ध माया कहा जाता है तथा इसे भी सृष्टि विकास के तत्त्वों में एक माना जाता है। इससे कला आदि पंचकंचुकों की उत्पत्ति होती है।

अशुद्ध माया को सृष्टि-विकास का एक तत्त्व मान लेने से प्रश्न उठता है कि क्या शैव-सिद्धान्त में दो माया की मान्यता है? इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहते है कि यह आदि माया का अवस्थाभेद मात्र है। वास्तव में दो माया नहीं है बल्कि एक ही माया के शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार की सृष्टि के लिए दो रूप माने गये हैं।

७. काल :—अशुद्ध माया के विकास का प्रथम तत्त्व[१] काल है। कार्य के उत्पादन के लिए अपरिहार्य शर्तों में एक कारण काल भी है। काल कार्य के उत्पादन के लिए कारणों के संचालन के लिए भी आवश्यक है।[२] यह भूत वर्तमान और भविष्य में विभाजित है।[3] यह जड़ है। शैव-सिद्धान्त काल की सृष्टि मानता हैं, इसलिए यह शाश्वत नहीं है। इस सम्बन्ध में कुछ आक्षेप होते है जिनका समाधान आवश्यक है।

प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति काल (समय) में होती है, इसलिए कहा जाता है कि क्या काल की उत्पत्ति में भी किसी काल (समय) की आवश्यकता होती है? शैव-सिद्धान्ती इसके उत्तर में शुद्ध माया द्वारा उत्पन्न शुद्ध काल को मानते हैं। यहाँ शुद्ध काल के उत्पादन के लिए किसी अन्य काल की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि शुद्ध माया का विकास स्वय शिव करता है। यह कालातीत है। इसके लिए काल का होना आवश्यक नहीं[४] है। यह स्वयं काल की सृष्टि करता है।[५] अनन्त और अन्य देव काल की अपेक्षा करते हैं।[६]

कालवादी काल को शाश्वत मानते हैं। शाश्वत मानने पर काल का आदि और

---

१. उन्मैविल्क्कम् १६
२. मापादियम्, पृ० १४६
३. यह सृष्टिकाल, स्थिति काल, संहार काल तीन प्रकार का है। (शैं० प० पृ० ९४)
४. पौ० पाश० प० श्लो० ६८-७०-७१
५. मापादियम् १७७-१७८
६. शैं० प० प० ९६

अन्त स्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु आदि और अन्त का बोध होता है इसलिए काल को शाश्वत नहीं कहा जा सकता। कालवादी अपने तर्क में इस आदि और अन्त के बोध को सूर्य की गति आदि पर आधारित मानते हैं जो केवल प्रतीत होता है, वास्तव में यह काल का भेद नहीं है।

शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि काल का कार्य केवल इन प्रतीत होने वाले (सूर्य की गति) तथ्यों से हो सकता है तो काल का अस्तित्व होना आवश्यक नहीं होगा। उनके अनुसार सूर्य की गति केवल दिन और रात को समझने के लिए सहायक हो सकती है, यह लव और तृती के लिए नहीं लिया जा सकता। वे इस भेद को मात्र प्रतीक न मानकर काल का स्वरूप मानते हैं।

८. नियति :—काल की उत्पत्ति के बाद माया नियति को उत्पन्न करती है। जिसका एक कारण काल भी है। इसे नियति इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह कारणता को नियन्त्रित करती है या विशिष्ट कारण से विशिष्ट कार्य उत्पन्न कराती है। यह कारणात्मक सम्बन्ध को निर्धारित करती[1] है। नियति आत्माओं के कर्मों का फल[2] निर्धारित करती है तथा विशिष्ट पाप-पुण्य से विशिष्ट सुख-दुःख भी उत्पन्न कराती है। नियति की मान्यता के सम्बन्ध में भी कुछ आक्षेप होते हैं जिनका स्पष्टीकरण आवश्यक है।

क्या ईश्वर की शक्ति स्वयं कर्मों का उचित निर्धारण नहीं कर सकती ? यदि ऐसा है तो क्या नियति केवल लाक्षणिक मान्यता है ? शैव-सिद्धान्ती उत्तर में कहते हैं कि ईश्वर की शक्ति मल से मुक्त है इसलिए मलमिश्रित कर्म पर सीधे कार्य नहीं कर सकती। दूसरे चित् शक्ति अपना कार्य संपादन के लिए साधनों की अपेक्षा करती है। यह साधन नियति है। इस सन्दर्भ में एक और प्रश्न होता है कि क्या कर्म कर्ता को कर्मों के फल नहीं दे सकता जिसके लिए नियति की आवश्यकता होती है ? शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि कर्म कृषि जैसे कार्य हैं। ये अपना निर्धारण स्वयं नहीं कर सकते। प्रत्येक कर्म का फल (परिणाम) होता है परन्तु यह फल कर्ता को ही मिले यह कार्य स्वयं कर्म नहीं कर सकता।[3] फल को कर्ता से सम्बद्ध करने का कार्य नियति करती है[4] जो ईश्वर के नियन्त्रण में संपादित होता है।

१. शिवज्ञानसिद्धि, II, ५५, शिवप्रकाश ४०
२. शै० प० पृ० ९६
३. वही, ९७
४. कर्म अपने परिणामों को उत्पन्न कर सकता है जैसे कठिन परिश्रम अपना फल उत्पन्न करता है परन्तु यह इसे कर्ता से सम्बद्ध करने का कारण नहीं हो सकता कठिन परिश्रम फल के लिए आवश्यक है। कठिन परिश्रम करके वाले व्यक्ति

९. कला :—नियति के उत्पादन के बाद माया कला को उत्पन्न करती है। यह आत्मा के सीमित कर्तृता को अभिव्यक्त करती है।[१] कला आत्माओं को अनुभव करने में सहायता करके आणव को अंशतः दूर करती है[२] तथा आत्मा की क्रियाशक्ति को प्रदीप्त करती है।[3] तमिल भाषा में इस तत्त्व को कलै नाम दिया गया है जिसका अर्थ बिखेरना, दूर करना तथा शून्य करना होता है। यह नाम इस तत्त्व को इसलिए दिया गया है क्योंकि यह सर्वप्रथम आणवमल को दूर करने का निषेधात्मक कार्य संपादित करती है तदुपरान्त क्रियाशक्ति को संचालित करने का भावात्मक कार्य भी संपादित करती है। कला के सम्बन्ध में भी कुछ प्रश्न उठते हैं जिनका समाधान शैव-सिद्धान्ती करते हैं।

क्या कला तत्त्व आत्मा को प्रकाशित करती है? यदि कला तत्त्व आत्मा का प्रकाशक है तो क्या शिव आत्मा का प्रकाशक नहीं है? दूसरे क्या आणव कला द्वारा पूर्णतः दूर नहीं किया जा सकता? इन प्रश्नों के उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि आत्मा की ज्ञानात्मक क्षमतायें अनादि आणव से आवृत हैं। यह आवरण कला द्वारा अंशतः दूर किया जा सकता है इसलिए इसे आत्मा का प्रकाशक कहा जा सकता है। शिव भी आत्मा का प्रकाशक है। यह पूर्ण प्रकाशक है जबकि कला आंशिक प्रकाशक है। शिव शुद्ध है इसलिए मलाबद्ध आत्माओं के लिए प्रकाशक कार्य सीधे न करके कला के माध्यम से करता है। कला तत्त्व आणव को पूर्णतः दूर नहीं कर सकती। यह मात्र केवलावस्था में आत्माओं की ज्ञानात्मक क्षमता को प्रकाशित करती है।[४]

१०. विद्या :—कला तत्त्व बद्धात्मा की सीमित कर्तृता को अभिव्यक्त करती है और इसके लिए विषयों को अभिव्यक्त करने के क्रम में विद्या तत्त्व को उत्पन्न करती है। विद्या तत्त्व अभिव्यक्ति के स्वरूप की है और विषयों का बोध उत्पन्न कर सकती है। विद्या आत्मा के ज्ञान शक्ति को संचालित करती है ताकि यह मनस् के कार्यों

को फल प्राप्त होने की निश्चितता होती है। यह निश्चितता नियति प्रदान करती है।

१. शै० प० पृ० ९८

२. पौ० आ०

३. शिव प्रकाश, २९

४. जिस प्रकार जब एक पत्थर तालाब के काईदार सतह पर फेंका जाता है तो तालाब का वह भाग, जिसका स्पर्श पत्थर से होता है, काई से साफ हो जाता है, वैसे ही कला से ईश्वर आत्मा की केवलावस्था में आणव को अंशतः दूर करता है।

के लिए अपेक्षित बुद्धि रख सके ।[१] कला आत्मा के आंशिक मल को दूर कर आत्मा के लिए ज्ञान प्राप्त करना संभव कर देती है । परन्तु कला क्रिया शक्ति को बिना उसी समय ज्ञान शक्ति को प्रकाशित किये संचालित नहीं कर सकती ।[२] इसके लिए विद्या तत्त्व आवश्यक है ।

प्रत्येक तत्त्व के अलग-अलग कार्य हैं, इसलिए कला विद्या का भी कार्य नहीं कर सकती ।[3] यह कहा जाता है कि जब बुद्धि और दूसरे अन्तःकरण आत्मा को ज्ञान प्राप्त करने में सहायता करते हैं तो विद्या एक अतिरिक्त तत्त्व है । इसके प्रत्युत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक से अधिक साधन की आवश्यकता पड़ती है । जैसे एक सवार को यात्रा करने के लिए एक घोड़े के अतिरिक्त रास्ते और प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है वैसे ही आत्मा को अन्तःकरणों के अलावा इस जगत् का अनुभव करने के लिए विद्या की आवश्यकता पड़ती है ।

इस सन्दर्भ में एक प्रश्न किया जाता है कि क्या आत्मा की चेतना विषयों का बोध नहीं कर सकती जिसके लिये विद्या की आवश्यकता पडती है ? इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि आत्मा की चेतना शुद्ध है । इसलिये यह विषयों की अपेक्षा शिवोन्मुखी होती है । जब तक यह विद्या से युक्त नहीं होती, आत्मा की चेतना विषयोन्मुखी नहीं होती । आत्मा कला से ज्ञान और क्रिया की क्षमता रख सकती है । परन्तु विषयों के बोध का साधन विद्या है । इस सन्दर्भ में एक प्रश्न होता है कि क्या बुद्धि विषयों के बोध के लिये साधन नहीं हो सकती ? इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्त द्वारा कहा जाता है कि बुद्धि भी आत्मा द्वारा बोध की जाती है । यह घट के समान जड़ है । जैसे रूप नेत्र द्वारा बोधगम्य होते हैं वैसे ही बुद्धि आत्मा के लिये विषय है । यह बुद्धि स्वयं विद्या द्वारा ग्रहण की जाती है ।

यहाँ आक्षेप किया जा सकता है कि बुद्धि विषयों का सविकल्प ज्ञान देती है, इसलिये बद्धात्मा के विषयों को अभिव्यक्त करने में इस तत्त्व की मान्यता अनुपयोगी है । इसके उत्तर में कहा जाता है कि बद्धात्मा विषयों को अशुद्ध विद्या तत्त्व के माध्यम से बुद्धि द्वारा निर्धारित होकर अनुभूत करता है । यह तत्त्व परिवर्तन में क्षम है क्योंकि

१. पौ० पाश, प० श्लो० ९ ११

२. जिस प्रकार एक व्यक्ति जिसका अन्धत्व दूर किया जा चुका है, तुरन्त वस्तुओं को नही देख सकता परन्तु स्वयं को आश्चर्यजनक संवेदनों के बीच पाता है, उसी प्रकार आत्मा जिसका कुछ मल कला द्वारा दूर किया जा चुका है तुरन्त बुद्धितत्त्व के साथ कार्य नहीं कर सकता, उसे विद्या से और सहायता की आवश्यकता पड़ती है ।

३. मापादियम पृ० १५२-१५३

यह आत्मा से भिन्न है और माया का एक कार्य है। बुद्धि स्वय का अभिव्यक्त नहीं कर सकती क्योंकि यह सत्व, रजस् और तमस् से निर्मित होने के कारण कार्य रूप है।[1]

आत्मा विषय को नेत्र से देखता है, बुद्धि से निर्धारित करता है और विद्या से बोध करता है। यदि विषयों के निर्धारण के लिये बुद्धि की अपेक्षा होती है तब हम बुद्धि के अलावा किसी अन्य की अपेक्षा क्यों करते है ? इसके उत्तर मे शैवसिद्धान्ती कहते हैं कि नेत्र जैसे ज्ञानेन्द्रियों के विरुद्ध मनस् शंका करता है, अहंकार अहंता उत्पन्न करता है और बुद्धि उसे निर्धारित करती है। पदार्थों के प्रत्यक्ष के लिये मनस् आदि विद्या के सहायक है। कला आणव को अंशत: दूर करतो है और ज्ञानात्मक क्रियाओं को प्रेरित करती है। विद्या स्वयं को चेतना से जोड़ती है और विषयों का कारण होती है। इस प्रकार विद्या आत्मा के लिये द्वितीय बन्धन का कारण होती है।

क्रिया शक्ति की जागृति में ज्ञान और इच्छा शक्ति उत्पन्न होती है। पहले में आत्मा कार्य के कर्तृत्व की अपेक्षा करता है, परवर्ती में ज्ञान और इच्छा के प्रयोग से कर्ता भोग के लिये योग्यता की अपेक्षा करता है।[2] ज्ञान शक्ति विद्या द्वारा उत्पन्न इस प्रकार की आन्तरिक ज्ञान की आवश्यकता को पूरा करती है।[3] विद्या

१. इस सन्दर्भ मे प्रश्न किया जाता है कि क्या बुद्धि एक अन्य बुद्धि द्वारा अभिव्यक्त है अथवा क्या यह शुद्ध विद्या द्वारा अभिव्यक्त है ? इसके उत्तर मे कहा जाता है कि घट के समान जड़ होने के कारण बुद्धि एक अन्य बुद्धि द्वारा अभिव्यक्त नहीं है। यह अपने अन्य गुण द्वारा भी अभिव्यक्त नहीं है क्योंकि यह एक ही समय में दो गुण नहीं रख सकता। इसलिये अशुद्ध-बुद्धि शुद्ध विद्या तत्त्व द्वारा अभिव्यक्त नहीं है और यह अशुद्ध विद्या तत्त्व द्वारा अभिव्यक्त है।

२. पौ० आ०, ५-९

३. इसके कार्य में अन्तर्निहित सिद्धान्त यह प्रतीत होता है कि न तो इन्द्रियां और न ही मनस् आत्म-कार्य में समर्थ हैं। वे चेतन आत्मा द्वारा प्रेरित होती हैं और उन्हें प्रेरित करने में एक सहायक तत्त्व की आवश्कता होती है। हम सविकल्पक प्रत्यक्ष की संभाव्यता मानते हैं, यह बुद्धि द्वारा निर्धारण की एक अवस्था से आगे बढ़ना है। यह बुद्धि द्वारा प्रत्यक्षत: विना मध्यस्थता के इन्द्रिय को प्रेरित करना निहित करता है। विद्या आत्मा की ज्ञान शक्ति को अभिव्यक्त कर उसकी सहायता करती है। विद्या भी आत्मा के साधन रूप में कार्य करती है, स्वयं बुद्धि को आत्म-सात करने के लिये जब परवर्ती सुख-दुःख के अनुभवों में परिणमित होता है।

तत्त्व भावनाओं का बोध कराती है जैसे 'मैं प्रसन्न हूँ' 'मैं कष्ट में हूँ' आदि।[1] शैव-सिद्धान्त के लिये भावनायें आत्मा की चित् शक्ति द्वारा बिना मध्यस्थता के आत्म-प्रत्यक्ष नहीं होती जैसा कि अद्वैत-वेदान्त में माना गया है। यहाँ तर्क यह है कि आत्मा की चित् शक्ति केवल शिव के असीमित आनन्द को अनुभव कर सकती है और सुख-दुःख की सांसारिक भावना विद्या तत्त्व की मध्यस्थता से होती है।

११. राग :—विद्या से राग तत्त्व उत्पन्न होता है।[2] यह आत्माओं की इच्छा को अनुप्राणित करता है और उनमें विषयों के लिये सामान्य इच्छा (चाह) उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह आत्मा को उसके कर्म के फल को अनुभूत करने में सहायता करता है।[3] राग तत्त्व आत्मा के लिये आवश्यक है क्योंकि आत्मा अपनी ज्ञान शक्ति से केवल वस्तुओं को जान सकता है, उनकी चाह नहीं कर सकता। राग उनमें यह आवश्यकता पूरी करता है। यह इच्छा शक्ति को प्रेरित करता है और इसे कर्म के अनुसार भोग की ओर बढ़ाता है।

राग तत्त्व की आवश्यकता पर प्रश्न किया जाता है कि बुद्धि की एक प्रवृत्ति राग (सामान्य राग-चाह) है तो इस राग तत्त्व की क्या आवश्यकता है? क्या इस राग तत्त्व की मान्यता लाक्षणिक है? इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि आत्मा की चित् शक्ति, जो कला और विद्या द्वारा उत्तेजित की जाती है, राग तत्त्व द्वारा सामान्य राग से युक्त होती है जो बुद्धि की एक प्रवृत्ति है और जो विभिन्न विषयों के लिये विभिन्न हैं। यह राग (तत्त्व) विशेष है। यह उस सामान्य राग से भिन्न है जो बुद्धि की एक प्रवृत्ति है[4] और आत्मा के लिये बन्धन रूप है।

राग तत्त्व बुद्धि का गुण नहीं है। यह बुद्धि के गुण से भिन्न है। सामान्य राग बुद्धि का गुण है क्योंकि यह विषयों की अभिव्यक्ति के बाद आत्मा के ऐच्छिक कार्यों का कारण है। परन्तु राग तत्त्व आत्मा के ऐच्छिक कार्यों के कारण रूप विषयों की अभिव्यक्ति से पूर्व है। बद्धात्मा मोक्ष के साधन प्राप्त करने के लिये राग तत्त्व द्वारा ऐच्छिक कार्यों को करने के लिये प्रेरित है जो सामान्य राग और इच्छा (चाह) से भिन्न है।

१२. पुरुष तत्त्व :—काल, नियति, कला, विद्या तथा राग, इन तत्त्वों से युक्त (पञ्चकंचुकों से युक्त)[5] होकर आत्मा जब जगत् का अनुभव प्राप्त करने की अवस्था

१. पौ० आ०, ५-२०
२. पौ० पाश० प० श्लो० २६-२७
३. शि० प्र०, ५, ८०
४. शै० प० पृ० १०१
५. शै० प० पृ० १०१ एवं पौ० पुंस्त्व. प० श्लो० ८-६

में आ जाता है तो इसे पुरुष तत्त्व कहा जाता है।[1] आत्मा को सृष्टि तत्त्वों में से एक तत्त्व नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह एक चेतन सत्ता है।[2] फिर भी जब यह तत्त्वों से (पञ्चकंचुकों से) अनुबन्धित होकर सीमित सत्ता जैसा कार्य करने लगता है तो इसे एक तत्त्व नाम दे दिया जाता है। आत्मा एक बौद्धिक सत्ता है जबकि तत्त्व जड़ हैं। इसलिये आत्मा को सृष्टि तत्त्वों का एक तत्त्व वास्तव में नहीं कहा जा सकता। परन्तु अनुभवोन्मुखी आत्मा को पुरुष तत्त्व कहा जाता है।[3]

इस सन्दर्भ में एक द्वन्द्वात्मक प्रश्न उठता है कि यदि आत्मा ही पुरुष तत्त्व है अथवा आत्मा से स्वतन्त्र पुरुष तत्त्व नहीं है तो इस पुरुष तत्त्व को मानने की क्या आवश्यकता है जिसे छत्तीस तत्त्वों में गिना जाता है? शैव-सिद्धान्ती इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि आत्मा स्वयं पुरुष तत्त्व है तथा आत्मा से स्वतन्त्र पुरुष तत्त्व नहीं है। इस प्रकार तत्त्वों की संख्या भी छत्तीस नहीं हो सकती। परन्तु आत्मा का पुनर्जन्म (सृष्टि में अवतार) नहीं हो सकता यदि कोई पुरुष तत्त्व आत्मा के आवरण के लिये नहीं होगा जो इसे आवृत्त और सीमित करता है। इसलिये पुरुष तत्त्व एक आवश्यक तत्त्व है। यह तत्त्व आत्मा का आवरण तत्त्व है इसलिये छत्तीस तत्त्वों में एक हो सकता है। यहाँ पुरुष तत्त्व पारिभाषिक है जिसका अर्थ बद्ध आत्मा से है।

१३. प्रकृति :—अशुद्ध माया से कला जैसे तत्त्वों के उत्पन्न होने के बाद मूल प्रकृति उत्पन्न होती है। मूल प्रकृति से तीन गुण तत्त्व सत्त्व, रजस् और तमस् अस्तित्व में आते हैं। इन तीन गुणों में से प्रत्येक त्रिविध हो जाता है और इस प्रकार सब नौ हो जाते हैं। इन गुणों से ही बुद्धि आदि गुण तत्त्व उत्पन्न होते हैं।[4]

पंचरात्र और सांख्य गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। इस प्रकार

१. मायावियम्, पृ० १५८-५९

२. वही

३. वास्तव में पुरुष तत्त्व पञ्चकंचुकों के संयोग की एक अवस्था है जिसे ग्रहण कर आत्मा पाँचों तत्त्वों के कार्यों को कर सकता है। इस अवस्था को आत्मा से भिन्न पुरुष तत्त्व (सृष्टि तत्त्व) कहा जा सकता है। परन्तु यह अवस्था तत्त्व आत्मा से युक्त होने पर ही अस्तित्ववान अथवा सचालित होता है इसलिये आत्मा के संयोग के बिना अस्तित्ववान न होने से इसे आत्मा से पृथक् एक सृष्टि तत्त्व नहीं माना जा सकता।

४. शै० प० पृ० १०२

प्रकृति को गुणों का कारण होना नहीं कहा जा सकता। शैव-सिद्धान्ती गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति नहीं मानते।[1] उनके अनुसार गुण जड़ और अनेक होने से कार्य रूप हैं, इसलिये उनका कोई कारण आवश्यक है। वह कारण प्रकृति है। सांख्य और शैव-सिद्धान्त दोनों ही बुद्धि आदि अन्तःकरणों से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तत्त्वों का विकास प्रकृति से मानते हैं। परन्तु दोनों में प्रमुख विभेद यह है कि सांख्य की प्रकृति अनादि और शाश्वत है जबकि शैव-सिद्धान्त की प्रकृति एक सृष्टि तत्त्व है जो कला से उत्पन्न है।

सांख्य के अनुसार जगत् की सृष्टि, स्थिति, संहार की व्याख्या सत्त्व, रजस् और तमस् से हो सकती है, इसके लिये ईश्वर की अपेक्षा नहीं होती। जबकि शैव-सिद्धान्त में ईश्वर के हस्तक्षेप द्वारा प्रकृति अपने उत्पादनों की सृष्टि करती है। इसका कारण बताते हुए शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि गुण जड़ और अनेक होने से कार्य रूप हैं। कारण से कार्य की उत्पत्ति के लिये चेतन कर्ता की अपेक्षा होती है। यह कहा जा सकता है कि गुणों के अपने कारण अन्य गुणों में होते हैं। परन्तु चूंकि ये अन्य गुण भी कार्य हैं, उनके लिये एक कारण की आवश्यकता होगी, परन्तु यहाँ अनवस्था दोष होगा। जो भी जड़ है बिना एक चेतन के नियन्त्रण के कार्य नहीं कर सकता। इसलिये श्रीकण्ठ परमेश्वर कला से प्रकृति की सृष्टि का कर्ता है और प्रकृति से गुण जैसे सूक्ष्म वस्तुओं की सृष्टि का कर्ता है।

१४-१६. **अन्तःकरण :**—गुणों के विभिन्न संयोगों से मनस्, अहंकार और बुद्धि उत्पन्न होते हैं जिन्हें अन्तःकरण कहा जाता है। मनस् वस्तुओं के बोध की क्रिया का संचालन करता है, तथा विश्लेषण और संशय करता है, अहंकार अहं-मान्यता से निश्चय करता है, बुद्धि निर्णय करती है तथा इसे निश्चितता प्रदान करती है।[2] कुछ लोग आक्षेप करते हैं कि तीनों को मानना आवश्यक नहीं है क्योंकि एक या दो से अन्यों का भी काम हो सकता है। परन्तु शैव-सिद्धान्त तीनों की आवश्यकता पर जोर देता है तथा तीनों के अलग-अलग कार्य बताता है जो एक दूसरे से नहीं हो सकता। हम तीनों के अलग-अलग कार्यों तथा उनकी आवश्यकता का विवेचन करेंगे।

मनस्—भारतीय दर्शनों में मनस् आत्मा से भिन्न माना गया है जिसका यह साधन मात्र है और विनाशी है।[3] अहंकार और अहम् प्रत्यय वेदान्त में कर्ता रूप

१. पौ० पुंस्त्व० प० श्लो० १८-२१

२. शिवप्रकाश, ४३

२. पाश्चात्य दर्शनों में मनस् (mind) आत्मा का संकेत करने के लिये प्रयुक्त हुआ है।

में एक मनस् रखते हैं जिसे टीकाकार अन्तर-इन्द्रिय कहते हैं। वेदान्त केवल एक अन्तःकरण मानता है जो साधारणतया मनस् से अभिहित है परन्तु विना विभेदीकरण के इसे ही चित्त, बुद्धि और कभी-कभी विज्ञान भी कहा जाता है। केवल सांख्य में मनस् अहंकार और बुद्धि से अलग है। शैव-सिद्धान्त इस सन्दर्भ में सांख्य से साम्य रखता है। शैव तत्त्व शरीरी घटक हैं जो आत्मा पर आश्रित होकर कार्य करते हैं। आत्मा पर आश्रित होने से वे बौद्धिक इन्द्रियाँ भी कहे जाते है जबकि आत्मा का कोई बौद्धिक जीवन नहीं है।

मनस् का कार्य बोध की गई वस्तु को संकल्प का रूप देना है। इसमें संशय (संकल्प-विकल्प) उत्पन्न होता है।[१] कहा जाता है कि यह कार्य बुद्धि और अहंकार द्वारा ही संपादित हो सकता है तो क्यों मनस् को भी आवश्यक माना जाय ? शैव-सिद्धान्ती उत्तर में सभी तत्त्वों की कार्य सीमा बताते हैं। संकल्प के स्वरूप का बोध मनस् द्वारा किया जाता है। जो कुछ भी आँख से विषय को बुद्धि के लिये एक विषय के रूप में दिखाता है, वह मनस् है। बुद्धि केवल उसे निर्धारित करती है जो मनस् द्वारा ग्रहण किया गया रहता है। मनस् और बुद्धि दोनों ही आवश्यक हैं क्योंकि मनस् द्वारा विषय को कोई भी रूप दिया जा सकता है। बुद्धि ही इसे सही रूप देती है।[२]

अहंकार—अहंकार में रजस् गुण का प्रावल्य होता है जो अहंता का कारण है यथा 'मैंने किया' या 'मेरा'। यह बुद्धि की सहायता उसे निर्धारित करने के लिये करता है जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा प्रस्तुत होता है। यह कार्य वह स्वयं को इन्द्रिय विषय द्वारा सम्बद्ध होकर और उन्हें स्वयं से तदनुरूपित करके, जैसे 'मैं' और 'मेरा' करता है। यह आत्मा से अभिन्नतया प्रतीत होता है।

अहंकार की आवश्यकता पर आक्षेप किया जाता है कि जब निर्धारण का कार्य बुद्धि द्वारा सम्पन्न हो सकता है तो इसे (अहंकार को) भी क्यों आवश्यक माना जाय ? शैव-सिद्धान्ती इसके उत्तर में कहते हैं कि बुद्धि विषयों को एक निश्चित स्वरूप में सीमित करने वाली चेतना है। अहंकार एक अहं को दूसरे से भिन्न करता है। अहंकार का कार्य बाह्य विषयों को पकड़ने में निहित है। बुद्धि इन्हें निर्धारित करती है। इसलिए अहंकार और बुद्धि का कार्य एक नहीं कहा जा सकता।[३]

---

१. शैं० प० ११५

२. मनस् द्वारा गृहीत एक घट वस्त्र के रूप में निर्धारित हो सकता है। मनस् चिन्तन में केवल साधन रूप है। जैसे गाय के प्रत्यक्ष में मनस् गाय का एक रूप प्रस्तुत करता है (यहाँ निश्चतता नहीं रहती) परन्तु गलकम्बल द्वारा उसे बुद्धि ही गाय निर्धारित करती है।

३. पौ० पुं० प० श्लो० १२-९१४०

इस सन्दर्भ में एक और प्रश्न होता है कि क्या अहंकार अलग-अलग आत्माओं के लिये विभिन्न है? शैव-सिद्धान्ती सभी आत्माओं के लिये विभिन्न अहंकार मानते हैं। इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि विभिन्न विषयों का प्रत्यक्ष विभिन्न होता है। यदि एक अहंकार होता तो विभिन्न विषयों का प्रत्यक्ष एक की विषय के रूप में होता। परन्तु एक घट को अनेक घटों से अलग करके कहा जाता है कि यह एक घट है (अर्थात् अनेक घट एक घट नहीं है)। समानतः दो व्यक्तियों का भी एक ही बोध होता। यदि अहंकार एक होता तब जब एक व्यक्ति कहता 'मैं देवदत्त हूँ', तो दूसरा भी जिसका नाम देवदत्त नहीं है, कहता है कि 'मैं देवदत्त हूँ'। परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये अहंकार प्रत्येक के लिये विभिन्न हैं।

बुद्धि—बुद्धि में सत्त्व का प्राबल्य होता है। विद्या तत्त्व जिस ज्ञान शक्ति को सामान्य प्रकार से अभिव्यक्त करती है उसे बुद्धि विशेष प्रकार से अभिव्यक्त करती है। यह विषयों को उनका नाम देकर और वर्गीकरण करके विभाजित करती है। बुद्धि की आवश्यकता बताते हुए शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि चूँकि प्रत्यक्ष विषयों का स्वरूप किसी भी तत्त्व द्वारा निर्धारित नहीं किया गया है, इसलिये बुद्धि आवश्यक है।[1]

बुद्धि की आवश्यकता पर आक्षेप करते हुए कहा जाता है कि बुद्धि और अहंकार की कार्य करने की प्रक्रियाय समान हैं इसलिये उद्देश्य साधन के लिये एक ही तत्त्व पर्याप्त है, फिर क्यों दोनों को माना जाय? शैव-सिद्धान्त के अनुसार दोनों ही आवश्यक हैं क्योंकि दोनों की प्रक्रियाओं में अवस्थाओं का एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। अहंकार की प्रक्रिया में विषय के निर्धारण में हठधर्मिता है जबकि बुद्धि के निर्धारण में विषय का शुद्ध निर्धारण है। अहंकार रजस् प्रधान है जबकि बुद्धि सत्त्व प्रधान है। इस प्रकार दोनों ही प्रक्रियायें मूलतः भिन्न हैं। इसलिये प्रत्यक्ष की परिपूर्णता के लिये दोनों ही आवश्यक हैं।[2]

अन्तःकरण के कार्य संपादन में एक स्पष्टीकरण की आवश्यकता होती है कि ये चारों करण एक साथ ही विषय का प्रत्यक्ष (एक साथ ही कार्य करते हैं) करते हैं अथवा एक क्रम में। शैव-सिद्धान्त इनका कार्य एक क्रम में मानता है। यह उसी क्रम में कार्य करते हैं जिस क्रम में इनका वर्णन किया गया है।

१७-२१—पंच ज्ञानेन्द्रियाँ—अहंकार (तैजस् अहंकार) से कर्ण, त्वचा, नेत्र,

---

१. बुद्धि को कर्म का वाहक भी कहा गया है। माया को केवल लाक्षणिक अर्थ में कर्म का वाहक कहा गया है, वास्तव में बुद्धि ही कर्म का वाहक है।

२. इस प्रकरण में कई बातों की प्रायः पुनरावृत्ति हुई है परन्तु यह विषय को स्पष्ट करने के लिये आवश्यक था।

इस सन्दर्भ में एक और प्रश्न होता है कि क्या अहंकार अलग-अलग आत्माओं के लिये विभिन्न है? शैव-सिद्धान्ती सभी आत्माओं के लिये विभिन्न अहंकार मानते हैं। इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि विभिन्न विषयों का प्रत्यक्ष विभिन्न होता है। यदि एक अहंकार होता तो विभिन्न विषयों का प्रत्यक्ष एक की विषय के रूप में होता। परन्तु एक घट को अनेक घटों से अलग करके कहा जाता है कि यह एक घट है (अर्थात् अनेक घट एक घट नहीं है)। समानतः दो व्यक्तियों का भी एक ही बोध होता। यदि अहंकार एक होता तब जब एक व्यक्ति कहता 'मैं देवदत्त हूँ', तो दूसरा भी जिसका नाम देवदत्त नहीं है, कहता है कि 'मैं देवदत्त हूँ'। परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये अहंकार प्रत्येक के लिये विभिन्न हैं।

बुद्धि—बुद्धि में सत्त्व का प्राबल्य होता है। विद्या तत्त्व जिस ज्ञान शक्ति को सामान्य प्रकार से अभिव्यक्त करती है उसे बुद्धि विशेष प्रकार से अभिव्यक्त करती है। यह विषयों को उनका नाम देकर और वर्गीकरण करके विभाजित करती है। बुद्धि की आवश्यकता बताते हुए शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि चूँकि प्रत्यक्ष विषयों का स्वरूप किसी भी तत्त्व द्वारा निर्धारित नहीं किया गया है, इसलिये बुद्धि आवश्यक है।[1]

बुद्धि की आवश्यकता पर आक्षेप करते हुए कहा जाता है कि बुद्धि और अहंकार की कार्य करने की प्रक्रियाय समान हैं इसलिये उद्देश्य साधन के लिये एक ही तत्त्व पर्याप्त है, फिर क्यों दोनों को माना जाय? शैव-सिद्धान्त के अनुसार दोनों ही आवश्यक हैं क्योंकि दोनों की प्रक्रियाओं में अवस्थाओं का एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। अहंकार की प्रक्रिया में विषय के निर्धारण में हठधर्मिता है जबकि बुद्धि के निर्धारण में विषय का शुद्ध निर्धारण है। अहंकार रजस् प्रधान है जबकि बुद्धि सत्त्व प्रधान है। इस प्रकार दोनों ही प्रक्रियायें मूलतः भिन्न हैं। इसलिये प्रत्यक्ष की परिपूर्णता के लिये दोनों ही आवश्यक है।[2]

अन्तःकरण के कार्य संपादन में एक स्पष्टीकरण की आवश्यकता होती है कि ये चारों करण एक साथ ही विषय का प्रत्यक्ष (एक साथ ही कार्य करते हैं) करते हैं अथवा एक क्रम में। शैव-सिद्धान्त इनका कार्य एक क्रम में मानता है। यह उसी क्रम में कार्य करते हैं जिस क्रम में इनका वर्णन किया गया है।

१७-२१—**पंच ज्ञानेन्द्रियाँ**—अहंकार (तैजस् अहंकार) से कर्ण, त्वचा, नेत्र,

---

१. बुद्धि को कर्म का वाहक भी कहा गया है। माया को केवल लाक्षणिक अर्थ में कर्म का वाहक कहा गया है, वास्तव में बुद्धि ही कर्म का वाहक है।

२. इस प्रकरण में कई बातों की प्रायः पुनरावृत्ति हुई है परन्तु यह विषय को स्पष्ट करने के लिये आवश्यक था।

जिह्वा और नाक में पांच ज्ञानेन्द्रियाँ [१] उत्पन्न होती हैं [२] जो वस्तुओं का बोध करती हैं। कर्ण आकाश में स्थित शब्द को प्रत्यक्ष करता है तथा सुनने की भौतिक इन्द्रिय (कर्ण) में रहता है। त्वचा शरीर के त्वचा में रहती है। यह वायु के सूक्ष्म तत्त्वों के संसर्ग से गर्म, शीतल, शीतोष्ण आदि विषयों की स्थितियों को महसूस करती है। नेत्र ज्ञानेन्द्रिय भौतिक नेत्र में रहती है जो अग्नि के सूक्ष्म तत्त्वों के संसर्ग से रंगीन विषयों का प्रत्यक्ष करती है। जिह्वा ज्ञानेन्द्रिय भौतिक जिह्वा पर स्थित है जो जल के सूक्ष्म तत्त्वों के संसर्ग से स्वाद का प्रत्यक्ष करती है। नाक ज्ञानेन्द्रिय भौतिक नाक में रहती है जो पृथ्वी के सूक्ष्म तत्त्वों के संसर्ग से वायु द्वारा प्रदत्त अच्छी और खराब गन्ध का प्रत्यक्ष करती है।

यहाँ स्पष्ट कर देना उचित है कि शैव-सिद्धान्त के ये तत्त्व दृश्य, कान, त्वचा आदि का संकेत नहीं करते बल्कि उन सूक्ष्म, यद्यपि तात्त्विक संरचना या अदृश्य यन्त्र का संकेत करते हैं जो उनमें निहित कार्यों को संपादित करता है। यहाँ प्रश्न किया जाता है कि कान आदि भौतिक इन्द्रियों के अतिरिक्त इनमें स्थित पाँच तत्त्वों को क्यों माना जाय ? इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि अन्धे, बहरे और गूंगे लोगों के पास भी उचित भौतिक इन्द्रियाँ होती हैं परन्तु वे इनसे सम्बन्धित कार्यों के सम्पादन में असमर्थ होते हैं। यह इन तत्त्वों की अनुपस्थिति अथवा उनकी सीमितता के कारण होता है। इसलिये इन तत्त्वों की मान्यता आवश्यक है।

कर्ण इन्द्रिय के विषय में प्रश्न किया जाता है कि क्या यह विषयों को प्रत्यक्ष करने के लिये बाहर जाती है अथवा उस ध्वनि को प्रत्यक्ष करती है जो इस तर्क

१. पौ० पुं० प० श्लो० १५८, १५९

२. कुछ दार्शनिक पंच ज्ञानेन्द्रियों को अहंकार से उत्पन्न न मानकर भूतादि तत्त्वों (आकाश, जल, वायु, अग्नि और आकाश) से उत्पन्न मानते हैं। शैव-सिद्धान्ती अपने मत का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि यदि ज्ञानेन्द्रियाँ भूतादि तत्त्वों से उत्पन्न होतीं तो वे घट आदि की तरह शरीरी हो जाती। इस प्रकार यदि एक ज्ञानेन्द्रिय शरीरी है तो या तो यह स्वयं द्वारा देखने योग्य होगी अथवा दूसरे ज्ञानेन्द्रिय द्वारा देखी जानी चाहिए। यदि यह स्वयं द्वारा देखी जाती है तो स्व-आश्रितता का दोष होगा; यदि दूसरे द्वारा देखी जाती है तो उस दूसरे को देखने के लिये एक अन्य की अपेक्षा होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। यदि यह शरीरी है तो इसे स्थित होने के लिये एक अलग स्थान की भी अपेक्षा होगी। इस प्रकार जब एक अन्य शरीरी पदार्थ द्वारा आवरण है, तब तिरोहित पदार्थ का कोई बोध नहीं होगा।

पहुँचती है ? शैव-सिद्धान्ती मानते हैं कि यह ज्ञानेन्द्रिय विषय का प्रत्यक्ष करने के लिये बाहर नहीं जाती बल्कि उस ध्वनि को ही प्रत्यक्ष करती है जो इस तक पहुँचती है।[१] यदि यह प्रत्यक्ष करने के लिये बाहर जाती तो ध्वनि की उतनी तीव्रता ही प्रत्यक्ष होती जितनी तीव्रता उसकी उत्पत्ति के समय होती है। परन्तु दूरी आदि के कारण इसकी तीव्रता में कमी आ जाती है। इसलिये यही मान्य होना चाहिए कि यह उसे ही प्रत्यक्ष करती है जो इसके पास आती है।

२२-२६--**पंच कर्मेन्द्रियाँ**—ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति के बाद अहंकार से पंच कर्मेन्द्रियाँ (१) जिह्वा (वाक्) (२) पाद (३) हस्त (४) गुदा (५) जननेन्द्रिय उत्पन्न होती हैं।[२] ये इन्द्रियाँ कुछ निश्चित कार्य सम्पादित करती हैं, इसलिये कर्मेन्द्रियाँ कही जाती है। ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियों की सहायता करती हैं। श्रोत्रेन्द्रिय शब्द प्रत्यक्ष करती हैं तो वाक् आकाश में स्थित इस शब्द को बोलने का कार्य करता है। त्वचा स्पर्श प्रत्यक्ष करता है तो पैर वायु में रहते हुए चलता है। नेत्र रंगीन विषयों का प्रत्यक्ष करता है, हस्त तेजस् में रहते हुए देने और लेने का कार्य करता है। जिह्वा स्वाद प्रत्यक्ष करता है तो गुदा जल में रहते हुए मल त्याग करता है। नाक गन्ध प्रत्यक्ष करता है तो जननेन्द्रिय भौतिक सुख का कारण है।

ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ शरीर में रहते हुए वस्तुओं का बोध करने और कार्य करने के बाह्य साधन हैं। मनस्, बुद्धि आदि आन्तरिक इन्द्रियाँ हैं। ये शरीर के अन्दर होती हैं और बाह्य इन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत विषयों पर विचार करती हैं। ये इन्द्रियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं। इसलिये ये तीनों ही प्रकार की इन्द्रियाँ आवश्यक हैं।

२७-३१—**पंच तन्मात्रायें**—ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति के बाद भूतादि अहंकार से शब्द, स्पर्श, रूप, स्वाद और गन्ध[३] तन्मात्रायें उत्पन्न होती है।[४] तन्मात्रायें इन्द्रियों को अपने उचित विषयों के कार्य को करने का कारण होती हैं।

३२-३६. **पांच तत्त्व** —पंच तन्मात्राओं से पाँच तत्त्वों, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु[५] और आकाश की उत्पत्ति होती है। इनकी उत्पत्ति का क्रम बताते हुए शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि अभिव्यक्त शब्द तन्मात्र से आकाश उत्पन्न होता है। इसके पास प्रतिध्वनि का गुण होता है। यह अनभिव्यक्त रूप है तथा वायु जैसे चार तत्त्वों

१. शैं० प० पृ० ११९
२. शैं० प० पृ० १२४
३. उन्मैविलक्कम्, १०
४. शैं० प० पृ० १२४
५. उन्मैविलक्कम–४

का पथ बिन्दु है। इसका गुण शब्द कर्ण द्वारा प्रत्यक्ष होता है। आकाश से स्पर्श तन्मात्र का योग होने से वायु तत्त्व उत्पन्न होता है जो अनभिव्यक्त शब्द और अनभिव्यक्त स्पर्श स्वरूप का है। इसके पास सकसक ध्वनि और अल्पोष्ण स्पर्श संवेदना का विशेष गुण होता है। यह भी उतना ही विस्तृत होता है जितना आकाश। इसका गुण स्पर्श त्वचा द्वारा प्रत्यक्ष होता है। वायु से रूप तन्मात्र का योग होने से अग्नि तत्त्व उत्पन्न होता है जो अनभिव्यक्त शब्द और स्पर्श तथा अभिव्यक्त रूप के स्वरूप का होता है। यहाँ टकटक ध्वनि होती है तथा यह स्पर्श करने में गर्म है और इसके पास रंग का गुण तथा जलने एवं प्रकाश करने की क्षमता है। इसका गुण इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष योग्य है। अग्नि से रस तन्मात्र के योग होने से जल तत्त्व उत्पन्न होता है जो अनभिव्यक्त स्पर्श और रूप के स्वरूप का तथा अभिव्यक्त स्वाद के स्वरूप का है। इसके पास सल-सल ध्वनि है। यहाँ शीत का संवेदन और मिठास के स्वाद का विशेष गुण होता है। स्वाद जिह्वा द्वारा प्रत्यक्ष होता है। जल से गन्ध तन्मात्र के योग से पृथ्वी तत्त्व उत्पन्न होता है।[1] जो अभिव्यक्त शब्द, स्पर्श, रूप, स्वाद और अभिव्यक्त गन्ध के स्वरूप का है। इसके पास रद-रद ध्वनि है। यहाँ अल्पोष्ण संवेदना, मिठास आदि छः स्वाद और गन्ध का विशेष गुण है। इसके पास वस्तुओं को सँभालने की क्षमता होती है। इसका गुण गन्ध नाक द्वारा प्रत्यक्ष होता है।[2]

इन तत्त्वों की उत्पत्ति के विषय में आक्षेप किया जाता है कि पाँच तत्त्वों को पाँच तन्मात्र से परिणमित करने की अपेक्षा क्यों नहीं वायु को आकाश से, अग्नि को वायु से, जल को अग्नि से और पृथ्वी को जल से परिणमित किया जाता ? शैव-सिद्धान्ती इसके उत्तर में अपना तर्क देते हुए कहते हैं कि कारण का गुण कार्य में भी होना चाहिए अतः (उपर्युक्त क्रम मानने से) वायु, जल आदि के लिए शब्द आदि गुण भी होना चाहिए। वेदों के अनुसार आकाश आत्मा से उत्पन्न होता है और दूसरे तत्त्व एक दूसरे से आकाश से आरम्भ कर निकलते हैं।[3] शैव-सिद्धान्ती

---

१. पौ० पुंत्व० प० श्लो० ३४९-३५८; मृ० प्र० ११ श्लो० १७-२९, मतङ्ग० अह० प० श्लो० १०१-१०४

२. शैव-सिद्धान्त आकाश के पास केवल एक गुण मानता है जबकि अन्य तत्त्वों के पास एक से अधिक गुण हैं। वैशेषिक वायु, जल आदि के पास भी केवल एक-एक गुण ही मानते हैं। शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि वैशेषिक मत का प्रत्यक्ष तथा श्रुतियों से विरोध है। यहाँ कालात्ययापदिष्ट दोष की संभावना है।

३. तैत्तिरीय उपनिषद् II १

सत्कार्यवाद द्वारा गुण को परिणमित मानते हैं। परन्तु यदि गन्ध आदि पाँच गुण आकाश में पाये जाते तो आकाश और प्रत्येक तत्त्व में कोई अन्तर नहीं रह जाता। यदि आकाश आत्मा से उत्पन्न है तब आत्मा भी जड़ हो जायेगा और आकाश के समान परिवर्त्य होगा। इसलिए यह क्रम नहीं माना जा सकता।

लोकायत और बौद्ध केवल चार तत्त्वों को मानते हैं। उनके अनुसार पाँचवाँ आकाश अनस्तित्वान है। वे कहते हैं कि आकाश के अस्तित्व के लिए न तो प्रत्यक्ष और न ही अनुमान का प्रयोग किया जा सकता है। शैव-सिद्धान्ती इसे प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुतियों की सहायता से सिद्ध करते हैं। उनके अनुसार वस्तुओं के गति के साधन रूप आकाश आवश्यक है। इसके अतिरिक्त शब्द एक गुण है और इसका एक आधार होना चाहिए। अन्य चार तत्त्व, शब्द, तेज आदि शब्द का आधार नहीं हो सकते। पृथक्करण द्वारा हम आकाश को ही ऐसा आधार होना मानते हैं।

यह भी कहा जाता है कि अन्य चार तत्त्वों का अभाव आकाश का निर्माण करता है। परन्तु यदि ऐसा है तो घट का अभाव पट का अस्तित्व हो सकता है। परन्तु ऐसा नहीं होता इसलिए आकाश अनस्तित्ववान् नहीं है। नैयायिक और वैशेषिक आकाश को शाश्वत मानते हैं। उनके अनुसार आकाश अशरीरी है इसलिए यह उत्पत्ति-विनाश का विषय नहीं हो सकता। वायु, अग्नि, पृथ्वी, और जल सृष्टि, स्थिति और संहार के विषय हैं। आकाश उन्हें व्याप्त करता है, इसलिए उत्पत्ति आदि आकाश के गुण नहीं हो सकते। परन्तु शैव-सिद्धान्त आकाश की उत्पत्ति मानता है।

पृथ्वी से हड्डी जैसी सख्त वस्तुयें, मांस, बाल, त्वचा, नाखून, दाँत आदि उत्पन्न होते हैं। जल से जलीय वस्तुयें जैसे मूत्र, खून, कफ, वीर्य, पसीना आदि उत्पन्न होते हैं। अग्नि से गर्म वस्तुयें यथा हृदय में गर्मी, आँखों में तेज, शरीर में चेतना, पित्त की अधिकता, जलने की संवेदना आदि उत्पन्न होते हैं। वायु से प्राण अपान, उदान, व्यान, समान, नाग, कूर्म, क्रिकर, देवदत्त और धनञ्जय उत्पन्न होते हैं।[1] ये अहंकार के विकास के अनुसार शरीर की रक्षा करते हैं। आकाश प्राण जैसे वायुओं का क्षेत्र है जो इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ियों में, हृदय में, शरीर के रोमकूपों आदि में पाये जाते हैं जो अहंकार से सम्बन्धित हैं।

इन पाँच तत्त्वों की अवधारणा का समर्थन आधुनिक विज्ञान भी करता है। यद्यपि इन तत्त्वों के अनेक भेद वैज्ञानिकों ने वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से प्रतिपादित किया है परन्तु मात्र चिन्तन के आधार पर खोजे गये ये पाँच तत्त्व वैज्ञानिक अनुसन्धान के मौलिक तत्त्व कहे जा सकते हैं।

१. मृ० प्र० २ श्लो० २६-३०

आत्मा के अस्तित्व के लिये प्रमाण

भारतीय दार्शनिक परम्परा में चार्वाक एवं बौद्ध को छोड़ कर प्रायः सभी दर्शनों में आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। आत्मा के स्वरूप को लेकर मत वैभिन्न्य भले ही हो किन्तु आत्मा के अस्तित्व को स्वय सिद्ध माना गया है। आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए विशेष प्रमाण की आवश्यकता भारतीय दार्शनिका को नहीं होती। उनके अनुसार सभी प्रकार के प्रमाण आत्मा के अस्तित्व को मान लेते हैं। आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने की पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट की प्रणाली का दिग्दर्शन बहुत पहले ही उपनिषदों में हो जाता है, जहाँ कहा गया है कि आत्मा का निषेध भी (निषेधकर्ता के रूप में) आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

आत्मा का अस्तित्व तो तर्क द्वारा सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु आत्मा का स्वरूप-ज्ञान अथवा आत्म ज्ञान उच्चतर ज्ञान प्राप्त करके ही हो सकता है। इस बात पर भी सभी भारतीय दार्शनिक सहमत हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट के समान भारतीय दार्शनिक परम्परा में यह माना गया है कि सत्य का साक्षात्कार अथवा वास्तविकता (reality) का ज्ञान सामान्य आनुभविक ज्ञान अथवा इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हो सकता। किन्तु भारतीय दार्शनिक उच्चतर ज्ञान द्वारा आत्मा के वास्तविक स्वरूप अथवा सत्यता (reality) को जानने की संभावना को स्वीकार करते हैं। भारतीय दार्शनिक परम्परा में यह नहीं माना गया है कि आत्मा अज्ञेय है। यहाँ केवल सामान्य आनुभविक ज्ञान द्वारा आत्मा को अज्ञेय कहा गया है; उच्चतर ज्ञान द्वारा आत्मा ज्ञेय है अथवा उच्चतर ज्ञान प्राप्त कर आत्मा-नुभूति हो सकती है।

शैव-सिद्धान्ती भी यह मानते हैं कि आत्मा का वास्तविक ज्ञान उच्चतर ज्ञान द्वारा ही हो सकता है अथवा शिवज्ञान प्राप्त कर ही हो सकता है। शैव-सिद्धान्त की मान्यताओं के अनुसार आत्मा का वास्तविक स्वरूप अनादि आणव से आच्छादित है। अतः शिव ज्ञान द्वारा इस आवरण को दूर कर अथवा प्रभावहीन करके ही वास्त-विक स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। अतः शैव-सिद्धान्ती आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में कथन आगम प्रमाण के द्वारा करते हैं जो शिव ज्ञान प्राप्त आत्माओं की अनुभूतियाँ हैं अथवा स्वय शिव द्वारा प्रकाशित हैं। तर्क द्वारा शैव-सिद्धान्ती आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के साथ ही आत्मा के विषय में अन्य दार्शनिक मतों का विवेचन भी

सत्कार्यवाद द्वारा गुण को परिणमित मानते हैं। परन्तु यदि गन्ध आदि पाँच गुण आकाश में पाये जाते तो आकाश और प्रत्येक तत्त्व में कोई अन्तर नहीं रह जाता। यदि आकाश आत्मा से उत्पन्न है तब आत्मा भी जड़ हो जायेगा और आकाश के समान परिवर्त्य होगा। इसलिए यह क्रम नहीं माना जा सकता।

लोकायत और बौद्ध केवल चार तत्त्वों को मानते हैं। उनके अनुसार पाँचवाँ आकाश अनस्तित्वान है। वे कहते हैं कि आकाश के अस्तित्व के लिए न तो प्रत्यक्ष और न ही अनुमान का प्रयोग किया जा सकता है। शैव-सिद्धान्ती इसे प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुतियों की सहायता से सिद्ध करते हैं। उनके अनुसार वस्तुओं के गति के साधन रूप आकाश आवश्यक है। इसके अतिरिक्त शब्द एक गुण है और इसका एक आधार होना चाहिए। अन्य चार तत्त्व, शब्द, तेज आदि शब्द का आधार नहीं हो सकते। पृथक्करण द्वारा हम आकाश को ही ऐसा आधार होना मानते हैं।

यह भी कहा जाता है कि अन्य चार तत्त्वों का अभाव आकाश का निर्माण करता है। परन्तु यदि ऐसा है तो घट का अभाव पट का अस्तित्व हो सकता है। परन्तु ऐसा नहीं होता इसलिए आकाश अनस्तित्ववान् नहीं हैं। नैयायिक और वैशेषिक आकाश को शाश्वत मानते हैं। उनके अनुसार आकाश अशरीरी है इसलिए यह उत्पत्ति-विनाश का विषय नहीं हो सकता। वायु, अग्नि, पृथ्वी, और जल सृष्टि, स्थिति और संहार के विषय हैं। आकाश उन्हें व्याप्त करता है, इसलिए उत्पत्ति आदि आकाश के गुण नहीं हो सकते। परन्तु शैव-सिद्धान्त आकाश की उत्पत्ति मानता है।

पृथ्वी से हड्डी जैसी सख्त वस्तुयें, मांस, बाल, त्वचा, नाखून, दाँत आदि उत्पन्न होते हैं। जल से जलीय वस्तुयें जैसे मूत्र, खून, कफ, वीर्य, पसीना आदि उत्पन्न होते हैं। अग्नि से गर्म वस्तुयें यथा हृदय में गर्मी, आँखों में तेज, शरीर में चेतना, पित्त की अधिकता, जलने की संवेदना आदि उत्पन्न होते हैं। वायु से प्राण अपान, उदान, व्यान, समान, नाग, कूर्म, क्रिकर, देवदत्त और धनञ्जय उत्पन्न होते हैं।[1] ये अहंकार के विकास के अनुसार शरीर की रक्षा करते हैं। आकाश प्राण जैसे वायुओं का क्षेत्र है जो इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ियों में, हृदय में, शरीर के रोमकूपों आदि में पाये जाते हैं जो अहंकार से सम्बन्धित हैं।

इन पाँच तत्त्वों की अवधारणा का समर्थन आधुनिक विज्ञान भी करता है। यद्यपि इन तत्त्वों के अनेक भेद वैज्ञानिकों ने वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से प्रतिपादित किया है परन्तु मात्र चिन्तन के आधार पर खोजे गये ये पाँच तत्त्व वैज्ञानिक अनुसन्धान के मौलिक तत्त्व कहे जा सकते हैं।

१. मृ० प्र० २ श्लो० २६-३०

करते हैं। इस तार्किक प्रक्रिया द्वारा शैव-सिद्धान्ती यह दिखाते हैं कि आत्मा का अस्तित्व है तथा आत्मा शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण आदि तथा ईश्वर अथवा ब्रह्म से भी पृथक है। आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के लिये शैव-सिद्धान्त द्वारा दिये गये तर्कों को मेइकण्डदेव कृत 'शिवज्ञान बोधम' के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है। १—'यह आत्मा नहीं है, यह आत्मा नहीं है' अथवा 'मैं नहीं हूँ' कह कर आत्मा का निषेध करने पर भी निषेधकर्ता के रूप में आत्मा का अस्तित्व है।

इस तर्क द्वारा शैव-सिद्धान्ती शून्यवादी बौद्धों के मत की आलोचना करते हैं। शून्यवादी बौद्धों के अनुसार जो कुछ भी वास्तविकता है वह शून्य है। अतः आत्मा भी शून्य है अथवा शून्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है। शैव-सिद्धान्ती इसके उत्तर में कहते हैं कि इस प्रकार का कथन करने वाला शून्य नहीं हो सकता। आत्मा को शून्य कहने पर भी अथवा आत्मा के अस्तित्व का निषेध करने पर भी निषेधकर्ता का अस्तित्व सिद्ध है। यह निषेधकर्ता आत्मा है। इस प्रकार शैव-सिद्धान्त का यह मत पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट से साम्य रखता है जिसके अनुसार संशय की प्रक्रिया में संशय का विषय संशयात्मक हो सकता है किन्तु संशयकर्ता का अस्तित्व इस प्रक्रिया में असंदिग्ध है।

इस सन्दर्भ में प्रश्न उठ सकता है कि क्या निषेध की प्रक्रिया सर्वथा नास्तित्ववान वस्तु की सत्ता सिद्ध कर सकती है? यदि हम आत्मा का निषेध कर आत्मा का अस्तित्व सिद्ध कर सकते हैं तो क्या 'खरगोश की सींग' अथवा 'आकाश कुसुम' या 'बन्ध्या पुत्र' का अस्तित्व इनके निषेध द्वारा नहीं सिद्ध किया जा सकता? हम खरगोश की सींग आदि सर्वथा नास्तित्ववान वस्तुओं का निषेध करके भी उनके अस्तित्व को नहीं मानते। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि निषेध की प्रक्रिया इन सर्वथा नास्तित्ववान वस्तुओं के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकती तो इस प्रक्रिया द्वारा आत्मा के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता अथवा निषेध की प्रक्रिया को आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने का आधार नहीं बनाया जा सकता। यह कैसे माना जा सकता है कि निषेध की प्रक्रिया आत्मा के अस्तित्व को तो सिद्ध करती है किन्तु खरगोश के सींग अथवा आकाश कुसुम या बन्ध्यापुत्र के अस्तित्व को सिद्ध नहीं करती? यदि निषेध की प्रक्रिया आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है तो इसे खरगोश की सींग आदि को भी सिद्ध करना चाहिए, क्योंकि हम जिस प्रकार 'यह आत्मा नहीं है' कहते हैं उसी प्रकार 'यह आकाश कुसुम नहीं है' अथवा 'यह बन्ध्या पुत्र नहीं है' कहते हैं।

इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहेंगे कि सर्वथा नास्तित्ववान वस्तु के विषय में कोई कथन अथवा निषेधात्मक कथन भी नहीं हो सकता, अतः निषेध की प्रक्रिया

सर्वथा नास्तित्ववान विषयों पर लागू नहीं होती । हम जब भी खरगोश की सींग का निषेध करते हैं तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि सर्वथा नास्तित्ववान वस्तु का कथन करते हैं, वरन् हम उस सींग के विषय में कथन करते हैं जो गाय के पास है किन्तु खरगोश के सन्दर्भ में उसका अस्तित्व नहीं है । आकाश कुसुम का निषेधकर हम यही कहते है कि कुसुम धरती पर है किन्तु आकाश में नहीं है । वन्ध्यापुत्र के निषेध में हम पुत्र को मानते हैं किन्तु वन्ध्या स्त्री से उत्पन्न पुत्र के अस्तित्व को नहीं मानते । उसी प्रकार आत्मा का निषेध करने की प्रक्रिया में आत्मा का सर्वथा निषेध नहीं किया जाता वरन् शरीर, इन्द्रिय आदि को आत्मा माना जाता है तथा इसके अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व को नकारा जाता है । इस प्रक्रिया द्वारा शरीर, इन्द्रिय आदि को ही आत्मा मान लिया जाता है । किन्तु शैव-सिद्धान्ती पहले तर्क द्वारा आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के पश्चात दूसरे तर्कों द्वारा यह सिद्ध करते है कि आत्मा शरीर, इन्द्रिय आदि से भिन्न सत्ता है । शरीर इन्द्रिय आदि आत्मा के साधन मात्र हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि दूसरे तर्कों द्वारा शैव-सिद्धान्ती यह सिद्ध करते हैं कि निषेध-कर्ता अथवा ज्ञाता शरीर या इन्द्रिय नहीं है वरन् आत्मा है जो इन इन्द्रियों से भिन्न है ।

२. 'मेरा शरीर', 'मेरा हाथ', 'यह मेरा पैर है', 'यह मेरा घर है' आदि कथनों से शरीर, हाथ, पैर, घर आदि से भिन्न किसी सत्ता का संकेत होता है । वह सत्ता आत्मा है । 'शरीर मेरा है' इस कथन में यह अर्थ निहित है कि मैं स्वयं शरीर नहीं हूँ । शरीर को ही आत्मा कहने वाले चार्वाकों की आलोचना करते हुए शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि व्यक्ति जब अपनी स्त्री, घर, देश आदि के विषय में बात करता है तो उसे स्त्री, घर, देश आदि से भिन्न अपने अस्तित्व का बोध रहता है । उसी प्रकार व्यक्ति जब अपने शरीर, हाथ, पैर आदि के विषय में बात करता है तो शरीर, हाथ, पैर आदि से पृथक उसके अस्तित्व का संकेत मिलता है । कहने का तात्पर्य यह कि इस प्रकार शरीर, हाथ, पैर आदि से पृथक आत्मा की सत्ता सिद्ध है ।

चार्वाक यहाँ कह सकते हैं कि 'मेरा हाथ', 'मेरा शरीर' आदि बातें करते समय आत्मा का संकेत नहीं होता वरन् शरीर का ही संकेत होता है अथवा दूसरे शब्दों में शरीर ही कहता है कि 'मेरा हाथ' 'मेरा शरीर' अथवा 'मैं पतला हूँ', 'मैं मोटा हूँ' आदि न कि आत्मा । इस प्रकार कहने की प्रक्रिया अथवा इस प्रकार ज्ञान की प्रक्रिया शरीर के कारण है न कि आत्मा के कारण । इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि ज्ञान की प्रक्रिया शरीर के कारण है न कि आत्मा के कारण तो मृत्यु के उपरान्त भी यह प्रक्रिया होनी चाहिए क्योंकि शरीर तो विद्यमान रहता ही है । किन्तु हम जानते हैं कि मृत्यु के उपरान्त शरीर के रहते हुए भी ज्ञान की कोई प्रक्रिया नहीं होती । अतः ज्ञान की प्रक्रिया आत्मा के कारण है न कि शरीर के कारण ।

३. ज्ञानेन्द्रियों के विभिन्न विषयों की अनुभूति पृथक रूप से होती है। यह केवल आत्मा ही कर सकता है।

इस तर्क द्वारा शैव-सिद्धान्ती इन्द्रियात्मवादियों के मत की आलोचना करते हैं जो ज्ञानेन्द्रियों को ही आत्मा मानते हैं। शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान तो हो सकता है किन्तु इच्छा और संकल्प की व्याख्या इन्द्रियों से नहीं की जा सकती। ज्ञानेन्द्रियाँ इच्छा अथवा संकल्प नहीं कर सकती। अतः ज्ञानेन्द्रियों से पृथक् आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है।

ज्ञानेन्द्रियों के समूह को आत्मा नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में सभी ज्ञानेन्द्रियाँ एक साथ अपने-अपने विषयों का प्रत्यक्ष करेंगी तथा उनमें से किसी एक विषय का स्पष्ट प्रत्यक्ष होना संभव नहीं होगा। ज्ञानेन्द्रियों में से प्रत्येक को अलग-अलग आत्मा नहीं माना जा सकता। प्रत्येक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय का प्रत्यक्ष नहीं कर सकती। यथा नेत्र द्वारा देखा जा सकता है किन्तु सुना नहीं जा सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि केवल नेत्र को ही आत्मा माना जाय तो अन्य सभी विषयों का ज्ञान असंभव होगा अथवा तब सुनने या स्पर्श आदि की क्रियायें नहीं होंगी। इसी प्रकार केवल कान अथवा केवल नाक या केवल स्पर्श ज्ञानेन्द्रिय को आत्मा नहीं माना जा सकता। ज्ञानेन्द्रियों को इसलिए भी आत्मा नहीं माना जा सकता कि ज्ञानेन्द्रियाँ प्रत्यक्ष तो कर सकती हैं किन्तु इसे व्यक्त नहीं कर सकती। यथा आँख देख सकती है किन्तु यह नहीं कह सकती कि 'मैं देखती हूँ'। ज्ञानेन्द्रियों को आत्मा न मानने का कारण बताते हुए शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि स्वप्नावस्था में ज्ञानेद्रियों के निष्क्रिय अथवा शिथिल रहते हुए भी अनुभूति होती है। अतः स्वप्नावस्था की अनुभूति से भी यह सिद्ध है कि ज्ञानेन्द्रियों से इतर आत्मा का अस्तित्व है।

इन तर्कों द्वारा शैव-सिद्धान्ती यह दिखाते हैं कि आत्मा ही ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से उनके पृथक-पृथक विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि आत्मा ही ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करता है तो क्यों नहीं वह एक ही समय में अथवा एक ही साथ सभी ज्ञानेन्द्रियों के सभी विषयों को प्रत्यक्ष कर लेता? इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि अनादि आणव से ग्रस्त होने के कारण आत्मा की स्वाभाविक शक्तियाँ सीमित हैं। इसलिए आत्मा सभी विषयों का प्रत्यक्ष एक ही साथ नहीं करता। आणव से मुक्त होने पर आत्मा सभी विषयों का प्रत्यक्ष एक ही साथ कर सकता है।

४. स्वप्नावस्था और जाग्रतावस्था की अनुभूतियों में असमानता सूक्ष्मदेह से अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व का सिद्ध करती है।

इस तर्क द्वारा शैव-सिद्धान्ती सूक्ष्मदेहात्मवादियों के मत की आलोचना करते हैं

जो सूक्ष्मदेह को ही आत्मा कहते हैं। सूक्ष्मदेहात्मवादियों के अनुसार नीद में ज्ञानेद्रियों के शिथिल होने पर सूक्ष्मदेह स्वप्न की अनुभूतियों को प्राप्त करता है न कि आत्मा। इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि स्वप्नावस्था में अनुभव करने वाला सूक्ष्म देह है तो जाग्रतावस्था में भी वे अनुभूतियाँ वैसी ही होनी चाहिए जैसा हम स्वप्न में अनुभव करते हैं क्योंकि जाग्रतावस्था में भी सूक्ष्मदेह ही उन अनुभूतियों को याद करेगा। किन्तु जब जाग्रतावस्था में हम स्वप्न की अनुभूतियों को याद करते हैं तो हमें हल्की और धुँधली स्मृति ही होती है। यदि वास्तविक ज्ञाता सूक्ष्मदेह है तो दोनों अनुभूतियों में असमानता नहीं होनी चाहिए। किन्तु दोनों अनुभूतियों में हम अन्तर पाते हैं, अतः वास्तविक ज्ञाता या अनुभवकर्ता सूक्ष्मदेह नहीं है वरन् आत्मा है। इसके अतिरिक्तः शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि सूक्ष्मदेह जड़ और अचेतन तत्त्वों अथवा इन्द्रियों से निर्मित है। अचेतन और जड़ पदार्थ में ज्ञान की क्रिया आरोपित नही की जा सकती। केवल चेतन ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अतः सूक्ष्मदेह से इतर चेतन आत्मा की सत्ता है।

५. गहरी नींद में प्राणवायु के क्रियाशील रहते हुए भी कोई अनुभूति अथवा शारीरिक क्रिया नहीं होती अतः प्राणवायु से इतर आत्मा की सत्ता है।

प्राणात्मवादियों के अनुसार चूंकि प्राणवायु जाग्रत, स्वप्न आदि सभी अवस्थाओं में रहता है, अतः प्राणवायु ही आत्मा है। सुख, दुःख आदि अनुभूतियाँ अथवा ज्ञान की प्रक्रिया तभी तक होती है जब तक प्राणवायु क्रियाशील है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवित अवस्था में ही अनुभूतियाँ होती हैं तथा जीवित अवस्था तभी तक है जब तक प्राणवायु क्रियाशील है। अतः चूँकि ज्ञान की प्रक्रिया प्राण वायु की क्रियाशीलता पर ही निर्भर है इसलिए प्राण वायु ही आत्मा है। शैव-सिद्धान्ती इस मत की आलोचना में कहते हैं कि यद्यपि ज्ञान की प्रक्रिया के समय प्राण वायु क्रियाशील है किन्तु कुछ ऐसी अवस्थायें भी हैं जहाँ प्राण वायु के क्रियाशील रहने पर भी ज्ञान की प्रक्रिया अथवा अनुभूति नहीं होती। गहरी नीद में प्राणवायु क्रियाशील रहता है किन्तु उस अवस्था में ज्ञान की कोई प्रक्रिया नहीं होती। यदि ज्ञान की प्रक्रिया का मूल कारण प्राणवायु है अथवा प्राणवायु ही आत्मा है तो गहरी नींद में भी अनुभूति होनी चाहिए। किन्तु गहरी नींद में अनुभूति नहीं होती। अतः प्राण वायु आत्मा नहीं है।

इसके अतिरिक्त शैव-सिद्धान्ती अन्तःकरणात्मवादियों के मतों की आलोचना करते हैं जिनके अनुसार मनस, बुद्धि, अहंकार आदि आत्मा हैं। शैव-सिद्धान्ती कहते है कि यदि प्रत्येक अन्तःकरण को अलग-अलग आत्मा माना जाय तो किसी एक विषय की स्पष्ट अनुभूति संभव नहीं होगी। यदि सभी अन्तःकरण के समूह को आत्मा माना

जाय तो भी किसी विषय की स्पष्ट अनुभूति नहीं होगी क्योंकि प्रत्येक अन्तःकरण एक दूसरे से सहयोग नहीं करेगा अथवा सभी अन्तःकरण एक साथ ही अनुभूति करेंगे और उसमें से एक अनुभूति को अलग करना संभव नहीं होगा।

शैव-सिद्धान्ती अन्तःकरण को मायीय तत्त्वों से निर्मित मानते हैं। अतः मायीय तत्त्वों से निर्मित होने के कारण ये अचेतन हैं। अचेतन अन्तःकरण स्वतन्त्रता पूर्वक अनुभूति प्राप्त नहीं कर सकते। आत्मा ही इन अन्तःकरणों को साधन रूप में प्रयोग कर अनुभूति करता है। ये अन्तःकरण आत्मा से आणव मल के प्रभाव के कारण इस प्रकार सम्बन्धित हैं कि ये ही आत्मा प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं कह सकती कि 'मैं देखती हूँ' या 'मैं सुनती हूँ' उसी प्रकार अन्तःकरण भी नहीं कह सकते कि 'मैं जानता हूँ' या 'मैं अनुभव करता हूँ'। वास्तव में यह कथन केवल आत्मा ही कर सकता है।

बौद्ध तत्त्वों के समूह अथवा स्कन्ध को आत्मा कहते हैं। उनके अनुसार ज्ञान की प्रक्रिया इन सभी तत्त्वों के सक्रिय होने के परिणामस्वरूप होती है। शैव-सिद्धान्ती तत्त्वों को मायीय होने से अचेतन मानते हैं। अतः तत्त्वों का स्कन्ध भी बिना चेतन आत्मा की अपेक्षा किये ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता।

६—आत्मा का अपूर्ण ज्ञान यह संकेत करता है कि आत्मा ईश्वर से भिन्न है।

इस तर्क द्वारा शैव-सिद्धान्ती उन दार्शनिक मतों की आलोचना करते हैं जो आत्मा को ही ईश्वर मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा का ज्ञान अपूर्ण है क्योंकि आत्मा जो ज्ञान प्राप्त करता है उसे भूल भी जाता है। श्रुतियों में ईश्वर के पूर्ण ज्ञान अथवा सर्वज्ञ होने की बात कही गई है। अतः आत्मा ईश्वर नहीं है।

इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि शैव-सिद्धान्ती अनेक आत्माओं के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। यहाँ कहा जा सकता है कि जब वेद में एक ही आत्मा के अस्तित्व की बात कही गई है तो शैव-सिद्धान्ती किस प्रकार अनेक आत्माओं के अस्तित्व की बात करते हैं? इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि वेदों में आत्माओं के स्वामी को एक होने की बात कही गई है न कि आत्मा को ही एक होने की बात कही गई है। आत्मा की अनेकता को सिद्ध करने के लिए शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि हम प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा आत्माओं की अनेकता को जानते हैं। प्रत्येक व्यक्ति 'मैं हूँ' इस प्रकार अलग-अलग अपने अस्तित्व का बोध करता है तथा अलग-अलग व्यक्तियों के जन्म और मृत्यु से भी आत्माओं की अनेकता सिद्ध है।

शैव-सिद्धान्ती आत्मा की अनेकता को सिद्ध करने के लिए तर्क देते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा, संकल्प तथा क्रियायें व अनुभूतियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। यदि आत्मा एक है तो यह कैसे संभव है कि कोई व्यक्ति सुखी रहता है तो दूसरा उसी

क्षण दुःखी रहता है तथा कोई व्यक्ति यात्रा करता है तो दूसरा उसी समय विश्राम करता है। एक ही आत्मा इतने विभिन्न क्रियाओं को एक ही समय में कैसे संपादित कर सकता है? अतः आत्मा की अनेकता सिद्ध है।

इस प्रकार शैव-सिद्धान्ती आत्मा का अस्तित्व तर्कों द्वारा सिद्ध कर देते हैं, किन्तु यदि इन तर्कों पर पुनर्विचार किया जाय तो यही बात समझ में आती है कि इस सन्दर्भ में शैव-सिद्धान्त को एक सीमा तक ही सफलता मिलती है। वैसे देखा जाय तो आत्मा का अस्तित्व तर्कों द्वारा सिद्ध किया ही नहीं जा सकता क्योंकि आत्मा सामान्य ज्ञान अथवा तर्क (reasoning) से परे है। ऐसी स्थिति में तर्कों द्वारा केवल सभावना ही सिद्ध की जा सकती है। अनात्मवादी अथवा शरीर, इन्द्रिय आदि को आत्मा कहने वाले भी वस्तुतः संभावना ही निर्दिष्ट करते हैं। जिस प्रकार शरीरात्मवादी अथवा प्राणात्मवादी आदि शरीर, प्राण आदि को ही आत्मा मानते हैं क्योंकि शरीर, प्राण आदि के विना आत्मा की प्रतीति नहीं होती अथवा चेतन आदि की क्रियायें शरीर, प्राण आदि के विना नहीं देखी जाती। उसी प्रकार शैव-सिद्धान्ती यह दिखाने मे तो सफल हो जाते है कि कुछ अवस्थाओं में शरीर, प्राण आदि के रहते हुए भी चैतन्य की क्रियायें नहीं होतीं, अतः शरीर प्राण आदि को ही आत्मा नहीं माना जा सकता। शैव-सिद्धान्त की तार्किक गवेषणा द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर, प्राण आदि आत्मा के अस्तित्व के लिये आवश्यक दशा (necessary condition) अवश्य है, किन्तु ये स्वयं आत्मा नहीं है। जिस प्रकार बिजली के लिये तार तथा तार आदि की उचित व्यवस्था आवश्यक है, क्योंकि बिजली सदा तार आदि मे ही देखी जाती है, किन्तु तार आदि बिजली नहीं है। उसी प्रकार आत्मा के अस्तित्व के लिये शरीर आदि की उचित क्रियाशीलता (अथवा जीवित रहना) आवश्यक दशा है, किन्तु शरीर आदि को आत्मा नहीं माना जा सकता। यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि इस तथ्य को दिखाने में शैव-सिद्धान्त को पूरी सफलता मिलती है। किन्तु इससे आत्मा क्या है? अथवा आत्मा का क्या स्वरूप है? यह तथ्य सिद्ध नहीं होता अथवा स्पष्ट नहीं होता। तर्क द्वारा तो केवल आत्मा के विषय में संभावना ही निर्दिष्ट की जा सकती है। अतः शैव-सिद्धात द्वारा किये गये आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि विषयक प्रयास को अन्ततः संभावना ही मानते हुए सफल प्रयास कहा जा सकता है। शैव-सिद्धान्त में भी (काश्मीर शैव दर्शन की तरह) इस बात को संभवतः स्वीकार किया गया, इसीलिए आत्मा के स्वरूप विषयक कथन शैव-सिद्धान्त आगम प्रमाण के आधार पर करता है।

आत्मा का स्वरूप

तर्क द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के पश्चात् शैव-सिद्धान्ती आत्मा के स्वरूप

का विवेचन करते हैं। शैव-सिद्धान्त के अनुसार आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में शिव के समान ही सत्, चित् आनन्द रूप हैं। शिव के समान ही सर्वज्ञ, शक्तिमान (इच्छा, क्रिया और ज्ञानशक्ति से युक्त) तथा व्यापी है, किन्तु अनादि काल से आणव मल के आवरण से आच्छादित होने के कारण उसकी शक्तियाँ सीमित है। इसलिये बद्धावस्था में आत्मा शिव के समान सत, चित् तथा आनन्दरूप नहीं है। इस आवरण को दूर करने के लिये ही आत्मा को जन्म ग्रहण करना पड़ता है। तत्त्व की दृष्टि से आत्मा शिव के समान ही चित् रूप है, किन्तु अवस्था की दृष्टि से अथवा स्वरूप की दृष्टि से शिव और आत्मा में पर्याप्त विभेद है। शिव शुद्ध तथा नित्य मुक्त सत्ता है। शिव जन्म-मृत्यु अथवा बन्धन और मोक्ष का विषय नहीं है। शिव पूर्ण सत्ता है। शिव की शक्तियाँ अपने पूर्ण रूप में प्रकाशित हैं। आत्मा अनादि काल से बन्धन ग्रस्त है। फलतः आत्मा बन्धन और मोक्ष का विषय है। आत्मा आणव मल के प्रभाव के कारण अपूर्ण है। आत्मा की शक्तियाँ सीमित हैं। आत्मा अपने शक्तियों के प्रकाशन के लिये शिव पर आश्रित है। शिव को ज्ञान प्राप्त करने के लिये किसी साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती, किन्तु आत्मा जब तक बन्धन में है, बिना साधनों की सहायता के ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। आणव के प्रभाव से शक्तियाँ सीमित हो जाने के कारण आत्मा स्वयं को असहाय पाता है। ऐसी अवस्था में आत्मा बन्धन से मुक्ति पाने के लिये प्रयास भी नहीं कर पाता। शिव आत्मा पर अनुग्रह करता है। आत्मा को मुक्त कराने के लिए शिव सृष्टि आदि क्रियाएँ करता है। शिव से अनुग्रह प्राप्त करके ही आत्मा बन्धन से मुक्ति पाने का प्रयास करता है। फलतः आत्मा शिव पर आश्रित है।

आत्मा के स्वरूप के विषय में अपने मत का औचित्य दिखाने के लिये शैव-सिद्धान्ती अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की आलोचनात्मक विवेचना करते हैं। परिणाम-वादियों की आलोचना द्वारा शैव-सिद्धान्ती यह दिखाते हैं कि शिव से इतर आत्मा की सत्ता मानना आवश्यक है अथवा दूसरे शब्दों में, उनके द्वारा शिव और आत्मा का तात्त्विक द्वैत माना जाना उचित है। परिणामवादी यह मानते हैं कि आत्मा ब्रह्म का ही रूपान्तरण है तथा आत्मा के पास भी ज्ञान, इच्छा और क्रिया है। परिणामवादियों के अनुसार ब्रह्म और आत्मा में भेदाभेद (Identity-in-difference) सम्बन्ध है। शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि ब्रह्म ही आत्मा है तो उसे ज्ञान प्राप्त करने के लिये ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा क्यों होती है? यदि आत्मा ब्रह्म ही हैं तो उन्हें बिना साधनों की अपेक्षा किये ही ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। चूँकि आत्मा साधनों की सहायता से ही ज्ञान प्राप्त करते हैं, अतः यह नहीं माना जा सकता कि आत्मा ब्रह्म ही है।

सांख्य दर्शन की आलोचना द्वारा शैव-सिद्धान्ती यह स्पष्ट करते हैं कि आत्मा का स्वरूप ही ज्ञान रूप है अथवा ज्ञान आत्मा का आवश्यक गुण है। सांख्य दार्शनिक यह मानते हैं कि आत्मा (पुरुष) साक्षी मात्र है। ज्ञानात्म क्रिया आत्मा की उपस्थिति में ज्ञानेन्द्रियों के क्रियाशील हो जाने के परिणामस्वरूप होती है। शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि निद्रावस्था में आत्मा की समीपता होने के बावजूद ज्ञान की क्रिया नहीं होती। अतः यह नहीं माना जा सकता कि ज्ञान की क्रिया आत्मा की समीपता से ज्ञानेन्द्रियों के कारण होती है, वरन् यही मानना यथेष्ट है कि ज्ञान की क्रिया आत्मा के ज्ञानात्मक स्वरूप के कारण है।

पौराणिक मत की आलोचना करते हुए शैव-सिद्धान्ती यह कहते हैं कि आत्मा को मूर्त (शरीरी) नहीं माना जा सकता। पौराणिक आत्मा को शरीरी मानते हैं। शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि आत्मा को शरीरी मान लिया जाय तो यह भूतों से (तत्त्वों से) निर्मित होगा और फलतः उत्पत्ति और विनाश का विषय होगा। आत्मा को नश्वर नहीं माना जा सकता क्योंकि तब कर्म नियम अथवा पुनर्जन्म की व्याख्या नहीं की जा सकती। शैव-सिद्धान्ती पौराणिकों के इस मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यदि आत्मा शरीरी है तो उसे दृष्ट होना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि शरीरी होते हुए भी वह अदृश्य है तो यह मान्य नहीं होगा[1]।

कौल मत की आलोचना द्वारा शैव-सिद्धान्ती आत्मा को शरीरी मानने की संभावना से इन्कार करते हैं। उनके अनुसार शरीरी और अशरीरी दोनों ही कहना विरोधाभासी होगा। शरीरी अशरीरी नहीं हो सकता और अशरीरी को शरीरी नहीं कहा जा सकता। पृथ्वी आकाश नहीं हो सकती और आकाश पृथ्वी नहीं हो सकता।

वैशेषिक आत्मा को जड़ मानते हैं जो मनस से युक्त होने पर ही विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। शैव-सिद्धान्त को यह अमान्य है क्योंकि दो विरोधी गुण एक ही द्रव्य में नहीं रह सकते। पाञ्चरात्र आत्मा को आणविक मानते हैं। यह मत शैव-सिद्धान्त को अमान्य है क्योंकि आणविक होने से आत्मा जड़ होगा तथा अन्य तत्त्वों के समान ही विनाशी होगा। जैन दार्शनिक आत्मा का शरीर के समान ही परिमाण मानते है। शैव-सिद्धान्त को यह अमान्य है क्योंकि तब ज्ञान शरीर के परिमाण पर निर्भर होगा तथा निद्रावस्था में भी ज्ञान होगा और सभी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा एक साथ ही ज्ञान होगा।[2]

---

१. शैव-सिद्धान्त : वी० ए० देवसेनापति पृ०२११

२. शैव-सिद्धान्त : वी० ए० देवसेनापति पृ० २१३

इस प्रकार आत्मा के विषय में विभिन्न मतों का विश्लेषण करने के पश्चात् शैव-सिद्धान्ती आगम प्रमाण के आधार पर आत्मा के स्वरूप का विवेचन करते हैं। शैव-सिद्धान्ती यह मानते हैं कि आत्मा अपने वास्तविक रूप में शिव के समान ही है, किन्तु अनादि आणव के आवरण के कारण आत्मा में पशुत्व आ गया है। इस पशुत्व के दूर हो जाने पर आत्मा पुनः अपने वास्तविक रूप में प्रकाशित हो जाता है। इस पशुत्व से मुक्ति पाने के क्रम में आत्मा विभिन्न अवस्थाओं को धारण करता है। अपने वास्तविक रूप में आत्मा सत् रूप है, किन्तु इन अवस्थाओं के कारण आत्मा सत्, असत्, सदसत भी कहा जाता है। ये अवस्थायें आत्मा की बद्धावस्था से मुक्ति की ओर अग्रसर होने की अवस्थायें हैं।

आत्मा की अवस्थायें

बन्धन से मुक्ति की ओर अग्रसर होने में आत्मा की तीन अवस्थायें शैव-सिद्धान्ती बताते हैं। ये अवस्थायें हैं—केवलावस्था, सकलावस्था और शुद्धावस्था।

केवलावस्था

प्रलय काल में शरीर आदि से रहित आत्मा की अवस्था केवलावस्था है। इस अवस्था में आत्मा राग, विद्या, कला, नियति, काल जैसे पञ्चकंचुकों से रहित होता है। केवलावस्था में आत्मा को जगत् की कोई अनुभूति नहीं रहती। यह आत्मा के निष्क्रियता की अवस्था है। अपने वास्तविक स्वरूप में सर्वज्ञ, क्रियाशील होते हुए भी आणव मल के प्रभाव के कारण आत्मा न तो कुछ कर सकता है और नहीं कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस अवस्था में आत्मा अत्यन्त ही असहाय होता है। यह अवस्था आणव मल के पूर्ण प्रभाव की अवस्था है। इस अवस्था में आत्मा की इच्छा ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ सीमित हो गई रहती हैं। किसी प्रकार का कर्तृत्व, स्वान्तन्त्र्य तथा भोग की इच्छा का भी आत्मा में सर्वथा अभाव इस अवस्था में रहता है। इस प्रकार सभी शक्तियों-इच्छा, ज्ञान, क्रिया से, तथा कर्तृत्व से रहित होने के कारण यह आत्मा की केवलावस्था है क्योंकि इस अवस्था में आत्मा का केवल अस्तित्व ही रहता है।

सकलावस्था

अनादि आणव से मुक्ति दिलाने के लिये शिव आत्मा पर अनुग्रह करके सृष्टि द्वारा उन्हें शरीर, इन्द्रिय आदि साधन प्रदान करता है। इन साधनों से मुक्त हो जाने को अवस्था आत्मा की सकलावस्था है। यह आत्मा की कार्यविस्था है। इस अवस्था में यद्यपि आत्मा की शक्तियाँ सीमित ही रहती हैं, किन्तु आत्मा उनका

प्रयोग करने लगता है। इन सीमित शक्तियों के माध्यम से आत्मा मुक्ति प्राप्त करने के लिये प्रयास करता है। केवलावस्था में आत्मा कर्म नहीं कर सकता क्योंकि इस अवस्था में कर्म करने के सभी आवश्यक साधन यथा शरीर, इन्द्रिय आदि का सर्वथा अभाव रहता है। सकलावस्था में आत्मा इन साधनों से युक्त हो जाता है। कर्मेन्द्रियों की सहायता से वह विभिन्न शारीरिक क्रियाएँ संपादित करता है। ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से आत्मा विभिन्न विषयों का प्रत्यक्ष करता है। अन्तःकरणों की सहायता से आत्मा संकल्प, इच्छा, संशय आदि क्रियाओं को संपादित करता है। शिव प्रकाशम् में कहा गया है कि जिस प्रकार दीपक तेल आदि आवश्यक वस्तुओं के वर्तमान रहने पर अपना कार्य करता है, वैसे ही आत्मा शरीर आदि आवश्यक साधनों से युक्त हो जाने पर कर्म करने लगता है।[1]

सकलावस्था में आत्मा कर्म द्वारा सुख-दुःख की अनुभूति करता हुआ अपने को मुक्ति पाने के लायक बनाता है। शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि जिस प्रकार सोने को अपने वास्तविक रूप में आने के लिये अग्नि में तपना पड़ता है, वैसे ही आत्मा को अपने शुद्धावस्था में आने के लिये सुख-दुःख के कष्टपूर्ण अनुभूतियों से होकर स्वयं को आणव से मुक्त करना पड़ता है। इस प्रक्रिया को पूरा करने के लिये शरीर ग्रहण करना आवश्यक है। चित् स्वरूप अथवा ज्ञानस्वरूप होते हुए भी आत्मा अपनी इच्छा ज्ञान, क्रिया शक्तियों को व्यक्त नहीं कर पाता अथवा इनका उपयोग नहीं कर पाता। इन शक्तियों के उपयोग के लिये आत्मा को शरीर से युक्त होना आवश्यक है।

आत्मा की सकलावस्था को शैव-सिद्धान्ती 'सदसत' की अवस्था कहते हैं। उनके अनुसार इस अवस्था में आत्मा सत् और असत् दोनों होता है, अथवा दूसरे शब्दों में, इस अवस्था में आत्मा के पास सत् के भी गुण होते हैं तथा असत् के भी गुण होते हैं। सकलावस्था में आत्मा माया के तत्त्वों के सम्पर्क में आता है। मायोत्पादित शरीर आदि साधनों द्वारा ही आत्मा कर्म करता है। फलतः माया अथवा माया के तत्त्वों का आत्मा पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से आत्मा को असत् कहा जाता है। कर्मों के अनुभव द्वारा आत्मा शिव का अनुग्रह भी प्राप्त करता है अथवा दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि आत्मा शिव के प्रभाव में भी आने लगता है। इस दृष्टि से सत् कहा जाता है। इस प्रकार सकलावस्था में आत्मा शिव और माया, चित् और अचित् दोनों ही तत्त्वों से प्रभावित होने के कारण सदसत कहा जाता है।

सकलावस्था आध्यात्मिक क्षेत्र से आत्मा के उत्तरोत्तर उत्कर्ष की अवस्था है। आत्मा जागतिक अनुभवों द्वारा जगत् की सत्यता को जानने का प्रयास करता है।

१. शिवप्रकाशम्, ३७

अपने अनुभवों द्वारा आत्मा यह पाता है कि जागतिक पदार्थ उसे सन्तुष्ट नहीं कर पाते। फलतः आत्मा शिव की ओर अभिमुख होता है। जगत् को जगत् के रूप में देख लेने पर आत्मा को यह ज्ञान हो जाता है कि जगत् उसके लिये साधन मात्र है। जगत् ही उसके लिये अभीष्ट नहीं है। जगत् को साधन रूप समझ लेने पर आत्मा अपनी मुक्ति के लिये ईश्वर के अनुग्रह की अपेक्षा करता है। फलतः वह स्वयं को अनुग्रह प्राप्त करने के लायक बनाता है। इस प्रकार शुद्धावस्था में प्रवेश करने की तैयारी आत्मा सकलावस्था में ही करने लगता है।

केवलावस्था में आत्मा आणव मल के प्रभाव में रहता है, किन्तु सकलावस्था में आत्मा माया और कर्म मल से भी युक्त हो जाता है। शैव-सिद्धान्ती यह मानते हैं कि जिस प्रकार कपड़े की गन्दगी साफ करने के लिये साबुन इत्यादि अन्य गन्दगियों का प्रयोग किया जाता है, वैसे ही आत्मा के आणव मल को दूर करने के लिये माया और कर्म मल आवश्यक हैं। माया मल से युक्त होकर आत्मा माया से निर्मित जगत् का ज्ञान प्राप्त करता है। यह आत्मा के पाश ज्ञान की अवस्था है। पाश ज्ञान के स्तर पर आत्मा को असत् कहा जाता है। पाश ज्ञान के पश्चात् आत्मा स्वयं को जानने का प्रयास करता है। जागतिक अनुभवों से असन्तुष्ट आत्मा आध्यात्मिक ज्ञान की ओर अग्रसर होता है। यह पशु ज्ञान का स्तर है। इस स्तर पर आत्मा सदसत कहा जाता है।

शुद्धावस्था

शिव ज्ञान प्राप्ति की अवस्था आत्मा की शुद्धावस्था है। सकलावस्था में प्राप्त अनुभवों के आधार पर आत्मा यह समझ जाता है कि जागतिक पदार्थ उसके लिये साधन मात्र ही हैं। आत्मा को अपने लक्ष्य का ज्ञान सकलावस्था में हो जाता है। आत्मा यह जान लेता है कि उसका लक्ष्य जागतिक भोग नहीं है अपितु शिव है। शिव का सामीप्य प्राप्त करके ही आणव मल के प्रभाव से सर्वथा मुक्ति प्राप्त हो सकती है। फलतः शिव ज्ञान प्राप्त करने के लिये आत्मा ज्ञान मार्ग का अनुसरण करता है। शिव निर्गुण, निराकार होने से तथा सभी तत्त्वों से परे होने के कारण किसी साधन द्वारा ज्ञात नहीं हो सकता। शिव शिवज्ञान द्वारा ही ज्ञात हो सकता है जो आत्मा को अनुग्रह रूप में प्राप्त होता है।

इस अवस्था में आत्मा आणव, माया तथा कर्म मल से मुक्त हो जाता है। सभी मलों से रहित आत्मा अपने शुद्ध रूप में होता है। इसीलिये इस अवस्था में आत्मा को सत् कहा जाता है।

बन्धन

शैव-सिद्धान्त के अनुसार बन्धन अनादि है। आत्मा अनादि काल से आणव मल से आच्छादित है। आणव के आवरण के कारण आत्मा का वास्तविक स्वरूप आच्छादित है। इसके परिणामस्वरूप आत्मा की स्वाभाविक शक्तियाँ भी सीमित हो गई हैं। आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता। वह नहीं जान पाता कि अपने वास्तविक स्वरूप में वह सर्वज्ञ, शक्तिमान तथा व्यापी है। वह स्वयं को सीमित ही अनुभव करता है। ईश्वर आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानता है। ईश्वर यह जानता है कि आणव के आवरण के कारण आत्मा का वास्तविक आध्यात्मिक स्वरूप छिपा है। ईश्वर प्रेम रूप अथवा अनुग्रह रूप है। वह आत्मा के वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित करना चाहता है। इस प्रयोजन से ईश्वर सृष्टि द्वारा आत्मा को शरीर और जगत् प्रदान करता है। आत्मा विना शरीर आदि साधनों के कर्म नहीं कर सकता क्योंकि आणव के आवरण से वह सीमित है। अतः आणव से मुक्ति पाने के लिए प्रयास करने हेतु उसे शरीर आदि साधनों की अपेक्षा होती है। शरीर आदि मायीय साधनों से युक्त होने पर आत्मा माया मल से भी युक्त हो जाता है। शरीर आदि साधनों से युक्त होकर आत्मा जगत् में प्रवेश करता है तथा यहाँ कर्म करने में संलग्न हो जाता है। कर्म करने से आत्मा कर्म मल से भी युक्त हो जाता है। कर्म करने पर आत्मा कर्मों के फल भोगने के लिए बाध्य हो जाता है। फलतः वह जन्म मृत्यु के चक्र में भी फँस जाता है। जगत् में कर्म करते हुए आत्मा सुख-दुःख को अनुभव करने लगता है।

इस प्रकार बन्धन का आदि कारण आणव मल है तथा माया मल और कर्म मल साधन स्वरूप हैं। माया मल और कर्म मल भी बन्धनकारी तत्त्व ही है जो आत्मा को और बन्धन में डालते हैं। किन्तु शैव-सिद्धान्ती ऐसा मानते हैं कि अनादि बन्धन से मुक्त होने के लिए माया और कर्म के बन्धन आवश्यक हैं। जिस प्रकार कपड़े की गन्दगी को दूर करने के लिए साबुन आदि अन्य गन्दगी का प्रयोग आवश्यक होता है, उसी प्रकार आणव मल को दूर करने के लिए माया मल और कर्म मल के प्रभाव से आत्मा अनुभव प्राप्त कर पाशज्ञान और पशुज्ञान से होता हुआ शिवज्ञान की ओर अग्रसर होता है। कर्मों के अनुभवों द्वारा आत्मा मलपरिपाक की प्रक्रिया करता है। मलपरिपाक की प्रक्रिया पूरी हो जाने पर शिव को अनुग्रह द्वारा आत्मा आणव मल से मुक्ति प्राप्त करता है।

मलों के प्रभाव से ही आत्मा में सीमित ज्ञातृत्व, सीमित कर्तृता तथा विषयों के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप का आच्छदान ही शैव-सिद्धान्त के अनुसार बन्धन है। यह बन्धन आणव मल, माया मल तथा कर्म मल के कारण है। अतः इन मलों की अलग-अलग संक्षिप्त विवेचना शैव-सिद्धान्त में प्रतिपादित बन्धन के स्वरूप को समझने के लिए आवश्यक है।

आणव मल

आणव मल एक है, किन्तु इसकी शक्तियाँ अनेक हैं। यह असंख्य जीवों को वैसे ही व्याप्त किये रहता है जैसे जंग ताँबे को। यह आत्माओं के ज्ञान और क्रिया को सीमित कर देता है तथा उनके अज्ञान का कारण है। आणव को शैव-सिद्धान्त में पाश अथवा बन्धन कहा गया है। यह द्रव्य की दृष्टि से एक है, किन्तु इसकी शक्तियाँ अनन्त है। यही कारण है कि एक ही आणव समस्त आत्माओं को व्याप्त किये रहता है। यह आत्मा के साथ अनादि काल से है। शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि जिस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि चावल के साथ भूसी, छिलका आदि कब से है, उसी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा के साथ आणव कब से है। इसे आणव संभवतः इसलिए कहा जाता है कि यह व्यापक आत्मा को अणु रूप (सीमित) बना देता है। आणव मल को भी व्यापक कहा गया है क्योंकि यह असंख्य आत्माओं को व्याप्त करता है। जिस प्रकार अन्धेरा असंख्य नेत्रों को व्याप्त कर लेता है अथवा दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार एक अन्धेरा (द्रव्य की दृष्टि से एक) असंख्य नेत्रों के सामने अन्धेरा उत्पन्न कर देता है। वैसे ही आणव असंख्य आत्माओं को व्याप्त करता है।[१]

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि आणव के अस्तित्व को किस प्रकार स्वीकार किया जाय अथवा आणव के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए क्या प्रमाण है? शैव-सिद्धान्ती आगम प्रमाण के आधार पर आणव के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। किन्तु शैव-सिद्धान्त की दार्शनिक पद्धति के अनुसार आणव का अस्तित्व तार्किक प्रक्रिया (reasoning) से भी सिद्ध होना चाहिए। आणव का अस्तित्व प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता। आणव ज्ञानेन्द्रियों द्वारा द्रष्टव्य नहीं है, अतः प्रत्यक्ष द्वारा इसकी सत्ता नहीं सिद्ध की जा सकती। अनुमान के लिए व्याप्ति सम्बन्ध आवश्यक है, किन्तु आणव के सन्दर्भ में प्रत्यक्ष का कोई आधार न होने से व्याप्ति की स्थापना भी नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए जब हम अग्नि और धुँए को रसोईघर में एक साथ देखते हैं तभी पर्वत पर धुंए को देखकर अग्नि का

१. आणव के कारण आत्मा में उत्पन्न गुण सुख, दुःख, राग, द्वेष मोह आदि हैं।

अनुमान करते हैं । किन्तु इस प्रकार का कोई सम्बन्ध आणव के सन्दर्भ में प्रत्यक्ष नहीं होता । अतः अनुमान के आधार पर आणव का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता । शब्द प्रमाण द्वारा आणव का अस्तित्व सिद्ध होता है, किन्तु इसे तर्क (reasoning) द्वारा समर्थित अवश्य होना चाहिए । इस प्रक्रिया में शैव-सिद्धान्ती शब्द प्रमाण को ही आधार बना कर अनुमान करते हैं । उनके अनुसार चूँकि आत्मा नित्य और व्यापक है, इसलिए उसके गुण भी नित्य और व्यापक होने चाहिए । यदि हम आत्मा के ज्ञान रूप को कभी व्यक्त पाते हैं और कभी अव्यक्त पाते हैं; यदि हम उसके ज्ञान को सीमित पाते हैं तो यह किसी बाह्य कारण से होना चाहिए और यह बाह्य कारण ही आणव है ।[1] दूसरे अज्ञान को आत्मा का स्वरूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तब मुक्ति की अवस्था में आत्मा की सर्वज्ञता स्थापित नहीं की जा सकती । अतः अज्ञान को आत्मा का स्वभाव न मानने से अज्ञान का कोई बाह्य कारण अवश्य होना चाहिए । इस कारण को ही शैव-सिद्धान्ती आणव कहते हैं ।

आणव से उत्पन्न अज्ञान को ही शैव-सिद्धान्ती बन्धन का कारण कहते हैं । अज्ञान बन्धन का कारण है तथा अज्ञान का कारण आणव है । अतः आणव ही बन्धन का मूल कारण है । अज्ञान को ही बन्धन के कारण के रूप में सामान्यतः सभी भारतीय दर्शनों में माना गया है । अद्वैत-वेदान्त के अनुसार अज्ञान ही बन्धन का कारण है । काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार शिव अपनी लीला के लिए ही बन्धन में पड़ता है, किन्तु अन्ततः वहाँ भी अज्ञान को ही बन्धन का कारण माना गया है । क्योंकि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार शिव जब तक अपनी लीला को लीला के रूप में जानता है तब तक वह बन्धन में नहीं है, किन्तु जब वह इस तथ्य को भूल जाता है अथवा जब उसे इसका ज्ञान नहीं रह जाता, वह बन्धन में पड़ जाता है । अज्ञान को बन्धन के कारण के रूप में तो सभी दर्शन मानते हैं किन्तु अज्ञान के स्वरूप को लेकर अद्वैत-वेदान्त, काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त में मतभेद है ।

अद्वैत-वेदान्त में अज्ञान को ज्ञान का विरोधी अथवा ज्ञान का सर्वथा अभाव माना गया है । काश्मीर शैव दर्शन में अज्ञान को अपूर्ण ज्ञान कहा गया है । काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि चेतन सत्ता में ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं माना जा सकता । ज्ञान का सर्वथा अभाव केवल जड़ तथा अचेतन पदार्थों में ही माना जा सकता है, जैसे पत्थर, मेज, कुर्सी आदि । इसलिए काश्मीर शैव दार्शनिक अज्ञान को अपूर्ण ज्ञान के अर्थ में लेते हैं । शैव-सिद्धान्ती भी अज्ञान को ज्ञान के विरोधी अथवा ज्ञान के सर्वथा अभाव के अर्थ में नहीं लेते जो अन्धकार और प्रकाश के समान परस्पर विरुद्ध है । शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि अज्ञान ज्ञान का विरोधी है तो ज्ञान उत्पन्न ही नहीं

१. शिवनेरि प्रकाशन्, ४.

हो सकता । इस प्रकार मोक्ष में सर्वज्ञता की कल्पना नहीं की जा सकती । यदि अज्ञान को ज्ञान का सर्वथा अभाव माना जाय तो अभाव अथवा असत् से भी ज्ञान की उत्पत्ति होना नहीं माना जा सकता क्योंकि असत् से कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता । इसलिए शैव-सिद्धान्ती आणव से उत्पन्न अज्ञान को आवरण स्वरूप मानते हैं । उनके अनुसार अज्ञान ज्ञान को आच्छादित करता है । इस आवरण के हटने से ज्ञान स्वतः प्रकाशित हो जाता है ।

आणव मल आत्मा की इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्तियों को सीमित करता है तथा माया मल भी बन्धनकारी तत्त्व माना गया है । अब प्रश्न उठता है कि यदि माया मल भी बन्धन का कारण है तो आणव मल को मानने की क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती आणव मल और माया मल में भेद दिखाते हैं । आणव मल आत्मा को व्याप्त कर उसकी शक्तियों को आच्छादित कर देता है । माया मल आत्मा से अलग रह कर आत्मा की इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्तियों को आंशिक रूप से प्रकाशित करता है । शैव-सिद्धान्ती यह मानते हैं कि आणव मल के आवरण के कारण आत्मा विना साधनों के न तो कुछ कर सकता है और न ही कुछ जान सकता है । माया के तत्त्वों से निर्मित साधनों के प्रयोग से आत्मा ज्ञान भी प्राप्त कर सकता है और कर्म भी कर सकता है ।

शैव-सिद्धान्ती आणव के आवरण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आणव आत्मा की शक्तियों को उस प्रकार आच्छादित नहीं करता है, जिस प्रकार बादल सूर्य को आच्छादित करता है । वरन् यह आत्मा को व्याप्त कर आत्मा के साथ अभिन्न सम्बन्ध स्थापित कर लेता है । इस अभिन्न सम्बन्ध के कारण आणव मल आत्मा के गुण रूप में भासित होता है, यद्यपि यह आत्मा का गुण नहीं है । आणव अथवा अज्ञान को आत्मा का गुण नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में आत्मा जड़ पदार्थ हो जायेगा । नेत्र में कोई दोष उत्पन्न हो जाय तो उसे नेत्र का गुण नहीं कहा जा सकता । वैसे ही अज्ञान आणव का गुण है तथा आणव अचेतन है । अतः आणव अथवा अज्ञान आत्मा का गुण नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा चेतन है ।

आणव मल को आत्मा के समान ही नित्य कहा गया है और यह भी कहा गया है कि अनादि काल से ही यह आत्मा को आबद्ध किये है । अब प्रश्न उठता है कि आणव से मुक्ति किस प्रकार संभव है ? अनादि और नित्य होने से आणव का सर्वथा विनाश मानने में तार्किक कठिनाई हो सकती है, क्योंकि विनाश उसी का होता है जो उत्पन्न हो । शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि शिवज्ञान प्राप्त होने पर शिव ज्ञान की उपस्थिति मात्र से आणव का मल दूर हो जाता है, जैसे सूर्य के प्रकाशित होते ही अन्धेरा दूर हो जाता है । आणव के सर्वथा विनाश के विषय में शैव-सिद्धान्ती दार्श-

निकों में मतभेद है। कुछ दार्शनिक तो यह मानते हैं कि मुक्ति की अवस्था में आणव का सर्वथा विनाश हो जाता है, किन्तु कुछ दार्शनिक यह मानते हैं कि मुक्ति की अवस्था में भी आणव का अस्तित्व रहता है, किन्तु उसका बन्धनकारी प्रभाव समाप्त हो जाता है, अथवा दूसरे शब्दों में, आणव निष्क्रिय हो जाता है।

माया मल

आणव मल के प्रभाव से आत्मा को मुक्त करने के लिए शिव आत्माओं पर अनुग्रह कर के उन्हें माया मल से युक्त करता है। माया मल भी आणव मल के समान नित्य है। माया जगत् का उपादान कारण है। माया को उत्तेजित कर शिव माया से आत्मा को कर्म करने के लिए साधन प्रदान करता है। माया से तनु, करण, भुवन और भोग उत्पन्न होते हैं, जिनका प्रयोग आत्मा करता है। माया से ही सृष्टि के छत्तीस तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। माया द्वारा प्रदत्त साधनों से आत्मा अपनी मुक्ति के लिए प्रयास करता है, इसलिए माया आत्मा के लिए सहायक है। किन्तु माया को भी मल कहा जाता है क्योंकि माया भी आत्मा को बन्धन में ही डालती है। माया द्वारा प्रदत्त शरीर को धारण कर आत्मा शरीर के बन्धन में पड़ता है तथा माया प्रदत्त साधनों के प्रयोग से कर्म करने से आत्मा कर्म मल से भी लिप्त होता है। फलतः उसे आणव मल से मुक्ति प्राप्त करने के साथ-साथ माया मल और कर्म मल से भी मुक्ति प्राप्त करना होता है।

शैव-सिद्धान्ती मानते हैं कि माया मल आत्मा की इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्तियों को आंशिक रूप से क्रियाशील करता है। आत्मा में ये शक्तियाँ स्वभावतः हैं, किन्तु आणव मल के प्रभाव के कारण आत्मा इनका प्रयोग नहीं कर सकता। जिस प्रकार नेत्र में देखने की क्षमता है, किन्तु नेत्र अन्धकार के कारण देख नहीं सकता, प्रकाश साधन रूप में नेत्र के लिए आवश्यक है। उसी प्रकार आत्मा में सारी क्षमताओं के होते हुए भी आणव के प्रभाव के कारण साधन रूप माया मल आत्मा के लिए आवश्यक है। माया द्वारा प्रदत्त आत्मा के पञ्चकंचुक (कला आदि) आत्मा की सीमित ज्ञातृता, सीमित कर्तृता को उत्तेजित कर आत्मा में विषयों के प्रति भोग अथवा कामना की भावना उत्पन्न करते हैं। विषयों के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो जाने से आत्मा कर्म में प्रवृत्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त माया[1] विभ्रम, मोह आदि की भी जननी है।

कर्म मल

शरीर आदि मायीय साधनों से युक्त आत्मा द्वारा किये गये कर्मों को कर्म मल कहा जाता है। कर्म को मल इसलिए कहा जाता है, क्योंकि कर्म भी बन्धनकारी

१. माया के विषय में विस्तृत विवेचना 'सृष्टि-क्रम' के सन्दर्भ में की जा चुकी है।

तत्त्व है। कर्म को बन्धनकारी तत्त्व इस अर्थ में कहा जाता है कि आत्मा कर्म करने के बाद कर्म के फल को भोगने के लिए बाध्य हो जाता है। कर्म कायिक, वाचिक तथा मानसिक होते हैं। शैव-सिद्धान्ती भी प्रारब्ध, संचित और संचीयमान कर्मों को मानते हैं। प्रारब्ध कर्मों के अनुसार शरीर आदि अथवा जन्म ग्रहण कर व्यक्ति कर्म करता है तथा वर्तमान जन्म में पूर्व के कर्मों के फल भोगता हुआ अगले जन्म के लिए भी कर्मों का संचय करता है। कर्म ही सुख–दुःख के कारण हैं। ऐसा माना गया है कि अच्छे कर्मों द्वारा सुख की उत्पत्ति होती है तथा बुरे कर्मों द्वारा दुःख अथवा कष्ट की उत्पत्ति होती है। अच्छे-बुरे कर्मों की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि जो कर्म दूसरों को पीड़ा न पहुँचाए अथवा हानि न पहुँचाए अपितु उनके कल्याण के लिए हों, वे कर्म अच्छे कहे जाते हैं, तथा जो कर्म दूसरों को हानि पहुँचाते हैं वे कर्म बुरे कहे जाते हैं। अच्छे–बुरे कर्मों को करते हुए आत्मा सुख–दुःख की अनुभूति करता है। अपने अच्छे–बुरे कर्मों के कारण आत्मा 'कर्मों के नियम' के सम्बन्ध में भी बँध जाता है। इस प्रकार यद्यपि कर्म आणव से मुक्ति प्राप्त करने के लिए आत्मा के सहायक हैं, किन्तु आत्मा के लिए ये भी बन्धन का ही कार्य करते हैं।

चार्वाक दार्शनिक प्रारब्ध कर्मों अथवा पूर्वजन्म के कर्मों में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार सुख–दुःख अच्छे–बुरे कर्मों के कारण नहीं है, वरन् ये व्यक्ति के लिए स्वाभाविक हैं। शैव-सिद्धान्ती चार्वाक मत की आलोचना करते हुये कहते हैं कि यह कैसे हो सकता है कि दो परस्पर विरोधी बातें एक ही वस्तु के स्वभाव में हों। इसलिए सुख–दुःख का कोई कारण होना चाहिए। वह कारण अच्छे–बुरे कर्म हैं। चार्वाक दार्शनिक पूर्वजन्म के कर्मों का निषेध करते हुए सुख–दुःख की व्याख्या वर्तमान जीवन से ही करते हैं। उनके अनुसार जो व्यक्ति वर्तमान जीवन में प्रयास करके धन, सम्पत्ति अर्जित करता, वह सुखी रहता है तथा जो व्यक्ति आलस्य में पड़कर कुछ नहीं करता, वह निर्धनता के कारण दुःखी रहता है। शैव-सिद्धान्ती चार्वाक मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि वर्तमान जीवन के प्रयास अथवा आलस्य को भी सुख–दुःख का कारण माना जाता है, किन्तु जो सुख–दुःख जन्म से निर्धारित होता है, उसकी व्याख्या वर्तमान कर्मों से ही केवल नहीं की जा सकती। कुछ व्यक्ति जन्म से ही धनी हैं अथवा सुखी हैं और कुछ व्यक्ति जन्म से ही गरीब अथवा दुःखी हैं। इस विभेद की व्याख्या बिना पूर्वजन्म के कर्मों को माने नहीं की जा सकती।

कर्म शारीरिक क्रिया पर निर्भर है, अर्थात् शरीर द्वारा ही कर्म होता है। शैव-सिद्धान्ती कहते है कि वर्तमान जन्म में प्राप्त शरीर पूर्व-जन्म के कर्मों के कारण है। कहने का तात्पर्य यह है कि कर्म शरीर के कारण है तथा शरीर कर्म के कारण है। अब प्रश्न उठता है कि इसके अनुसार पहले शरीर हुआ कि पहले कर्म। यह प्रश्न

अत्यन्त जटिल है क्योंकि न तो शरीर को ही पहले माना जा सकता है और न ही कर्म को। बिना कर्म के शरीर प्राप्त नहीं होगा तथा बिना शरीर के कर्म ही नहीं होगा। शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि जिस प्रकार बीज-वृक्ष में कौन पहले है, यह निर्धारण नहीं हो सकता, उसी प्रकार शरीर और कर्म में कौन पहले है, यह निर्धारण नहीं हो सकता।

कर्म मल के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि यदि कर्म भी आत्मा को बन्धन में ही डालता है अथवा कर्मों के परिणाम स्वरूप ही आत्मा सुख-दुःख अनुभव करता है तो ईश्वर क्यों उसे शरीर आदि साधन प्रदान कर कर्म में प्रवृत्त करता है ? शैव-सिद्धान्ती इसके उत्तर में कहते हैं कि कर्मों द्वारा अनुभव प्राप्त करना बन्धन से मुक्ति पाने के लिए आवश्यक है। आत्मा सुख-दुःख को अपने अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार अनुभव करता हुआ पाश ज्ञान तथा पशु ज्ञान से होता हुआ शिव ज्ञान की ओर अग्रसर होता है। सुख-दुःख के अनुभवों से वह जगत् की वास्तविकता को जानता है। वह जान जाता है कि जगत् उसके लिए साधन मात्र है, अभीष्ट नहीं। फलतः वह शिव ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपने को तैयार करता है। शिव ज्ञान के लिए मलपरिपाक की प्रक्रिया आवश्यक है। मलपरिपाक कर्मों द्वारा ही हो सकता है।

आणव, माया और कर्म मल के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि तीनों ही मल एक दूसरे से परस्पर सम्बन्धित हैं। तीनों ही मल आत्मा के साथ अनादि काल से हैं। इनमें से कौन पहले से है अथवा कब से है, यह नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार धान के बीज में छिलका, भूसी और अंकुरण ये तीनों कब से है, यह नहीं कहा जा सकता वैसे ही आत्मा के साथ ये मल कब से हैं, यह निर्धारित नहीं किया जा सकता। एक दृष्टि से आणव, माया और कर्म का क्रम निर्धारण किया जा सकता है, जैसे आणव मूल कारण है क्योंकि यह अज्ञान उत्पन्न करता है, अज्ञान इच्छा तथा वासनाओं को उत्पन्न करता है, वासनायें शरीर-धारण का कारण हैं तथा शरीर कर्म के कारण हैं। किन्तु प्रलयावस्था में जहाँ शरीर का अभाव रहता है, वहाँ भी माया मल और कर्म मल शक्ति रूप अथवा बीज रूप में रहते हैं। यदि माया मल और कर्म मल का अभाव प्रलयावस्था में माना जाय तो पुनः सृष्टि में शरीर अथवा जन्म आदि का निर्धारण नहीं हो सकता। अतः यही कहा जा सकता है कि ये तीनों मल आत्मा को अनादि काल से आबद्ध किये हैं। मलपरिपाक की प्रक्रिया के बाद इन तीनों मलों से मुक्ति पाकर आत्मा मोक्ष प्राप्त करता है।

आत्मा के साथ इन मलों के संयोग के आधार पर आत्मा के तीन वर्ग बताये गये हैं। केवल आणव मल से युक्त आत्मा विज्ञानाकल कहे जाते हैं। आणव और कर्म मल से युक्त आत्मा प्रलयाकल कहे जाते हैं तथा आणव, कर्म और माया मल से युक्त आत्मा सकल कहे जाते हैं।

मोक्ष

आत्मा द्वारा शुद्धावस्था की प्राप्ति ही शैव-सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष है। मलों के प्रभाव से आबद्ध होने के कारण आत्मा स्वयं मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता। मोक्ष प्राप्ति के लिए आत्मा शिव पर आश्रित है। शिव ही अपने अनुग्रह शक्ति द्वारा आत्माओं को मोक्ष प्राप्त कराता है। मोक्ष अन्ततः शिव के अनुग्रह पर ही निर्भर है, किन्तु शैव-सिद्धान्ती यह मानते हैं कि आत्मा मोक्ष के लिए प्रयास कर सकता है। आत्मा अपने प्रयासों द्वारा स्वयं को शिव का अनुग्रह प्राप्त करने के लायक बनाता है। इस प्रयास के क्रम में सर्वप्रथम मलपरिपाक होना आवश्यक है। शैव-सिद्धान्ती यह मानते है कि मलों से छुटकारा पाने के लिए मलों का परिपाक होना आवश्यक है, जो आत्मा अपने कर्मों द्वारा करता है। मलपरिपाक की प्रक्रिया पूरी हो जाने के पश्चात् शिव गुरु रूप में प्रकट होता है तथा आत्माओं को दीक्षा देता है। गुरु से दीक्षा अर्थात् आध्यात्मिकज्ञान प्राप्त करके आत्मा शिव ज्ञान की ओर अग्रसर होता है। मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप में बताये गये मार्गों का अनुसरण करते हुये आत्मा 'शक्तिनिपात्' की अपेक्षा करता हैं। अन्ततः शिव अपनी अनुग्रह शक्ति (अरुल शक्ति) द्वारा आत्माओं को शिव ज्ञान प्राप्त करा कर मुक्त करता है। इस प्रकार मोक्ष अन्ततः शिव के अनुग्रह पर ही निर्भर है, किन्तु अनुग्रह प्राप्त करने की आवश्यक शर्त मलपरिपाक है तथा तदुपरान्त शक्तिपात् के लिए शिव-भक्ति आवश्यक है। अतः शैव-सिद्धान्त में प्रतिपादित मोक्ष के स्वरूप को समझने के लिए मलपरिपाक, दीक्षा, शक्तिपात, मोक्ष प्राप्ति के साधन आदि पर विचार कर लेना आवश्यक है।

मलपरिपाक

माया द्वारा प्रदत्त शरीर आदि साधनों से जीवात्मा कर्म करता है। कर्म करने से कर्मों के फल भोगने के लिए वह बाध्य हो जाता है। फलतः मुक्ति प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि आत्मा कर्म बन्धन से भी छुटकारा प्राप्त करे। कर्म-बन्धन से छुटकारा पाने के लिए आवश्यक है कि या तो आत्मा सभी कर्मों के फल भोग ले अथवा ऐसी स्थिति आ जाय कि उसके कर्म फलों का उत्पादन ही न करें। सभी कर्मों का फल भोग लेना असंभव है क्योंकि कर्मों का फल भोग करते समय जीवात्मा नवीन कर्म करेगा ही तथा उन नवीन कर्मों के फल भी उसे भोगने होंगे। इस प्रकार इस

शृंखला का अन्त नहीं होगा। अतः यही आवश्यक है कि आत्मा नवीन कर्म फलों का उत्पादन न करें। किन्तु यह कैसे संभव है? कर्म नष्ट नहीं होते तथा कर्म फलों का उत्पादन अवश्य करेंगे, क्योंकि यह कर्मों का नियम ही है। इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कर्मों के मूल कारण पर विचार करते हैं। आणव मल के प्रभाव के कारण आत्मा में अज्ञान उत्पन्न होता है। अज्ञान के कारण विषयों के प्रति आसक्ति अथवा वासनाओं की उत्पत्ति होती है। वासनायें ही शरीर-धारण तथा कर्म के कारण हैं। अतः यदि वासनाओं पर अधिकार कर लिया जाय तो नवीन कर्म वासनाजनित न होने से फलों का उत्पादन नहीं करेंगे। फलतः कर्म-बन्धन अथवा कर्म मल से छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए मलों का परिपाक होना आवश्यक है, जो आत्मा अपने जागतिक कर्मों के अनुभव द्वारा करता है।

जीवात्मा अपने कर्मों से उत्पन्न सुख–दुःख को अनुभव करता है। दुःख की अनुभूति द्वारा वह बुरे कर्मों से विरक्त होता है। सुख की अनुभूति द्वारा वह अच्छे कर्मों में लगता है। सुख–दुःख के अनुभव के इस क्रम में आत्मा जगत् की वास्तविकता को जान लेता है। वह समझ जाता है कि जगत् उसके लिए अभीष्ट नहीं है। जागतिक पदार्थ मात्र भोग के साधन हैं। फलतः उसका मन जगत् से असन्तुष्ट हो जाता है। जगत् से असन्तुष्ट जीवात्मा अपनी सन्तुष्टि के लिए आध्यात्मिक ज्ञान की ओर अग्रसर होता है। जगत् की वास्तविकता को पूर्णतया जान लेने पर जीवात्माओं की वासनायें शेष नहीं रह जातीं अथवा दूसरे शब्दों में, वासनायें तृप्त हो चुकी रहती हैं। फलतः जीवात्मा के कर्म वासनाओं से प्रेरित न होने के कारण फल का उत्पादन नहीं करते अथवा दूसरों शब्दों में, जीवात्मा को कर्म-बन्धन में नहीं डालते।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि बुरे कर्मों को तो जीवात्मा दुःख का जनक समझ कर छोड़ सकता है, अथवा बुरे कर्मों के फल भोगने से इस प्रकार बच सकता है, किन्तु जीवात्मा अच्छे कर्मों को सुख का जनक समझ कर करेगा ही और यदि अच्छे कर्म भी करेगा तो उसका फल उसे अवश्य भोगना होगा। इस प्रकार कर्म बन्धन से उसे छुटकारा नहीं मिल सकता? अच्छे कर्मों के फलोपभोग से भी बचने के लिए शैव-सिद्धान्ती मानते हैं कि कर्मों का उदात्तीकरण (sublimation) आवश्यक है। जीवात्मा बुरे कर्मों को बुरा समझ कर छोड़ देता है, जिससे उनके फलोपभोग से बच जाता है। अच्छे कर्मों को वह ईश्वर के कार्य समझ कर अथवा ईश्वर को समर्पित कर के करता है। ईश्वर को समर्पित कर देने से वह कर्मों के फलोपभोग से बच जाता है अथवा दूसरे शब्दों में, इस प्रकार जीवात्मा के नवीन कर्म फलों का उत्पादन नहीं करते।

मलपरिपाक शैव-सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, जिसके अनुसार कर्मों द्वारा

ही कर्म-बन्धन से छुटकारा प्राप्त किया जाता है। कर्म को बन्धन स्वरूप माना गया है किन्तु केवल द्वितीय अर्थ में। कर्म बन्धन का मूल कारण नहीं है। बन्धन का मूल कारण आणव अथवा अज्ञान है, जिससे वासनाओं की उत्पत्ति होती है। इस मूल बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए कर्म सहायक अथवा साधन हैं। इसलिए कर्म को बन्धन का कारण नहीं कहा जा सकता। कर्म भी एक प्रकार का मल है, क्योंकि इसके द्वारा जीवात्मा फलोपभोग के लिए बाध्य हो जाता है। इसलिए कर्म को केवल द्वितीय अर्थ में बन्धन स्वरूप कहा जा सकता है। कर्मों से प्राप्त अनुभवों द्वारा ही वासनाओं पर अधिकार प्राप्त किया जाता है। इसलिए शैव-सिद्धान्ती कर्म का निषेध नहीं करते, वरन् कर्म के उदात्तीकरण (sublimation) अथवा समर्पण की बात करते हैं।

वासनाओं पर अधिकार प्राप्त करने के लिए ही मलपरिपाक की प्रक्रिया को आवश्यक माना गया है। वासनाओं पर अधिकार प्राप्त को कुछ दर्शनों में वासनाओं के निषेध अथवा विनाश के अर्थ में लिया गया है। किन्तु शैव-सिद्धान्त में इसे तृप्ति के अर्थ में लिया गया है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार कर्मों द्वारा प्राप्त अनुभवों से वासनाओं की तीव्रता स्वतः समाप्त हो जाती है तथा जीवात्मा आध्यात्मिक ज्ञान की ओर अग्रसर हो जाता है। इसीलिए शैव-सिद्धान्त में आध्यात्मिक साधनों के लिए गृहस्थ आश्रम के आदर्शों को महत्त्वपूर्ण माना गया है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार सांसारिक कर्मों के अनुभवों द्वारा ही मलपरिपाक की प्रक्रिया पूरी हो सकती है। अतः शैव-सिद्धान्त में संन्यास पद्धति अथवा संन्यास मार्ग को प्रोत्साहन नहीं दिया गया। फलतः शैव-सिद्धान्त में जगत् के निषेध की बात नहीं गई।

संन्यास-मार्ग को आवश्यक मानने वाले दार्शनिक जगत का तथा जागतिक कर्मों का निषेध अथवा त्याग करने का निर्देश करते हैं। उनके अनुसार जगत् का त्याग कर, इस प्रकार वासनाओं के बीज को भून कर ही वासनाओं पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। आगमिक परंपरा के दार्शनिक इस तर्क को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार बीज को भून कर उसकी अंकुरण शक्ति को नष्ट किया जा सकता है, किन्तु चेतन प्रवृत्ति को अथवा मन की वृत्तियों को इस प्रकार दमित कर उन पर विजय नहीं प्राप्त किया जा सकता। मन की चंचल वृत्तियों का दमन सर्वदा के लिए नहीं हो सकता। कुछ समय के लिए ही मन की वृत्तियों को दबा कर रखा जा सकता है, किन्तु कुछ समय के पश्चात् उनका पुनः चंचल हो जाना स्वाभाविक है अथवा दूसरे शब्दों में, इसकी संभावना अवश्य हो सकती है। आगमिक परंपरा के दार्शनिक यह मानते हैं कि वासनायें स्वाभाविक रूप से तृप्त होने के बाद स्वयं निष्क्रिय हो जाती हैं। जिस प्रकार बीज स्वतः वृक्ष के रूप में पल्लवित होने के बाद नष्ट हो जाता है। अतः

स्वाभाविक रूप से वासनाओं की तुष्टि के बाद ही उन पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए शैव-सिद्धान्ती मलपरिपाक की प्रक्रिया को कर्मों की परिपक्वता (maturation of deeds) मानते हैं।

इस सन्दर्भ में यह स्पष्ट कर देना उचित है कि मलपरिपाक की प्रक्रिया भी स्वयं जीवात्मा अपने से ही संपादित नहीं कर लेता, वरन् इस प्रक्रिया में भी शिव की अनुग्रह शक्ति का योगदान है। शैव-सिद्धान्ती यह मानते हैं कि शिव ही आत्मा को कर्म करने के लिए शरीर आदि साधनों से युक्त करता है तथा अपनी अनुग्रह शक्ति द्वारा आत्माओं को सदैव व्याप्त किये रहता है। अतः शिव समय-समय पर आत्माओं को प्रेरित करता रहता है। शिव ही आत्माओं को बुरे कर्मों के परिणामस्वरूप दण्ड के रूप में दुःख प्रदान करता है तथा अच्छे कर्मों के परिणामस्वरूप पुरस्कार के रूप में सुख प्रदान करता है। कर्म-नियम का नियन्ता ईश्वर ही है। अतः ईश्वर आत्माओं द्वारा जागतिक अनुभव प्राप्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए मलपरिपाक की प्रक्रिया में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

गुरू

वैसे तो शैव-सिद्धान्त के अनुसार आत्माओं के उद्धार के लिए ही शिव सृष्टि, स्थिति (पालन), संहार, निग्रह तथा अनुग्रह करता है तथा इस प्रकार मोक्ष में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है, किन्तु शिव की सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका गुरू रूप की है, जिसे शिव गुरू रूप में प्रकट होकर निभाता है। मलपरिपाक की प्रक्रिया में रत आत्माओं को आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान करने के लिए शिव गुरू रूप में प्रकट होता है। आत्मा अपने वास्तविक रूप में सत्, चित, आनन्द तथा सर्वज्ञ, शक्तिमान और व्यापक हैं, किन्तु आणव मल के आच्छादन के कारण वे इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं। अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान आत्मा स्वयं नहीं कर सकते क्योंकि उनकी शक्तियाँ सीमित है। अतः स्वरूप ज्ञान के लिए तथा आध्यात्मिक ज्ञान अथवा शिवज्ञान की ओर अग्रसर होने के लिए निर्देशक के रूप में गुरू की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। शिव इस तथ्य को जानता है कि आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में सर्वज्ञ, शक्तिमान् तथा व्यापक है। शिव 'प्रेम स्वरूप' अथवा 'अनुग्रह रूप' है। वह गुरू रूप में प्रकट होकर आत्माओं को स्वरूप ज्ञान कराता है।

शैव-सिद्धान्त के अनुसार गुरू रूप में शिव[1] ही प्रकट हो सकता है क्योंकि शिव

१. गुरु रूप में शिव को मानने की भारतीय संस्कृति में परंपरा सी है। पाणिनि के व्याकरण सूत्रों का प्रकाशन शिव द्वारा ही हुआ माना जाता है। इसके अतिरिक्त संगीत, नृत्य, कला आदि के जनक अथवा गुरु रूप में शिव ही माने जाते हैं।

ही सर्वज्ञ है। सभी आत्मा अनादि काल से आणव के बन्धन से ग्रस्त है। फलतः सर्वज्ञ गुरू के अभाव में आत्मा स्वयं ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। बन्धन के कारण आत्मा का सामान्य आनुभविक ज्ञान सीमित है। सामान्य आनुभविक ज्ञान द्वारा सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता। अतः सामान्य स्थिति में उच्चतर ज्ञान (revelation) संभव नहीं है। उच्चतर ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरू की आवश्यकता अपरिहार्य है जो उच्चतर ज्ञान प्राप्त करने के मार्गों का निर्देशन करता है। यह निर्देशन शिव ही कर सकता है, क्योंकि वही एक मात्र सर्वज्ञ है।

गुरू रूप में शिव के प्रकट होने पर एक आक्षेप यह हो सकता है कि शैव-सिद्धान्त में शिव का अवतार होना नहीं माना गया है। शिव निर्गुण तथा निराकार है। शिव मायोत्पादित रूप धारण कर माया के तत्त्वों द्वारा सीमित नहीं हो सकता। अतः प्रश्न उठता है कि गुरू रूप में शिव का प्रकट होना किस प्रकार संभव है। इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि शिव जो भी रूप धारण करता है, वह मायोत्पादित रूप नहीं होते। शिव अपनी शक्ति द्वारा कोई भी रूप धारण कर सकता है। शक्ति शुद्ध है तथा शिव का स्वरूप ही है। शक्ति से निर्मित रूप में किसी प्रकार के मल का अथवा सीमितता का प्रवेश नहीं होता।

गुरु रूप में प्रकट होकर शिक्षा देने के लिए अथवा अनुग्रह प्रदान करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि शिव मानव रूप में ही प्रकट हो। शैव-सिद्धान्ती यह मानते हैं कि आत्मा के विभिन्न स्तरों पर शिव विभिन्न प्रकार से अनुग्रह प्रदान करता है।[१] केवल आत्मा के सकलावस्था में शिव गुरु के मानवीय रूप में प्रकट होता है। विज्ञानाकल और प्रलयाकल वर्ग के आत्मा को शिव बिना कोई रूप धारण किये ही अनुग्रह प्रदान करता है। विज्ञानाकल वर्ग के आत्माओं में अपने अनुग्रह शक्ति की अन्तर्यामिता द्वारा गुरु अनुग्रह प्रदान करता है। प्रलयाकल वर्ग के आत्माओं को अनुग्रह प्रदान करने के लिए गुरु शक्ति से निर्मित रूप में प्रकट होता है। सकल वर्ग के आत्माओं के लिए ही शिव गुरु के मानवीय रूप में प्रकट होता है, किन्तु यह मानवीय रूप भी शक्ति निर्मित रूप ही होता है; मायोत्पादित रूप नहीं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विज्ञानाकल और प्रलयाकल वर्ग के आत्माओं को शिव

१. शैव-सिद्धान्त के साहित्य में प्राप्त उल्लेखों के अनुसार सन्त ज्ञान सम्बन्दर को शिक्षा देने के लिए शिव उमा के साथ बैल पर सवार होकर आये थे। सन्त मनिक्कवासगर को मानवीय रूप में प्रकट हो कर 'कुरुन्थै' वृक्ष के नीचे शिक्षा दिया। सन्त सुन्दर मूर्ति के सामने शिव विभिन्न अवसरों पर मानवीय रूप में प्रकट हुए।

अपना निराधार रूप प्रकट करता है तथा सकल वर्ग के आत्माओं को शिव अपना साधार रूप प्रकट करता है।

शिव केवल उन्हीं आत्माओं के सामने गुरु रूप में प्रकट होता है जो अनुग्रह प्राप्त करने के लिए तैयार होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जो आत्मा मलपरिपाक की प्रक्रिया द्वारा स्वयं को शिव ज्ञान प्राप्ति के लायक बना लिए रहते हैं। अपरिपक्व आत्मा के सामने शिव गुरु रूप में प्रकट नहीं होता।[1] परिपक्व आत्माओं के सामने गुरु रूप में प्रकट होकर शिव किस प्रकार उन्हें स्वरूप ज्ञान कराता है, इस बात को एक दृष्टान्त के माध्यम से शिवज्ञान सिद्धियार में समझाया गया है।[2] इस दृष्टान्त के अनुसार किसी राजा का पुत्र बचपन में ही खो गया था जो बन्जारों के हाथ लग गया। बन्जारों के साथ रहने के कारण वह अपनी वास्तविकता को भूल गया। वह बन्जारों की ही वेश-भूषा, रहन-सहन तथा बोल-चाल का आदी हो गया। कालान्तर में राजा ने उसे खोज लिया, किन्तु वह अपने पिता को पहचान नहीं सका। जब राजा ने उसे बन्जारों से अलग करके यह समझाया कि वह बन्जारा नहीं है, बरन् राज-पुत्र है तथा विभिन्न प्रकार के ऐश्वर्य का उत्तराधिकारी है तो उसे अपनी वास्तविकता का ज्ञान हो गया। उसी प्रकार अनादिकाल से बन्धनग्रस्त होने के कारण आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता। शिव गुरु रूप में प्रकट होकर उसे वास्तविकता का ज्ञान कराता है।

दीक्षा

शिव द्वारा गुरु रूप में प्रकट होकर शिक्षा द्वारा अथवा ज्ञान द्वारा आत्मा के मल को दूर करने की प्रक्रिया को शैव-सिद्धान्त में दीक्षा कहा गया है। विज्ञानाकल और प्रलयाकल वर्ग के आत्माओं को शिव बिना कोई मानवीय रूप धारण किये ही उनके ज्ञान रूप (अथवा स्वरूप) में प्रवेश कर अनुग्रह प्रदान करता है। इन वर्गों के आत्माओं को प्रदान किये जाने वाला ज्ञान निराधार शिव दीक्षा कहा जाता है। सकल वर्ग के आत्माओं को शिव गुरु के मानवीय रूप से प्रकट होकर अनुग्रह प्रदान करता है (अथवा शिक्षा देता है), यह साधार दीक्षा कहा जाता है। शैव-सिद्धान्त में विभिन्न प्रकार के आत्माओं के लिए विभिन्न प्रकार की दीक्षाओं का वर्णन किया गया है जो मलपरिपाक के विभिन्न स्तर के अनुसार है। ये दीक्षायें हैं—नयन, स्पर्श, वाचक, मानस, शास्त्र, योग तथा हौत्रि।

नयन दीक्षा के अनुसार गुरु देखने मात्र से ही आत्मा के मल को दूर करने की

1. Fruit of Devine Grace—umapati : V. 4.
२. शिवज्ञान सिद्धियार VII—२५३

प्रक्रिया सम्पादित करता है। नयन दीक्षा के तीन प्रकार—शृङ्गार, निग्रह तथा अनुग्रह-माने गये हैं। शृङ्गार दीक्षा के अनुसार गुरु दृष्टिपात द्वारा ही आत्मा के अज्ञान को दूर करता है। निग्रहावलोकन द्वारा गुरु आत्मा के पाश के साथ तादात्म्य-निरूपण को ज्ञान के साथ तादात्म्य निरूपण में रूपान्तरित करके आत्मा के मल को दूर करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा पाश या माया अथवा मायीय तत्त्वों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित किये रहता है। दूसरे शब्दों में, आत्मा अज्ञान के कारण शरीर आदि को ही अपना वास्तविक रूप समझे रहता है। गुरु आत्मा का तादात्म्य निरूपण उसके ज्ञान रूप के साथ करता है। अर्थात् उसे यह आभास कराता है कि वह ज्ञान रूप (आत्मा रूप) है, न कि शरीर आदि। अनुग्रहावलोकन द्वारा गुरु पाश ज्ञान से असन्तुष्ट आत्माओं को अपने अनुग्रह द्वारा सन्तुष्टि प्रदान करता है। आत्मा जगत् की वास्तविकता को जानकर जगत् से असन्तुष्ट हो जाता है। गुरु का साक्षात्कार होने पर गुरु की कृपा दृष्टि से अभिभूत आत्मा को सन्तुष्टि प्राप्त होती है।

आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप में लाने के लिए गुरु कुछ अनुष्ठान करता है। इस अनुष्ठान को स्पर्श दीक्षा कहा जाता है। अनुष्ठान की क्रिया हो जाने पर गुरु जीवात्मा को (अथवा शिष्य को) पञ्चाक्षर का ज्ञान कराता है। इस पञ्चाक्षर ज्ञान को वाचक दीक्षा कहा जाता है।[1] शिष्य के मन को शिव-ज्ञान से भर देना मानस दीक्षा कहा जाता है। पति, पशु और पाश का स्वरूप ज्ञान तथा शिव और आत्मा के सम्बन्ध का ज्ञान शास्त्र दीक्षा कहा जाता है। निराधार शिव योग के अभ्यास की शिक्षा को योग दीक्षा कहते हैं। होत्रि दीक्षा दो प्रकार की होती है—ज्ञान होत्रि और क्रिया होत्रि। ज्ञान होत्रि दीक्षा द्वारा गुरु मानसिक रूप से शिष्य के शरीर में प्रवेश कर षड्ध्वाओं को शुद्ध करता है।[2] क्रिया होत्रि—सबीज और निर्बीज-दो प्रकार की है। निर्बीज दीक्षा उनके लिए है जिनके मल परिपक्व तो हो चुके हैं, किन्तु वे धार्मिक कृत्यों को नियमित रूप से नहीं कर सकते। निर्बीज दीक्षा बच्चों, युवकों तथा वृद्धजनों के लिए है।[3] जो लोग श्रुतियों के अनुशीलन द्वारा

---

१. वाचक दीक्षा शिष्य की जाति के अनुसार दी जाती है।

—शैव-सिद्धान्त : वी० ए० देवसेनापति, पृ० २३९.

२. शैव-सिद्धान्त : वी० ए० देवसेनापति, पृ० २४०

३. षडध्वाओं को शुद्ध करने का तात्पर्य है कि संचित कर्म जो षड्ध्वाओं में रहते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं, अथवा फलोत्पादन नहीं करते। षडध्वा है—मन्त्र, पद, वर्ण, भुवन, तत्त्व और कला।

धार्मिक कृत्यों को नियमित रूप से कर सकते हैं, उनके लिए सबीज दीक्षा का विधान है। इसे साधिकार दीक्षा भी कहा जाता है।

दीक्षा की प्रक्रिया को अध्वशोधन कहा गया है जिसके अनुसार गुरु ज्ञान द्वारा विभिन्न प्रकार से जीवात्माओं को शुद्ध करता है। दीक्षा को शैव-सिद्धान्त में बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि दीक्षा द्वारा ही अज्ञानी आत्मा ज्ञान प्राप्त कर मल से मुक्ति पा सकता है। इस प्रकार मुक्ति की प्रक्रिया में गुरु की विशेष भूमिका प्रतिपादित कर शैव-सिद्धान्ती गुरु को शिव रूप ही घोषित कर देते हैं।

शक्तिनिपात

दीक्षा आदि साधनों से मलपरिपाक की प्रक्रिया पूरी कर लेने पर शिव आत्माओं को अपनी अनुग्रह शक्ति द्वारा मुक्ति प्रदान करता है। आत्मा की मुक्ति के लिए किये गये शिव के इस कृत्य को शैव-सिद्धान्त में शक्तिनिपात कहा गया है। यद्यपि मलपरिपाक के बाद ही आत्मा को मुक्त करने के लिए शक्तिनिपात होता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शिव केवल इसी अवस्था में आत्माओं पर अनुग्रह करता है। इसके पूर्व भी शिव आत्माओं पर अनुग्रह करता है। शैव-सिद्धान्त में यह माना गया है कि शिव सृष्टि आदि सारे कृत्य अनुग्रह रूप में ही करता है। शिव का चतुर्थ कृत्य निग्रह भी आत्माओं के कल्याण के लिए ही होता है। निग्रह में शिव अपनी तिरोधान शक्ति के प्रयोग से आत्मा के वास्तविक स्वरूप को तथा जगत् के वास्तविक स्वरूप को छिपाता है। आत्मा से वास्तविकता इसलिए छिपायी जाती है ताकि आत्मा कर्म में प्रवृत्त हो तथा अच्छी तरह मलपरिपाक की प्रक्रिया पूरी कर ले। यह प्रक्रिया पूरी कर लेने के बाद शिव आत्मा को मुक्त करने के लिए अनुग्रह करता हैं, जिसे शक्तिनिपात कहा जाता है। शक्तिनिपात में आत्मा की तिरोधान शक्ति अनुग्रह शक्ति (अरुल शक्ति) में परिणत हो जाती है। जो तिरोधान शक्ति वास्तविकता पर पहले आवरण डालती थी, अब वही वास्तविकता को प्रकाशित कराती है।

मलपरिपाक के पश्चात् ही शक्तिनिपात होता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मलपरिपाक शक्तिनिपात का कारण अथवा आवश्यक दशा है। यदि मलपरिपाक को शक्तिनिपात का कारण मान लिया जाय तो शक्तिनिपात शिव का स्वतन्त्र अनुग्रह कृत्य नहीं रह जायेगा। यह स्पष्ट है कि शिव अपनी स्वतन्त्रेच्छा से अनुग्रह करता है, क्योंकि शिव में किसी प्रकार की बाध्यता का आरोपण नहीं किया जा सकता। शिव में कोई आन्तरिक बाध्यता नहीं है क्योंकि वह पूर्ण है; शिव में कोई कमी अथवा अभाव नहीं है, जिसकी पूर्ति वह शक्तिनिपात द्वारा करता है। शिव में बाह्य बाध्यता आरोपित नहीं की जा सकती क्योंकि शिव के समान कोई तत्त्व नहीं है जो

उसे अनुग्रह के लिए बाध्य करे। अब प्रश्न उठता है कि फिर यह कहने का क्या अर्थ है कि मलपरिपाक के पश्चात् शक्तिनिपात होता है? इसका तात्पर्य यह है कि शिव सदैव अनुग्रह करता रहता है, मलपरिपाक द्वारा हम स्वयं को शक्तिनिपात् प्राप्त करने के लायक बनाते हैं।

शक्तिनिपात के लिए आवश्यक मलपरिपाक भी शिव के अनुग्रह से ही प्रेरित होने के कारण अन्ततः शिव के अनुग्रह का ही परिणाम है, क्योंकि शैव-सिद्धान्त में यह माना गया है कि शिव आत्मा पर अनुग्रह कर उसे मलपरिपाक के लिए ही जगत् में भेजता है। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि मलपरिपाक भी अन्ततः शिव के अनुग्रह का ही परिणाम है तो व्यक्तिगत प्रयास अथवा विभिन्न साधनाओं (उपायों) का क्या महत्त्व है? इसका भी उत्तर यही है कि मलपरिपाक शिव के अनुग्रह से ही अभिप्रेत है, किन्तु उसकी प्रक्रिया पूरी कर अनुग्रह प्राप्त करना व्यक्तिगत प्रयास पर निर्भर है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। सूर्य का प्रकाश पहले से ही कमरे के बाहर है, किन्तु कमरे में उस प्रकाश को बुलाने के लिए कमरे के दरवाजे तथा खिड़कियाँ खोलना हमारा काम है। यदि हम खिड़कियाँ तथा दरवाजे नहीं खोलते हैं तो प्रकाश कमरे में अन्दर प्रवेश नहीं करेगा। इसी प्रकार शिव का अनुग्रह सदैव हमारे पास है, किन्तु उसे प्राप्त करने की योग्यता (मलपरिपाक अथवा साधना) का अभ्युदय करना हम पर निर्भर है।

शक्तिनिपात के लिये दशा अथवा किसी प्रकार की शर्त का होना इसलिए भी नहीं माना जा सकता क्योंकि आत्मा का हर प्रयास (अथवा साधक का आध्यात्मिक पथ में हर कदम) शिव के अनुग्रह प्राप्ति का संकेत करता है। आत्मा अनादि काल से आणव मल से आच्छादित होने के कारण अज्ञानी हो गया है। फलतः अज्ञानी आत्मा मोक्ष के लिए प्रयास करने को कौन कहे उसके विषय में सोच ही नहीं सकता। शिव के अनुग्रह से अभिप्रेत होने के कारण ही आत्मा अपने मोक्ष के लिए प्रयास करता है अथवा दूसरे शब्दों में, स्वयं को शक्तिनिपात पाने के लायक बनाता है।

यह जो कहा गया है कि मलपरिपाक के पश्चात् शक्तिनिपात होता है, इसका अर्थ यह भी है कि शक्तिनिपात के लिए योग्य बनना आवश्यक है। हम यदि दुष्ट हैं अथवा अनैतिक आचरण करते हैं तो हमें क्यों मुक्ति आदि अच्छा फल मिलना चाहिए? बुरे को भी अच्छा मिल जाये तो यह नैतिक नियम के विरुद्ध होगा। इसलिए जब तक हम 'लायक' नहीं होते तब तक शिव की कृपा नहीं मिलती। इसलिए 'अहैतुकी' कृपा कहना उपचार मात्र है। 'अहैतुकी' कृपा का यह अर्थ नहीं है कि भगवान जीव के लायक बने बिना ही कृपा बरसा बरसा देता है। इसका अर्थ यह है कि भगवान की ओर से कृपा करने में कोई कारण या हेतु (motive) नहीं है। दूसरे शब्दों

में, भगवान को कृपा के लिए बाध्य करने वाला कोई 'हेतु' (जैसाकि बद्ध जीव के व्यवहार में देखा जाता है) नहीं है। भगवान तो अपने शुद्ध स्वातन्त्र्य से ही कृपा करता है, कृपा कराने के लिए उसको कोई भी कारण मजबूर नहीं कर सकता।

मोक्ष प्राप्ति के चार मार्ग

शैव-सिद्धान्त में मोक्ष प्राप्ति के चार मार्ग बताये गये हैं। ये मार्ग हैं—दास मार्ग, सत्पुत्र मार्ग, सह मार्ग तथा सन्मार्ग। इन मार्गों को क्रमशः चर्या, क्रिया, योग तथा ज्ञान मार्ग कहा जाता है। प्रथम तीन मार्गों से पदमुक्ति प्राप्त होती है। अन्तिम रूप से पूर्ण मुक्ति ज्ञान मार्ग द्वारा ही प्राप्त होती है। मुक्ति के सम्बन्ध में शैव-सिद्धान्ती यह मानते हैं कि पहले क्रमिक मुक्ति अथवा पदमुक्ति ही प्राप्त होती है तथा बाद में पूर्ण मुक्ति प्राप्त होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि शैव-सिद्धान्त के अनुसार पूर्ण मुक्ति एकाएक प्राप्त नहीं हो जाती। पूर्ण मुक्ति पद मुक्ति के पश्चात् ही प्राप्त होती है। पहले आंशिक मुक्ति प्राप्त होती है तथा पूर्ण मुक्ति प्राप्त करने के लिए पद मुक्ति प्राप्त करना आवश्यक है। इस प्रकार शैव-सिद्धान्ती यह मानते हैं कि यद्यपि मुक्ति ज्ञान मार्ग द्वारा ही प्राप्त होती है, किन्तु मोक्ष के लिए प्रथम तीन मार्गों का अनुसरण भी आवश्यक है। प्रथम तीन मार्गों के अनुसरण के पश्चात् ही ज्ञान मार्ग का अनुसरण किया जा सकता है। यदि प्रथम तीन मार्गों का अनुसरण नहीं किया जाता है तो केवल ज्ञान मार्ग द्वारा मुक्ति नहीं प्राप्त की जा सकती। इस प्रकार शैव-सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के ये चार मार्ग साधना के चार स्तर हैं। साधना के इन चारों स्तरों से होता हुआ साधक अपने अंतिम लक्ष्य तक पहुँचता है। इन मार्गों की अलग-अलग विवेचना अपेक्षित है।

दास मार्ग

शिव मन्दिर की धुलाई, सफाई करना तथा शिव की प्रतिमा पर पुष्प चढाना, दीप जलाना आदि दास मार्ग की साधना है। इस मार्ग में बाह्य उपायों द्वारा साधक विभिन्न प्रकार से शिव की प्रार्थना करता है। मन्दिर की सफाई आदि साधक सेवक की भावना से करता है। गुरु अथवा शिव ज्ञान प्राप्त सन्तों की सेवा भी इस मार्ग का अंग है। सन्त तिरुनावुक्करसर इस माग के प्रसिद्ध साधक माने जाते हैं। इस मार्ग द्वारा प्राप्त पदमुक्ति को सालोक अथवा-शिव लोक कहते हैं।

सत्पुत्र मार्ग

शिव पूजा के लिए नवविकसित पुष्प, धूप, दीप, तिरुमञ्जन और नैवेद्य अर्पित करना तथा पाँच प्रकार की भूत शुद्धि करना, यथा-आत्म शुद्धि, द्रव्य शुद्धि, मन्त्र शुद्धि और लिंग शुद्धि करना। इसके अतिरिक्त मूर्ति में प्राणप्रतिष्ठा कर सच्चे मन से पूजा,

अर्चना करना इस मार्ग की साधनायें हैं। इस मार्ग की साधना में साधक बाह्य उपायों के साथ-साथ अन्तर मन का भी प्रयोग करता है। शिव के रूपारूप स्वरूप की उपासना इस मार्ग के साधना द्वारा की जाती है। सत्पुत्र मार्ग की साधना द्वारा प्राप्त पदमुक्ति को सामीप्य कहा जाता है। सन्त तिरुज्ञानसम्बन्दर इस मार्ग के प्रसिद्ध साधक माने जाते हैं।

सह मार्ग

सह मार्ग योग मार्ग है, जिसमें योग साधना की जाती है। योग साधना में इन्द्रियों पर नियन्त्रण किया जाता है। इन्द्रियों पर नियन्त्रण इन्द्रियों को विषय की ओर प्रवृत्त होने से रोक कर किया जाता है। इसके अतिरिक्त प्राणवायु पर नियन्त्रण किया जाता है तथा मन को छः आधारों पर तथा उनके देवताओं पर केन्द्रित किया जाता है। इन देवताओं का ज्ञान प्राप्त कर मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक प्राणवायु को ले जाकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित कमल को खिलाया जाता है। चन्द्रमण्डल के निचले भाग में बहते हुए अमृत को शरीर के सारे भागों में प्रवाहित करना होता है। इसके अतिरिक्त अष्टांग योग साधना भी शैव-सिद्धान्त के सह मार्ग का अंग है। इस प्रकार की साधना द्वारा साधक के सारे पाप कट जाते हैं। सह मार्ग द्वारा प्राप्त पदमुक्ति को सारूप्य कहा जाता है। सन्त सुन्दरमूर्ति इस मार्ग के प्रमुख साधक माने जाते हैं।

सन्मार्ग

सन्मार्ग में साधक को सभी कला, विज्ञान, वेद, उपनिषद, पुराण, आगमों के कर्म काण्ड तथा अन्य दार्शनिक मतों के शास्त्रों का अध्ययन आवश्यक है, ताकि वह इस निष्कर्ष पर दृढ़ हो जाय कि शैव-सिद्धान्त ही सबसे उपयुक्त मार्ग है। शैव-सिद्धान्त में विश्वास करने के लिए अन्य दार्शनिक मतों से इसकी तुलना आवश्यक है। अन्य मतों का अध्ययन कर शैव-सिद्धान्त की विशिष्टता को समझ लेने के बाद साधक को पति, पशु, और पाश का स्वरूप ज्ञान आवश्यक है। पदार्थत्रय के ज्ञान के बाद साधक ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय में बिना विभेद लक्षित किये ही सर्वज्ञ, नित्य, व्यापक, आनन्दरूप शिव के साथ अभेद सम्बन्ध प्राप्त करता है। इस मार्ग द्वारा पूर्ण मुक्ति प्राप्त होती है, जिसे सायुज्य कहा जाता है। सन्त मनिवकवासगर इस मार्ग के प्रमुख सन्त कहे जाते हैं।

ज्ञान मार्ग को सर्वश्रेष्ठ मार्ग कहा गया है, क्योंकि इससे पूर्ण मुक्ति प्राप्त होती है। ज्ञान को अन्य दर्शनों में भी मुक्ति का कारण माना गया है, यथा सांख्य और मायावाद में भी ज्ञान को ही मुक्ति का कारण माना गया है। शैव-सिद्धान्ती सांख्य और मायावादियों द्वारा प्रतिपादित ज्ञान को पूर्ण मुक्ति का कारण नहीं मानते।

अग्रसर होता है। कतिपय साधनाओं द्वारा किये गये व्यक्तिगत प्रयास के अनुसार साधक अनुग्रह प्राप्त कर ज्ञान प्राप्त करता है। यह ज्ञान क्रमिक होता है। इस क्रमिक ज्ञान अथवा आध्यात्मिक उत्कर्ष को शैव-सिद्धान्त में दस कार्य कहा गया है। ये दस कार्य हैं—तत्त्व-रूप, तत्त्व-दर्शन, तत्त्व-शुद्धि, आत्म-रूप, आत्म-दर्शन, आत्म-शुद्धि, शिव-रूप, शिव-दर्शन, शिव-योग और शिव-भोग।

ज्ञान के प्रथम चरण में आत्मा माया द्वारा प्रदत्त तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है। मायीय तत्त्वों से युक्त आत्मा जगत् में प्रवेश कर कर्म करता है। आत्मा मायीय शरीर आदि से तादात्म्य निरूपण कर लेता है। वह शरीर आदि को ही आत्मा समझ लेता है अथवा शरीर आदि को ही अपना वास्तविक स्वरूप समझ लेता है। आत्मा मायीय तत्त्वों पर बिना विचार किये ही उनका प्रयोग करता रहता है। आत्मा आणव मल के आवरण से उत्पन्न अज्ञान के कारण तत्त्व ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता। मलपरिपाक की प्रक्रिया में उन्नति करने पर आत्मा को शिव का अनुग्रह प्राप्त होता है, जिसके परिणामस्वरूप आत्मा ज्ञान के प्रथम चरण में तत्त्व ज्ञान प्राप्त करता है। तत्त्व ज्ञान की प्रक्रिया में आत्मा सर्वप्रथम तत्त्वों को अपने से पृथक् देखता है अथवा अनुभव करता है। ज्ञान की इस अवस्था में वह तत्त्वों का स्वरूप नहीं समझे रहता है। यह तत्त्व रूप है। इसके पश्चात् आत्मा तत्त्वों के स्वरूप को समझने का प्रयास करता है। इस प्रयास में आत्मा यह ज्ञान प्राप्त करता है कि तत्त्व अचेतन हैं तथा आत्मा के लिए साधन रूप हैं। ज्ञान की इस अवस्था में तत्त्वों का स्वरूप ज्ञान तो आत्मा को हो जाता है, किन्तु आत्मा तत्त्वों के प्रभाव में ही रहता है। यह तत्त्व-दर्शन है। इसके पश्चात् आत्मा तत्त्वों के प्रभाव से मुक्त होने का प्रयास करता है। इस प्रयास को तत्त्व शुद्धि कहा गया है।

तत्त्व ज्ञान के पश्चात् आत्मा आत्म-ज्ञान की ओर अभिमुख होता है। आत्मा तत्त्व ज्ञान के परिणामस्वरूप यह समझ जाता है कि उसका अस्तित्व तत्त्वों से पृथक है। यह ज्ञान आत्म-रूप कहलाता है। तत्त्वों से स्वयं को पृथक् रूप में अनुभूत कर लेने के बाद आत्मा अपनी स्वाभाविक शक्तियों अथवा अपने वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयास करता है। यह प्रयास आत्म-दर्शन कहलाता है। ज्ञान की इस अवस्था तक आत्मा तत्त्वों के प्रभाव से मुक्त नहीं हुआ रहता। शिव के अनुग्रह से आत्मा तत्त्वों के प्रभाव से मुक्त होकर स्वयं का सर्वोच्च सत्ता से तादात्म्य निरुपण करता है। इसे आत्म-शुद्धि कहा जाता है। आत्म-शुद्धि के पश्चात् आत्मा शिव-ज्ञान की ओर अभिमुख होता है। तत्त्व-ज्ञान तथा आत्म ज्ञान हो जाने के पश्चात् आत्मा शिव का अनुग्रह इसलिए प्राप्त करने का प्रयास करता है, ताकि वह पुनः तत्त्वों के बन्धन में न पड़े। आत्म-शुद्धि हो जाने पर आत्मा तत्त्वों के साथ अपना तादात्म्य

निरूपण नहीं करता। आत्मा शिव के साथ अपने अभेद सम्बन्ध को अनुभूत करने का प्रयास करता है। इस प्रयास में सर्वप्रथम वह शिव को स्वयं में तथा हर जगह देखता अथवा अनुभूत करता है। इसे शिव रूप कहा जाता है।[1] शिव को प्रत्येक जगह अनुभूत करने के फलस्वरूप आत्मा में अहंकार का लेशमात्र भी नहीं रह जाता। आत्मा माया और कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। आत्मा स्वयं को शिव को समर्पित कर देता है, जिसके फलस्वरूप अहंकार के पूर्णतया विनाश हो जाने से अनुग्रह प्राप्त करने में कोई बाधा नहीं रह जाती। इसे शिव-दर्शन कहा जाता है।[2] शिव-दर्शन के पश्चात् आत्मा सुख-दुःख को समभाव से देखता है। वह अपने सारे कृत्यों को शिव का कृत्य समझने लगता है। उसे यह ज्ञान हो जाता है कि वास्तविक कर्ता शिव है, वह निमित्त मात्र है, अथवा अपने को पूर्णतया समर्पित कर देने के पश्चात् वह जो भी करता है उसे शिव का कृत्य समझ कर करता है। इस अवस्था को शिव-योग कहा गया है। इस अवस्था में रहते हुए आत्मा जगत् से प्रभावित नहीं होता। शिव के साथ पूर्ण तादात्म्य निरूपण के फलस्वरूप आत्मा के सारे भोग शिव के भोग हो जाते हैं। इस अवस्था को शिव भोग कहा गया है। यह ज्ञान की अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था में साधक जीवन्मुक्त कहलाता है।

ज्ञान की इस उच्चतम अवस्था को प्राप्त कर लेने पर आत्मा बिना ज्ञानेन्द्रियों की सहायता के ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञानेन्द्रियों का प्रयोग जीवन्मुक्त की इच्छा पर निर्भर करता है। वह चाहे तो ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करे अथवा यदि न चाहे तो बिना उनका प्रयोग किये ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह शिव ज्ञान प्राप्ति की अवस्था है, जिसे शैव-सिद्धान्त में उच्चतर ज्ञान अथवा दिव्य ज्ञान कहा गया है।

शिवोहमभावना

ज्ञान की इस उच्चतम साधना को शैव-सिद्धान्त में शिवोहम भावना की साधना कहा गया है। अज्ञान के कारण आत्मा स्वयं को शरीर आदि मायीय तत्त्वों से तदनुरुपित समझता है। ज्ञान का उत्कर्ष होने पर वह स्वयं को मायीय तत्त्वों से पृथक समझता है तथा पशुज्ञान हो जाने पर वह स्वयं को शिव से भिन्न समझता है। पतिज्ञान प्राप्त हो जाने पर आत्मा यह समझ जाता है कि तत्त्व की दृष्टि से आत्मा और शिव में विभेद है, किन्तु आत्मा और शिव के बीच सम्बन्ध अभेद का है। इस अभेद सम्बन्ध की भावना को दृढ़ करने के लिये अथवा अनुग्रह प्राप्त कर अभेद सम्बन्ध

१. उन्मैनेरि विलक्कम, ३.
२. उन्मैनेरि विलक्कम, ४.

स्थापित करने के लिये आत्मा को शिवोहमभावना की साधना अथवा अभ्यास करना होता है कि 'मैं शिव हूँ'। इस भावना के अभ्यास द्वारा आत्मा शिव के साथ तादात्म्य निरूपण कर अभेद सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इस शिवोहमभावना की साधना को समझाने के लिये शैव-सिद्धान्ती 'गरुड़ भावना' का उदाहरण देते हैं। जिस प्रकार सर्प के विष से व्याकुल व्यक्ति का उपचार मान्त्रिक गरुड़ के साथ अपना तादात्म्य निरूपण कर के करता है। मान्त्रिक ध्यान द्वारा गरुड़ के साथ तादात्म्य निरूपण कर लेता है। इस तादात्म्य निरूपण के द्वारा वह स्वयं गरुड़मय हो जाता है, जिसके फलस्वरूप उसके मन्त्र विष से व्याकुल व्यक्ति को स्वस्थ कर देते हैं। उसी प्रकार शिवोहमभावना के अभ्यास द्वारा साधक शिवमय हो जाता है तथा शिव के साथ स्वयं को अभेद सम्बन्ध में अनुभूत करता है।

मुक्ति का स्वरूप

मलों के प्रभाव से सर्वथा मुक्त आत्मा की शुद्धावस्था मुक्ति है। शुद्धावस्था में आत्मा शिव के साथ अभेद सम्बन्ध स्थापित कर शिवानन्द की अनुभूति करता है। अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की भाँति शैव-सिद्धान्ती मुक्ति में आत्मा का शिव में पूर्णतः विलय हो जाना अथवा स्वयं शिव हो जाना नहीं मानते। उनके अनुसार तत्त्व की दृष्टि से आत्मा और शिव का द्वैत बना रहता है, किन्तु सम्बन्ध की दृष्टि से दोनों में अद्वैत सम्बन्ध रहता है।[१] भक्तिपरक तथा धर्म दर्शन होने से शैव-सिद्धान्ती मुक्ति की अवस्था में भी उपास्य और उपासक का भेद बनाये रखते हैं। मुक्ति की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए शिवज्ञान सिद्धि[२] में कहा गया है कि यदि यह कहा जाय कि शिव वृक्ष की छाया के समान है, जहाँ आत्मा को पहुँचना है, तो यह अमान्य होगा। यदि आत्मा ही शिव के पास पहुँचता है तथा शिव आत्मा के पास नहीं आता, तब आत्मा के पास संकल्प-स्वातन्त्र्य होगा तथा आत्मा ही मालिक और प्रथम कारण होगा। यदि यह कहा जाय कि आत्मा शिव में विलीन होकर शिव के साथ एक हो जाता है, तो यह भी अमान्य होगा क्योंकि जो विलीन होकर अस्तित्व की दृष्टि से समाप्त हो चुका है, उसके साथ एकता संभव नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि आत्मा अस्तित्व की दृष्टि से समाप्त हुए बिना ही विलय कर जाता है तो वह शिव के साथ एक नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि आत्मा विलय के पश्चात् अस्तित्व की दृष्टि से समाप्त होता है तो वह क्या है जो मुक्ति प्राप्त करता है? यदि अस्तित्व की दृष्टि से समाप्ति ही मुक्ति माना जाय तो फिर आत्मा को नित्य अथवा

१. शिवज्ञान सिद्धियार, XI, ३१८

२. शिवज्ञान सिद्धियार XI ३१९, ३२०

शाश्वत नहीं कहा जा सकता। यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार जल जल में मिल जाता है, वैसे ही आत्मा शिव में मिल जाता है, तो आत्मा और शिव समान हो जायेगें।

शैव-सिद्धान्ती आत्मा और शिव को समान नहीं मानते। मुक्ति की अवस्था मलों के आवरण से रहित आत्मा शिव के समान ही चित् रूप हो जाता है, किन्तु आत्मा सृष्टि, स्थिति, संहार जैसे शिव के कृत्य नहीं करता। शिव मुक्ति दाता है तथा अनुग्रह रूप है जिससे आत्मा अनुग्रह प्राप्त करता है। शिव प्रकाश और ज्ञान का स्रोत है, जिससे आत्मा ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार एकता की स्थिति में भी वे सर्वथा एक या तदनुरूप (Identical) नहीं हैं। उनके बीच जो सम्बन्ध है, वह अद्वैतपरक सम्बन्ध है। शिव को स्वयं समर्पित कर चुकने पर शुद्ध, निर्मल, चित् रुप आत्मा को शिव अपने साथ अविभाज्य सम्बन्ध में रखता है, जहाँ आत्मा शिवानन्द को अनुभूत या भोग करता है। शैव-सिद्धान्ती मानते हैं कि केवल आत्मा ही अपने प्रयास द्वारा शिव के पास नहीं जाता, वरन् शिव स्वयं आत्मा के पास आकर उसे अपना बनाता है। जिस प्रकार नमक जल में मिल जाता है, उसी प्रकार शिव आत्माओं में अपने गुण भर देता है, किन्तु शिव इनसे परे भी रहता है।[1]

मुक्ति सम्बन्धी अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों को शैव-सिद्धान्ती निम्नतर मुक्ति अथवा अपर मुक्ति कहते हैं। उनके अनुसार अन्य दार्शनिक सिद्धान्त पाशज्ञान अथवा पशुज्ञान तक ही सीमित हैं। फलतः मुक्ति की व्याख्या भी वहाँ पाश ज्ञान अथवा पशु ज्ञान के स्तर पर ही किया जाता है। उदाहरण के लिये चार्वाक दर्शन पाश ज्ञान तक ही सीमित है। चार्वाक चार महाभूतों तक का ही साक्षात्कार कर पाये हैं। अतः वे मुक्ति की भौतिकवादी व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार सांसारिक भौतिक सुख की प्राप्ति ही मोक्ष अथवा जीवन का चरम लक्ष्य है। मीमांसा दर्शन पशुज्ञान तक ही सीमित है। मीमांसक यज्ञों द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति को ही मोक्ष मानते हैं। स्वयं को पतिज्ञान प्राप्त कहने वाले अन्य दर्शन भी पतिज्ञान की उच्चतम अवस्था को प्राप्त नहीं किये हैं। फलत: वे शिव और आत्मा के समानता की बात करते हैं अथवा आत्मा को ही शिव हो जाना घोषित करते हैं। शैव-सिद्धान्ती अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की मुक्ति सम्बन्धी अवधारणा की विवेचना करते हुए अपने सायुज्य अवधारणा का औचित्य प्रतिपादित करते हैं।

चार्वाक प्रत्यक्ष जगत् की सत्यता में ही विश्वास करते हैं, प्रत्यक्ष से परे किसी वस्तु की सता नहीं मानते। वे शरीर से इतर आत्मा की सता तथा इससे सम्बन्धित पुनर्जन्म को नहीं मानते। फलतः वे शारीरिक सुख को ही मोक्ष स्वरूप मानते हैं।

१, शिवज्ञान सिद्धियार, XI ३२१

शैव-सिद्धान्ती शारीरिक सुख को क्षणिक मानते हैं। उनके अनुसार शारीरिक सुख को मोक्ष नहीं कहा जा सकता। शारीरिक सुख क्षणिक तथा मलों की अशुद्धता से युक्त है। वास्तविक मोक्ष तथा वास्तविक आनन्द मलों की अशुद्धता से पूर्णतया निवृत्त होकर शिवानुभूति प्राप्त करने में निहित है। शिवानुभूति अथवा शिवभोग ही नित्य आनन्द है, जिसे प्राप्त करने के पश्चात् पुनः बन्धन में पड़ने की संभावना नहीं रहती।

अनात्मवादी बौद्ध चेतना के प्रवाह को मानते हैं जो पञ्चस्कन्धों के संयोग के परिणाम स्वरूप है। फलतः उनके लिये पञ्चस्कन्धों के वियोग अथवा अलग हो जाने से उत्पन्न दुःखान्त ही निर्वाण अथवा मोक्ष है। शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि केवल दुःखान्त के लिये तथा अस्तित्व की समाप्ति के लिये आध्यात्मिक साधना नहीं की जाती, वरन् नित्य आनन्द की अनुभूति के लिये की जाती है। बौद्धों के अनुसार आत्मा का अस्तित्व ही निर्वाण की अवस्था में नहीं रहता, फलतः आनन्द भोग कौन करेगा ?

जैन दार्शनिक आत्मा (जीव) के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए मोक्ष को दुःखान्त के अतिरिक्त परम शान्ति की अनुभूति की अवस्था मानते हैं, किन्तु अनीश्वरवादी होने के कारण जैन यह मानते हैं कि मुक्ति जीव के प्रयास का ही परिणाम है। शैव-सिद्धान्ती जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित मुक्ति की अवधारणा से सहमत होते हुए मुक्ति को शिवानुभूति की अवस्था मानते हैं, किन्तु उनके अनुसार मुक्ति आत्मा (जीव) के प्रयास का ही परिणाम नहीं है, वरन् अन्ततः शिव के अनुग्रह के कारण है। शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि मल से आच्छादित अज्ञानी आत्मा स्वतः मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता जब तक कि शिव उस पर अनुग्रह न करे। बिना सर्वज्ञ शिव की कृपा के ज्ञानोदय हो ही नहीं सकता।[1]

अनीश्वरवादी सांख्य पुरुष की केवलावस्था अथवा कैवल्य को ही मोक्ष मानता है। शैव-सिद्धान्त की दृष्टि में सांख्य की मुक्ति पशुज्ञान पर आधारित है। सांख्य ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता, फलतः वह पतिज्ञान से वंचित है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार पतिज्ञान ही मुक्ति का वास्तविक कारक है। सांख्य में प्रतिपादित मुक्ति आंशिक मुक्ति है। इसी प्रकार मीमांसा दर्शन द्वारा प्रतिपादित मुक्ति भी आंशिक मुक्ति अथवा अपर मुक्ति है। मीमांसकों के अनुसार स्वर्ग प्राप्ति ही मोक्ष है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार यह क्षणिक मुक्ति है। स्वर्ग में निवास करने की अवधि समाप्त हो जाने पर पुनः बन्धन हो सकता है। स्वर्ग की प्राप्ति यज्ञों तथा धार्मिक

१. शिवज्ञान सिद्धि, ४१

कृत्यों के परिणामस्वरूप होती है, जिनका फल भोग समाप्त हो जाने पर पुनः जन्म-ग्रहण करना पड़ सकता है ।

एकात्मवादी आत्मा को परमात्मा का ही अंश मानते हैं : अविद्या अथवा अज्ञान के कारण ही आत्मा परमात्मा से भिन्न बन्धन ग्रस्त है। अज्ञान दूर हो जाने पर आत्मा परमात्मा में मिल जाता है, जैसे नदी समुद्र में मिल जाती है। शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि आत्मा परमात्मा में मिल जाता है अथवा मुक्ति की अवस्था में केवल परमात्मा ही रहता है, आत्मा का अस्तित्व ही नहीं रहता तो फिर मुक्ति किसकी होती है ? इस अवधारणा के अनुसार आत्मा और परमसत्ता में समानता अथवा तादात्म्य है। शैव-सिद्धान्ती आत्मा और शिव में सम्बन्ध की दृष्टि से अभेद मानते हुए भी आत्मा और शिव को समान अथवा तदनुरूप नहीं मानते हैं। उनके अनुसार दोनों ही चित् रूप अथवा आध्यात्मिक सत्ताएँ हैं। इस दृष्टि से दोनों में समानता है, किन्तु आत्मा सेवक है तथा शिव स्वामी है ।

पाषाणवादी यह मानते हैं कि आत्मा के साथ आणव मल नित्य है। अतः आणव का विनाश नहीं होता। यदि आणव का विनाश होना माना जाय तो आत्मा का विनाश भी उसके साथ हो जायेगा। इसलिये मुक्ति की अवधारणा में वे मानते हैं कि आत्मा पाषाणवत हो जाता है, न तो वह दुःख अनुभूत करता है और न सुख ही। शैव-सिद्धान्ती आणव का विनाश होना मानते हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार चावल को नष्ट किये बिना ही उससे छिलका आदि अलग कर दिया जाता है, वैसे ही आत्मा को हानि पहुँचाए बिना ही आणव दूर हो जाता है। शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि अज्ञान दूर हो जाने पर ज्ञानोदय होता है तथा आत्मा अपनी स्वाभाविक शक्तियों को अनुभूत करता है, जिनसे वह बन्धन की अवस्था में वंचित रहा है ।

इस प्रकार कतिपय अन्य दार्शनिक मतों की विवेचना करते हुए शैव-सिद्धान्ती अपने मुक्ति की अवधारणा का प्रतिपादन करते हैं, जिसके अनुसार मुक्ति परमानन्द, शिवानन्द की अनुभूति की अवस्था है। मुक्ति की अवस्था में अनुभूत होने वाला आनन्द शारीरिक आनन्द नहीं है, वरन् आध्यात्मिक आनन्द है। चार्वाक दार्शनिक आनन्द की अनुभूति के लिये शरीर का उपस्थित रहना आवश्यक मानते हैं। अतः वे आक्षेप कर सकते हैं कि मुक्ति की अवस्था में यदि शरीर नहीं है तो आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती। किन्तु शैव-सिद्धान्ती केवल शारीरिक सुखानुभूति के लिये शरीर की उपस्थिति आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति के लिये शरीर आवश्यक नहीं है, इसके लिये आत्मा की शुद्धता आवश्यक है। शुद्ध आत्मा आध्यात्मिक आनन्द अनुभूत करता है ।

मलों के आवरण से सर्वथा मुक्त हो जाने पर आत्मा का वास्तविक स्वरूप

प्रकाशित हो जाता है। आत्मा की स्वाभाविक शक्तियाँ क्रियाशील हो जाती है। किन्तु शैव-सिद्धान्ती आत्मा को शिव के समान दर्जा प्रदान नहीं करते। उनके अनुसार शिव सर्वोच्च सत्ता है, आत्मा वास्तविक रूप में सर्वज्ञ शक्तिमान तथा व्यापक होते हुए भी शिव से निम्नतर है। शिव मुक्ति दाता है। अतः मुक्तिदाता सदैव श्रेष्ठतर रहेगा ही। मुक्ति की अवस्था में शिव और आत्मा में भेदाभेद सम्बन्ध का प्रतिपादन शैव सिद्धान्ती करते हैं। उनके अनुसार अस्तित्व की दृष्टि से दो रहते हुए भी सम्बन्ध की दृष्टि से शिव और आत्मा एक हैं। इस अभेद सम्बन्ध से वर्णित सायुज्य मुक्ति हीशैव-सिद्धान्त के अनुसार अन्तिम मुक्ति है।

शैव-सिद्धान्त की मुक्ति सम्बन्धी इस अवधारणा में भक्ति की पराकाष्ठा देखी जा सकती है। जहाँ अन्य दर्शनों में यह प्रतिपादित किया गया है कि आत्मा मुक्त होकर शिव के समान हो जाता है अथवा स्वयं शिव हो जाता है, वहाँ शैव-सिद्धान्त की मुक्ति की अवधारणा में भी उपास्य और उपासक का भेद माना गया है। भक्ति द्वैत की भावना आपादित करती है। भक्ति दो के बीच ही हो सकती है। यह अवश्य हो सकता है कि उपास्य अपने उपासक अथवा भक्त को सदैव अपनी कृपा के माध्यम से अपना बनाये रखे, किन्तु यह विचित्र सा लगता है कि उपासक ही स्वयं उपास्य हो जाय अथवा उपास्य के समान हो जाय। इसीलिए शैव-सिद्धान्ती अपनी सायुज्य मुक्ति में सम्बन्ध की दृष्टि से अभेद अथवा अद्वैत मानते हुए अस्तित्व की दृष्टि से भेद अथवा द्वैत मानते हैं।

जीवन्मुक्त

अन्य दर्शनों, यथा सांख्य, अद्वैत-वेदान्त तथा काश्मीर शैव दर्शन की भाँति शैव-सिद्धान्त में भी जीवन्मुक्ति की अवधारणा है। मलों के प्रभाव समाप्त हो जाने पर वर्तमान जीवन में मुक्ति प्राप्त हो सकती है। प्रारब्ध कर्मों के अनुसार वर्तमान जीवन तथा शरीर चलता रहता है। जीवन्मुक्ति की अवस्था में आत्मा का शिव के साथ अभेद सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। आत्मा ज्ञान निष्ठा प्राप्त कर सर्वज्ञ हो जाता है। वह जो भी कर्म करता है वह उसका कर्म न होकर ईश्वर का कर्म होता है क्योंकि आत्मा इस वास्तविकता को जान जाता है कि सारे कर्मों का स्रोत अथवा आधार ईश्वर ही है। वह सोते, जागते, खाते-पीते हर क्षण ईश्वर के ही विचार में लीन रहता है। फलतः जीवन्मुक्ति की अवस्था में प्रतिपादित कर्म बन्धन के कारण नहीं होते और न ही उनका फल ही आत्मा को भोगना पड़ता है।

जीवन्मुक्ति सुख-दुःख से परे की स्थिति है। जीवन्मुक्त सुख-दुःख को समानभाव से अनुभूत करता है। सांसारिक सुख उसे न तो प्रसन्न करता है और न ही सांसारिक दुःख उसे विचलित कर सकता है क्योंकि आध्यात्मिक आनन्द को अनुभूत कर लेने पर

सांसारिक सुख उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखता। जीवन्मुक्त शिव से प्रेम करने वाले अथवा शिव की भक्ति करने वाले साधकों की संगति में रहता है तथा सभी प्राणियों से प्रेम करता है। शैव-सिद्धान्ती यह मानते हैं कि शक्तिनिपात हो जाने पर सर्वज्ञ साधक के लिए चर्या, क्रिया जैसी उपासना की बाह्य अथवा आन्तरिक आचरण करना आवश्यक नहीं रहता। जीवन्मुक्त अपनी स्वेच्छा से मन्दिर में उपासना आदि कर सकता है।

शैव-सिद्धान्ती जीवन्मुक्ति की अवस्था में कर्म का निषेध नहीं करते। उनके अनुसार अहंकार का पूर्णतया विनाश हो जाने पर साधक के कर्म ईश्वर को समर्पित हो जाते हैं। इस प्रकार कर्म बन्धन के कारक नहीं रह जाते। अतः उनके निषेध का प्रश्न ही नहीं उठता। जीवन्मुक्ति की अवस्था में वासना अथवा आसक्ति का निषेध अथवा विनाश माना जाता है। पाश ज्ञान प्राप्त कर लेने पर जगत् की वास्तविकता आत्मा को ज्ञात हो जाती है, फलतः जगत् अथवा जागतिक भोगों के प्रति आत्मा में किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रह जाती। यह आसक्ति या वासना ही बन्धन का कारण है। आसक्ति अथवा वासना से प्रेरित कर्म ही बन्धन स्वरूप होते हैं। अनासक्त भाव अथवा वासनारहित भाव से किये गये कर्म बन्धन के कारक नहीं होते। जीवन्मुक्त जो भी कर्म संपादित करता है, वह अनासक्त भाव से किया गया रहता है। अतः जीवन्मुक्त के कर्म उसे बन्धन में नहीं डालते।

काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त की जीवन्मुक्ति की अवधारणा में प्रायः साम्य ही देखा जाता है, केवल कुछ बातों को लेकर असमानता देखी जाती है जो दोनों की दार्शनिक संरचना में व्याप्त असमानता के कारण है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार जीवन्मुक्ति की अवस्था में आत्मा स्वयं शिव हो जाता है जबकि शैव-सिद्धान्त के अनुसार इस अवस्था में आत्मा शिव के समान हो जाता है। दोनों ही दर्शनों में इस अवस्था में होने वाले कर्म अनासक्त भाव से किये गये कर्म हैं तथा इसके लिए वासनाओं का उदात्तीकरण दोनों ही दर्शनों में माना गया है, काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार यह जगत् जीवन्मुक्त का ही लीला-विलास है, इसलिए इसके प्रति आसक्ति होने का प्रश्न ही नहीं उठता।[१] शैव-सिद्धान्त के अनुसार जगत् जीवन्मुक्त के लिए साधन रूप है, यह जान लेने पर इसके प्रति आसक्ति का भाव नहीं रहता।

१. इस विषय पर इसके प्रथम भाग 'काश्मीर शैव दर्शनः मूल सिद्धान्त' में विचार किया गया है।

उपसंहार

शैव-सिद्धान्त की दार्शनिक विवेचना के पश्चात् किसी निष्कर्ष पर पहुंचने के पूर्व तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है। तुलनात्मक विश्लेषण द्वारा ही शैव-सिद्धान्त की दार्शनिक विशेषताओं को स्पष्टतर किया जा सकता है। शैव-सिद्धान्त की तुलना विशेष रूप से काश्मीर शैव दर्शन से की जा सकती है। आगमिक परम्परा के दर्शन होने से दोनों ही दर्शनों में इस परम्परा की विशेषताएँ समान रूप से परिलक्षित होती हैं। ये दर्शन आगम की विचारधाराओं को अपने-अपने ढंग से व्यक्त करने का प्रयास करते हैं; इसलिए जहाँ उनमें वैचारिक समानताएँ पाई जाती हैं (क्योंकि दोनों ही आगमिक परम्परा के दर्शन हैं), वहीं विषमताएँ भी स्पष्ट रूप से इंगित होती हैं। इन विषमताओं का मूल कारण दोनों दर्शनों में मान्य तात्त्विक (या तत्त्व विषयक) अवधारणा है। काश्मीर शैव दर्शन एक मात्र तत्त्व परमशिव की सत्ता मानता है, जबकि शैव-सिद्धान्त शिव, आत्मा और माया (पति, पशु और पाश) तीन शाश्वत सत्ताएँ मानता है। इस मान्यता के कारण ही दोनों दर्शनों का सैद्धान्तिक मतभेद है। एक ही तत्त्व मानने के कारण काश्मीर शैव दर्शन आभासवादी (Idealistic) दर्शन है तथा तीन नित्य तत्त्व मानने के कारण शैव-सिद्धान्त यथार्थवादी (Realistic) दर्शन है।[1]

आगमिक परम्परा के दर्शनों की प्रमुख विशेषता है जगत् के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण का होना। वैदिक परम्परा के प्रमुख दर्शन अद्वैत-वेदान्त में जगत् के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण पाया जाता है, जबकि काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त मे जगत् के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण है। अद्वैत-वेदान्त जगत् का निषेध करता है तथा काश्मीर शैव दर्शन जगत् को शिव रूप मानता है, इसलिए जगत् का निषेध नहीं करता। शैव-सिद्धान्त यद्यपि जगत् के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण रखता है तथा जगत् को शिव रूप भी मानता है, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन की तरह आभासवादी नहीं है।

वास्तव में अद्वैतवादी दर्शनों के समक्ष जगत् की व्याख्या समस्या रूप में उपस्थित

१. काश्मीर शैव दर्शन आभासवादी इसलिये है क्योंकि एकमात्र परमतत्त्व की सत्ता मानने पर जगत् को परमतत्त्व का आभास मान कर ही जगत् की व्याख्या हो सकती है। शैव-सिद्धान्त की स्थिति इससे भिन्न है, इसलिए वह यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाता है।

होती है। एक मात्र परमतत्त्व की सत्ता मानने के कारण जगत् का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं माना जा सकता। जगत् का स्वतन्त्र अस्तित्व मानने पर परमतत्त्व और जगत् में तात्त्विक विभेद मानना होगा, जो अद्वैतवाद की मान्यताओं के प्रतिकूल होगा। इसलिए अद्वैत-वेदान्त और काश्मीर शैव दर्शन जगत् को आभासरूप मानते हैं। किन्तु अद्वैत-वेदान्त जगत् को मिथ्याभास मानता है, जबकि काश्मीर शैव-दर्शन जगत् को सत्याभास कहता है। अपने निषेधात्मक दृष्टिकोण के कारण अद्वैत-वेदान्त जगत को मिथ्याभास मानता है क्योंकि उसके अनुसार जगत् मायारूप अथवा बन्धन स्वरूप है तथा अपने भावात्मक दृष्टिकोण के कारण काश्मीर शैव दर्शन जगत् को सत्याभास कहता है क्योंकि उसके अनुसार जगत् शिवरूप है। शैव-सिद्धान्त परमतत्त्व और जगत का तात्त्विक विभेद मान कर भी अद्वैत की व्याख्या करता है तथा जगत् को सत्य मानता है।

अद्वैत-वेदान्त जगत् को मिथ्या मानता है क्योंकि जगत् को सत्य मानने पर यह सृष्ट होगा तथा इसका स्रष्टा परमतत्त्व (ब्रह्म) को मानना होगा। किन्तु ब्रह्म में क्रिया नहीं मानी जा सकती; यह निष्क्रिय है। इसका कारण यह है कि अद्वैत-वेदान्त के अनुसार क्रिया अपूर्णता का द्योतक है और ब्रह्म में किसी भी प्रकार की क्रिया का समावेश उसे अपूर्ण बनाना होगा। काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त में क्रिया को अपूर्णता का सूचक नहीं माना गया है। उनके अनुसार कर्म अपूर्णता के द्योतक हैं। सृष्टि शिव का स्पन्द है। इसलिए काश्मीर शैव दर्शन जगत् को शिव का आभास मानते हुए भी इसे सत्य कहता है तथा शैव-सिद्धान्त इसे शिव से अलग (केवल तात्त्विक दृष्टि से) मानते हुए भी सत्य कहता है।

जगत् को सत्य मानते हुए भी जगत् के स्वरूप के विषय में काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त में मतभेद है। काश्मीर शैव दर्शन जगत् को शिव का चेतन आभास मानता है तथा वस्तुवाद (Realism) का विरोध करता है क्योंकि चेतन शिव से आभासित (अथवा सृष्ट) होने वाला जगत् चेतन ही होगा। चेतन से जड़ की उत्पत्ति नही हो सकती। शैव-सिद्धान्त जगत् को जड़ मानता है क्योंकि जड़ (अचेतन) माया से उत्पन्न होने वाला जगत् जड़ ही होगा।[1]

---

१. काश्मीर शैव दर्शन में जगत को आभास मानने का कारण यह भी है कि शिव से भिन्न जगत् की सत्ता होने पर काश्मीर शैव ज्ञान मीमांसा के अनुसार इसका ज्ञान ही सम्भव नहीं होगा। यहाँ आत्मा से अलग अनात्म नाम की कोई वस्तु स्वीकार नहीं की गई है। अनात्म वस्तुओं को मानने पर दो अलग और स्वतन्त्र सत्ताएँ होंगी। आत्मा अनात्म नहीं हो सकता और जो अनात्म है वह आत्मा नहीं हो सकता

परमतत्त्व में क्रिया का समावेश न होने से अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म निष्क्रिय, तटस्थ, शक्तिरहित तथा आत्म-चेतना से भी रहित है, जबकि परमतत्त्व में क्रिया मानने के कारण काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त में शिव सक्रिय, स्रष्टा, शक्तिरूप तथा आत्म-चेतना से युक्त है। परमतत्त्व के स्वरूप विषयक अवधारणा को लेकर काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त में पूर्ण रूपेण साम्य है; यथा—दोनों ही दर्शनों में परमतत्त्व (परमशिव) शिव-शक्ति की सामरस्यात्मक अवस्थिति है। परमशिव शुद्ध, सत्, चित्, आनन्द तथा ज्ञान रूप है। दोनों ही दर्शनों में परमशिव में इच्छा, ज्ञान और क्रिया स्वातन्त्र्य है, आदि आदि। स्वरूप विषयक अवधारणा में पूर्ण साम्य होते हुए भी दोनों दर्शनों के परमतत्त्व विषयक अवधारणा में एक बात को लेकर मतभेद दिखाया जा सकता है। वह यह कि काश्मीर शैव-दर्शन में शिव अद्वितीय है अर्थात् उसके अतिरिक्त दूसरे की सत्ता नहीं है, परन्तु शैव-सिद्धान्त में शिव को इस अर्थ में अद्वितीय नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसके अतिरिक्त दो और नित्य सत्ताएँ हैं। शैव-सिद्धान्त में भी शिव अद्वितीय कहा जा सकता है, किन्तु कुछ भिन्न अर्थ में। शिव के समान कोई दूसरा तत्त्व नहीं है; आत्मा और माया पूर्णरूपेण शिव पर आश्रित हैं।

अद्वैत-वेदान्त में जगत् को बन्धन स्वरूप माना गया है, इसलिए जगत् को असत्य अथवा मिथ्या प्रतिपादित किया गया है। काश्मीर शैव दर्शन और शैव-सिद्धान्त में जगत् को बन्धन स्वरूप नहीं माना गया है; यहाँ बन्धन के कारण दूसरे तत्त्व हैं। काश्मीर शैव दर्शन में बन्धन का कारण माया के पंचकंचुक हैं तथा शैव-सिद्धान्त में बन्धन आणव मल के कारण है। अद्वैत-वेदान्त में जगत् परमतत्त्व पर आवरण अथवा अवरोध स्वरूप है, इसलिए जगत् का निषेध किया जाता है। काश्मीर शैव दर्शन में जगत् को अपने से भिन्न समझना ही बन्धन है, अतः जगत् को अपनाया जाता है। शैव-सिद्धान्त में जगत् मोक्ष के लिए साधन रूप है; इसका निषेध नहीं किया जा सकता।

जगत् को आवरण स्वरूप मानने के कारण अद्वैत-वेदान्त में जगत् को जहाँ (पारमार्थिक दृष्टि से) तुच्छ समझा जा सकता है, वहीं काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त में जगत् को सोद्देश्य प्रतिपादित किया गया है। किन्तु जगत् के प्रति समान भावात्मक दृष्टिकोण रखते हुए दोनों दर्शनों में सृष्टि के प्रयोजन विषयक अवधारणा में मतभेद है, जो दोनों दर्शनों में तत्त्व विषयक अवधारणा में मतभेद के

क्योंकि दोनों एक दूसरे से तम और प्रकाश की तरह परस्पर विरोधी हैं, इसलिये दोनो में किसी प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध नहीं हो सकता। किन्तु ज्ञान के लिये दोनों का परस्पर सम्बन्धित होना आवश्यक है।

कारण है। काश्मीर शैव दर्शन में शिव अपनी लीला के लिए सृष्टि करता है, जबकि शैव-सिद्धान्त में शिव आत्माओं की भलाई करने अथवा उन्हें मोक्ष प्राप्त कराने के लिए सृष्टि करता है। यह विषमता दार्शनिक संरचना की विषमता के कारण है, किन्तु उनकी अपनी दृष्टि में दोनों ही बातें संभव हैं।

काश्मीर शैव दर्शन में शिव किसी प्रयोजन से सृष्टि नहीं करता। सृष्टि-प्रलय उसका स्वभाव है। वह अपने स्वाभाविक आनन्द से यह क्रीड़ा करता है; यह उसका लीलाविलास है। काश्मीर शैव दर्शन का शिव किसी अन्य के लिए नहीं अपितु अपने लिए सृष्टि करता है क्योंकि यहाँ अन्य का सर्वथा अभाव है। सृष्टि करने में उसका कोई प्रयोजन भी नहीं हो सकता क्योंकि शिव में कोई कमी अथवा किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं हो सकती, जिसकी पूर्ति वह सृष्टि द्वारा करे। इसलिए निराकांक्ष और परिपूर्ण होने से शिव मात्र आत्म विनोद के लिए ही सृष्टि करता है।

शैव-सिद्धान्त की स्थिति काश्मीर शैव-दर्शन से भिन्न है। शिव अपने लिये सृष्टि नहीं कर सकता क्योंकि उसमें कोई कमी नहीं है। यहाँ भी सृष्टि को शिव की लीला मानने में कोई तार्किक व्याघात नहीं है। परन्तु शिव के अतिरिक्त अन्य (आत्मा) की सत्ता है, जिन्हें शिव की सहायता की अपेक्षा है, इसलिये यह माना जाता है कि शिव आत्माओं की भलाई अथवा मोक्ष के लिये सृष्टि करता है। इस कृत्य द्वारा भी वह आत्म-विनोद कर सकता है। परन्तु शिव के प्रेम-स्वरूप को मानने पर शैव-सिद्धान्त का विशेष आग्रह है, इसलिये यहाँ सृष्टि दूसरों (अर्थात् आत्माओं) के लिये ही मानी जाती है।

जगत् को असत्य मानने के कारण अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म जगत् से असम्बद्ध है क्योंकि सत्य ब्रह्म से असत्य जगत् सम्बन्धित नहीं हो सकता। किन्तु काश्मीर शैव-दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त में शिव और जगत् में अद्वैत सम्बन्ध माना गया है (यहाँ चूँकि जगत् सत्य है, इसलिये सत्य शिव से सम्बन्धित हो सकता है)। इस सम्बन्ध की व्याख्या के विषय में काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त में मतभेद है। काश्मीर शैव दर्शन में जगत् शिव का ही आभास है, जगत् शिव से भिन्न नहीं है, अतः शिव और जगत् में अद्वैत है। शैव-सिद्धान्त में शिव और जगत् में तात्त्विक द्वैत है, परन्तु शिव अपनी शक्ति द्वारा जगत् में अन्तर्भूत है तथा जगत् के साथ शक्ति की मध्यस्थता द्वारा सदैव अद्वैत सम्बन्ध में रहता है। यहाँ अद्वैत दो सत्ताओं के बीच सम्बन्ध में है।

अद्वैत-वेदान्त और काश्मीर शैव दर्शन शुद्ध अद्वैतवादी दर्शन हैं। इन दर्शनों में जीव तात्त्विक दृष्टि से परमतत्त्व ही है। किन्तु अद्वैत-वेदान्त में जहाँ जीव जगत् के प्रति तथा जागतिक कार्यों के प्रति उदासीन पाया जा सकता है (क्योंकि कर्म बन्धन

के कारक हैं) वहाँ काश्मीर शैव-दर्शन में जीव जगत् के प्रति उल्लास से परिपूर्ण होगा (क्योंकि मोक्ष की अवस्था में भी जागतिक कार्य संभव है)। जीव में जगत् के प्रति तथा जागतिक कार्यों के प्रति उल्लास शैव-सिद्धान्त में भी पाया जाता है (क्योंकि जागतिक कार्य मोक्ष के लिये साधन रूप हैं), किन्तु जीव विषयक अवधारणा को लेकर काश्मीर शैव-दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त में मतभेद है।

काश्मीर शैव-दर्शन में शिव ही जीव रूप ग्रहण करता है अर्थात् शिव और जीव तत्त्वतः एक ही हैं। शैव-सिद्धान्त में शिव और जीव तत्त्वतः दो हैं। इस तात्त्विक विभेद के अतिरिक्त दोनों दर्शनों में जीव के स्वरूप विषयक अवधारणा में पर्याप्त साम्य है। दोनों दर्शनों में जीव (आत्मा) सीमित इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति तथा क्रियाशक्ति से युक्त है। दोनों दर्शनों में आत्मा चित् रूप है तथा बन्धन का कारण अज्ञान है, जिसके कारण अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता। काश्मीर शैव-दर्शन में यह अज्ञान लीलावश पंचकंचुकों से लिप्त होने के कारण है, जबकि शैव-सिद्धान्त में यह अज्ञान आणव मल के कारण है जो अनादि काल से आत्मा के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित किये हुए हैं।

आत्मा के विषय में तत्त्व की दृष्टि से मतभेद रखते हुए भी काश्मीर शैव-दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त दोनों ही शिव और आत्मा का अद्वैत मानते हैं; यद्यपि इस अद्वैत की व्याख्या दोनों दर्शनों में भिन्न प्रकार से किया गया है। काश्मीर शैव दर्शन में शिव और आत्मा तत्त्वतः एक हैं, इसलिये यहाँ शुद्ध अद्वैत है। शिव स्वेच्छा से बन्धन में पड़ता है तथा बन्धन से आबद्ध शिव ही ससीम आत्मा (व्यक्ति) है। यद्यपि इस अवस्था में इसे (आत्मा को) शिव होने का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता अर्थात् यह अपने को पूर्णरूपेण जीव ही समझता है (इस प्रकार इसे स्वतन्त्र जीव कहा जा सकता है), परन्तु शिव का आत्मा से तादात्म्य बना ही रहता है, अर्थात् स्वरूप भेद (अथवा अवस्था भेद) होने पर भी तात्त्विक विभेद नहीं होता। इसलिये शिव और आत्मा का अद्वैत बना रहता है।

शैव-सिद्धान्त शिव और आत्मा का तात्त्विक द्वैत मानते हुए भी अद्वैत की स्थापना करता है, लेकिन काश्मीर शैव-दर्शन से भिन्न अर्थ में। काश्मीर शैव-दर्शन अद्वैत से एकम् अर्थात् एक सत्ता के अस्तित्व का अर्थ लेता है। शैव-सिद्धान्त 'अद्वैत' को इस अर्थ में ग्रहण नहीं करता है; वह दो सत्ताओं के बीच के सम्बन्ध को अद्वैत से परिभाषित करता है। शिव और आत्मा में व्यापी और व्याप्त का सम्बन्ध है। जिस प्रकार 'अ' स्वर सभी वर्णों में पाया जाता है, वैसे ही सर्वोच्च सत्ता (शिव) अनेक सीमित आत्माओं को व्याप्त करता है। स्वर व्यञ्जन नहीं हो सकते और व्यञ्जन स्वर नहीं हो सकते, परन्तु दोनों किसी परिणाम की उत्पत्ति के लिये एक हो

सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि तात्त्विक विभेद होते हुए भी शिव अपनी शक्ति द्वारा आत्माओं को व्याप्त कर अपने से अभेद सम्बन्ध में रखकर उन्हें (आत्माओं को) अनुप्राणित करता है।

अद्वैत सम्बन्ध मानते हुए भी दोनों दर्शनों में जीव कर्म करने के लिये स्वतन्त्र हैं, अर्थात् जीवों के कर्म के लिये जिम्मेदार शिव को नहीं माना गया है। इस सन्दर्भ की दोनों दर्शनों की व्याख्याएँ भिन्न हैं। काश्मीर शैव दर्शन में आत्मा की सभी शक्तियाँ सीमित होती हैं, किन्तु उनमें इच्छा स्वातन्त्र्य रहता है, जिसके कारण आत्मा (जीव) अपनी इच्छानुसार कर्म करता है। यद्यपि शिव जीव को प्रेरित अथवा नियन्त्रित कर सकता है, परन्तु आत्मा (जीव) को यह स्वातन्त्र्य (क्रिया स्वातन्त्र्य) प्राप्त है, जिसके कारण अपने कर्म का जिम्मेदार जीव ही होता है। शैव-सिन्द्धान्त में आत्मा कर्म करने के लिये ही जगत् में आता है, इसलिये अपने कर्मों के लिये जिम्मेदार भी वही है।

अद्वैत-वेदान्त में परमतत्त्व द्वारा सृष्टि की सभावना नही मानी गई है। परमतत्त्व में क्रिया का समावेश न होने के कारण यह सभावना नही की जा सकती। उसके अनुसार यदि परमतत्त्व द्वारा सृष्टि की सभावना मान ली जाय तो परमतत्त्व अपरिवर्त्य नहीं रह जायेगा तथा जगत् की मलिनता से मलिन भी हो सकता है। परन्तु काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त परमतत्त्व से जगत् की सृष्टि मानते हैं तथा परमतत्त्व को अपरिवर्त्य और निष्कलंक भी कहते हैं। काश्मीर शैव दर्शन सृष्टि की संभावना को अपने आभासवाद द्वारा तथा शैव-सिद्धान्त अपने सत्कार्यवाद द्वारा प्रतिपादित करता है।

दोनों दर्शनों में शिव जगत् का मूल कारण है तथा सृष्टि प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग लेता है। परन्तु शिव की कारणता के विषय में दोनों दर्शनों में मतभेद है। काश्मीर शैव दर्शन में शिव जगत् का निमित्त और उपादान दोनों कारण है, जबकि शैव-सिद्धान्त में शिव जगत् का केवल निमित्त कारण माना गया है। काश्मीर शैव-दर्शन में शिव अपनी इच्छा शक्ति से अपने स्वरूप में ही स्थित पदार्थों को बिना किसी उपादान के बाह्य प्रकट करता है। उसकी इच्छा मात्र से वस्तु सृष्टि हो जाती है। वास्तव में परमशिव के अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता नहीं है, इसलिये शिव को ही निमित्त और उपादान दोनों कारण मानकर सृष्टि की व्याख्या की जाती है।

शैव-सिद्धान्त की स्थिति काश्मीर शैव दर्शन से भिन्न है। यहाँ उपादान के लिये माया है, इसलिये शिव को केवल निमित्त कारण तथा माया को उपादान कारण मान कर जगत् की सृष्टि की व्याख्या की जाती है। शैव-सिद्धान्त अपने इस सिद्धान्त का

प्रतिपादन करते समय अभिन्न निमित्तोपादान कारणता का विरोध अथवा आलोचना करता है। उसके अनुसार चेतन शिव से जड़ जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार शिव को जगत् का उपादान कारण नहीं माना जा सकता। परन्तु दोनों ही स्थितियाँ संभव हैं। काश्मीर शैव दर्शन जगत् को शिव की मानसी सृष्टि (Ideation) मानता है (जैसे मनुष्य स्वप्न जगत् या कल्पना लोक का निर्माण कर लेता है)। इसलिये शिव को निमित्त तथा उपादान कारण भी माना जा सकता है। कारणता विषयक इस मतभेद के कारण ही दोनों दर्शनों मे सृष्टि-कार्य के सम्पादन के ढग की व्याख्या में विचार वैषम्य पाया जाता है। काश्मीर शैव दर्शन में शिव ही एकमात्र कारण होने से जगत् को अपने में से ही बाह्य अभिव्यक्त करता है, जबकि शैव-सिद्धान्त में शिव अपनी शक्ति द्वारा माया को संचालित कर माया से जगत् का विकास करता है।

काश्मीर शैव दर्शन में जगत् शिव की मानसी सृष्टि अथवा काल्पनिक सृष्टि (Ideation) होने से शिव अपरिवर्त्य रहता है। जिस प्रकार हम अपने कल्पनालोक का निर्माण कर लेते हैं, परन्तु स्वय अपरिवर्त्य रहते हैं, उसी प्रकार शिव सृष्टि करने से अपरिवर्त्य ही रहता है तथा इसकी मलिनता से भी मलिन नहीं होता। शैव-सिद्धान्त में शिव केवल निमित्त कारण है, अतः शिव में परिवर्तन होने की संभावना नहीं हो सकती तथा चूँकि शिव शक्ति की मध्यस्थता द्वारा जगत् से सम्बन्धित है तथा जगत् से परे भी है, इसलिये जगत् की मलिनता से मलिन नहीं हो सकता।

अद्वैत-वेदान्त परमतत्त्व द्वारा सृष्टि की संभावना ही नहीं मानता, जबकि काश्मीर शैव दर्शन और शैव-सिद्धान्त अत्यन्त सुनियोजित ढंग से सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन करते हैं। परन्तु दोनों दर्शनों की सृष्टि-प्रक्रिया में पर्याप्त मतभेद मिलता है। यद्यपि दोनों ही दर्शनों में सृष्टि के छत्तीस तत्त्वों का विवरण है और जो सामान्यतः एक प्रकार के ही हैं, किन्तु कुछ बातों को लेकर उनमें असमानताएँ देखी जा सकती हैं।

काश्मीर शैव दर्शन में शिव स्वयं को ही सृष्टि के छत्तीस तत्त्वों में अभिव्यक्त करता है। इन तत्त्वों में से प्रत्येक आभास है। इन आभासों के निश्चित संयोग का परिणाम सम्पूर्ण जगत् है। ये तत्त्व परमतत्त्व की अभिव्यक्ति हैं। ये मूलतः परमतत्त्व के तदनरूप (Identical) ही हैं तथा चेतन हैं, क्योंकि चैतन्य का आभास चैतन्य ही होता है। शैव-सिद्धान्त के छत्तीस तत्त्व माया के विकास हैं, इसलिये (शुद्ध अध्वा के तत्त्वों को छोड़कर) यथार्थ (real) हैं, किन्तु शिव अपनी शक्ति द्वारा इनसे सदा सम्बन्धित ही रहता है।

काश्मीर शैव दर्शन में शिव तत्त्व से लेकर शुद्ध विद्या तत्त्व तक को शुद्ध-अध्वा की सृष्टि शिव बिना किसी सहायक के या अन्य वस्तुओं के माध्यम से सीधे अभिव्यक्त करता है। शैव-सिद्धान्त में शुद्ध-अध्वा की सृष्टि शुद्ध माया द्वारा होती है। काश्मीर शैव दर्शन के शुद्ध-अध्वा में माया का कोई प्रभाव नहीं रहता और शैव-सिद्धान्त में भी शुद्ध-अध्वा तक किसी मल का समावेश नहीं रहता।

दोनों दर्शनों के शुद्ध-अध्वा के पाँच तत्त्वों में स्थित शक्तियों के विषय में कुछ मतभेद हैं। शिव और शक्ति की अवधारणा के विषय में दोनों दर्शनों में साम्य है, किन्तु सदाशिव, ईश्वर (महेश्वर) और सद्‌विद्या को लेकर मतभेद हैं। काश्मीर शैव दर्शन के सदाशिव तत्त्व में इच्छा शक्ति का प्रावल्य है (यहाँ इच्छा पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाती है) जबकि शैव-सिद्धान्त के सदाशिव में ज्ञान और क्रिया शक्ति का साम्यावस्था है। काश्मीर शैव दर्शन के ईश्वर तत्त्व में ज्ञान शक्ति का प्राबल्य होता है, जबकि शैव-सिद्धान्त के ईश्वर तत्त्व में क्रिया-शक्ति का ज्ञान और इच्छा शक्ति पर प्रावल्य होता है। काश्मीर शैव दर्शन के सद्‌विद्या तत्त्व में क्रिया शक्ति की प्राबल्य होता है जबकि शैव-सिद्धान्त के सद्‌विद्या तत्त्व में ज्ञान का क्रिया और इच्छा शक्ति पर प्राबल्य होता है।

काश्मीर शैव दर्शन में माया सृष्टि के विकास का छठा तत्त्व है, इस प्रकार यह उत्पन्न है, जबकि शैव-सिद्धान्त में माया अपने अस्तित्व के लिये किसी पर आश्रित नहीं है। यह नित्य सत्ता है। इस विभेद के अलावा दोनों दर्शनों के माया के स्वरूप विषयक अवधारणा में साम्य है, यथा—माया शिव की परिग्रह शक्ति है तथा मोह एवं भ्रामक ज्ञान का कारण है। परन्तु काश्मीर शैव दर्शन की माया जहाँ विभ्रम द्वारा बन्धन का निर्माण करती है, वहाँ शैव-सिद्धान्त की माया विभ्रम द्वारा बन्धन को दूर करने का उपाय करती है।

दोनों दर्शनों के पुरुष तत्त्व विषयक अवधारणा में तात्त्विक दृष्टि से मतभेद हैं, किन्तु स्वरूप की दृष्टि से साम्य है। काश्मीर शैव दर्शन में परमशिव ही पुरुषतत्त्व के रूप में अवभासित होता है। जब वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर अज्ञानी हो जाता है तो वही पुरुष तत्त्व हो जाता है। यह अज्ञान माया के पंचकंचुकों से लिप्त होने के कारण होता है। शैव-सिद्धान्त में आत्मा जब माया के पंचकंचुको से निर्मित आवरण को धारण कर लेता है तो वही पुरुष तत्त्व कहा जाता है। दोनों ही दर्शनों का पुरुष तत्त्व अपने वास्तविक स्वरूप से अज्ञानी रहता है तथा इसकी वास्तविक शक्तियाँ सीमित रूप में होती हैं। दोनों में अन्तर केवल यह है कि काश्मीर शैव-दर्शन का पुरुष तात्त्विक दृष्टि से शिव है, जबकि शैव-सिद्धान्त का पुरुष तात्त्विक दृष्टि से आत्मा है।

सांख्य दर्शन में पुरुष तत्त्व की अवधारणा है, किन्तु उसकी पुरुष विषयक मान्यताओं तथा इन दर्शनों की पुरुष विषयक मान्यताओं में पर्याप्त मतभेद है। सांख्य दर्शन में पुरुष निष्क्रिय तथा उदासीन है, जबकि इन दर्शनों में पुरुष सक्रिय है तथा उदासीन नहीं है। सांख्य में पुरुष अपने अज्ञान के कारण बन्धन में हैं तथा मोक्ष के लिए प्रकृति पर निर्भर है। वास्तव में प्रकृति ही उसे बन्धन तथा मोक्ष की अवस्था में डालती है। पुरुष स्वयं अपने मोक्ष के लिए कुछ नहीं कर सकता क्योंकि वह निष्क्रिय तो है ही उदासीन भी है। काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त में पुरुष अपने मोक्ष के लिए स्वयं प्रयास करता है। यद्यपि मोक्ष के लिए यह शिव पर निर्भर है, किन्तु इसे मोक्ष के लिए प्रयास (कर्म) करने का स्वातन्त्र्य प्राप्त है।

प्रकृति विषयक अवधारणा में काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त में साम्य है। इस सम्बन्ध में सांख्य की प्रकृति विषयक अवधारणा से इन दर्शनों का मतभेद है। सांख्य दर्शन में प्रकृति सृष्टि के तत्त्वों के विकास का मूल कारण है, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त में यद्यपि प्रकृति कुछ तत्त्वों के (प्रकृति के बाद के तत्त्वों के) विकास का कारण है, किन्तु यह स्वयं भी सृष्टि विकास के तत्त्वों में एक तत्त्व है। इन दर्शनों में सृष्टि का मूल कारण प्रकृति को नहीं माना गया है। काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि का मूल कारण शिव है तथा शैव-सिद्धान्त में सृष्टि के तत्त्वों का विकास माया से होता है। सांख्य में गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। इस प्रकार प्रकृति को गुणों का कारण होना नहीं कहा जा सकता। परन्तु शैव-सिद्धान्ती प्रकृति को गुणों का कारण रूप मानते हैं। सांख्य में प्रकृति बिना किसी ईश्वरादि बाह्य संचालक के ही गुणों के विक्षोभ से सृष्टि-विकास करने लगती है, जबकि काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त में शिव के हस्तक्षेप से प्रकृति विकास करती है।

प्रकृति के बाद के तत्त्वों के विषय में प्रायः सांख्य, काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त में साम्य ही पाया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आगमिक परंपरा का दर्शन होने से इन दर्शनों (काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त) में आगमिक परंपरा की विशिष्टताएँ स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं। एक ही परंपरा का दर्शन होने से इनके दृष्टिकोण समान ही हैं। इन दर्शनों में जो कुछ भी मतभेद पाया जाता है, वह मात्र तत्त्व विषयक मान्यता के मतभेद के कारण है। काश्मीर शैव दर्शन एक मात्र परमतत्त्व की सत्ता मानने के कारण, इस मान्यता के अनुरूप ही (अर्थात् आभासवादी) दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है तथा शैव-सिद्धान्त तीन नित्य तत्त्व मानने के कारण इस मान्यता के अनुरूप ही (अर्थात् यथार्थवादी) दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार सृष्टि के आभासवादी और यथार्थ-

वादी व्याख्या में जो अन्तर हो सकता है, वही अन्तर इनमें है ।

इस प्रकार शैव-सिद्धान्त की विशेषताएँ स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं । इन विशेषताओं में उल्लेखनीय है स्वातन्त्र्यवाद । काश्मीर शैव दर्शन में शिव के स्वातन्त्र्य पर विशेष आग्रह है । शिव सृष्टि करने के लिए स्वतन्त्र है । यदि वह न चाहे तो सृष्टि नहीं भी हो सकती है । शैव-सिद्धान्त में सृष्टि की व्याख्या यद्यपि स्वातन्त्र्यवाद कह कर नहीं वरन् प्रेमवाद द्वारा की गई है, किन्तु वस्तुतः यहाँ भी स्वातन्त्र्यवाद ही है । जगत् बीज रूप में अपने उपादान कारण माया में विद्यमान रहता है, किन्तु उसका व्यक्त होना शिवेच्छा पर ही निर्भर है । शिव आत्माओं के प्रति प्रेम के कारण ही सृष्टि करता है, इसलिए यहाँ सृष्टि की व्याख्या प्रेमवाद द्वारा की जाती है । किन्तु प्रेम में किए गये कार्यों में बाध्यता नहीं होती, इसमें कर्ता का स्वातन्त्र्य होता है । अतः शैव-सिद्धान्त में भी सृष्टि होना शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है ।

इन विशेषताओं के अतिरिक्त दोनों दर्शनों में पर्याप्त समानताएँ तथा विषमताएँ हैं । एक आभासवादी दर्शन है तथा दूसरा यथार्थवादी है । यह महत्वपूर्ण भेद होते हुए भी दोनों दर्शनों प्रतिपाद्य की दृष्टि से साम्य है, जैसे दोनों ही दर्शनों में शिव को शक्तिरूप, क्रियारूप, ज्ञानरूप, विश्वमय, विश्वोत्तीर्ण तथा पूर्ण स्वतन्त्र माना गया है और जगत् के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है । इन समानताओं तथा असमानताओं के आधार पर दोनों दर्शनों में सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है ।

दृष्टिकोण की समानता होने पर भी दोनों दर्शनों में प्राप्त वैचारिक विषमता के आधार पर काश्मीर शैव दर्शन को आगमिक परंपरा का ज्ञानमार्गी दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त को भक्ति मार्गी दर्शन कहा जा सकता है । यह कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि काश्मीर शैव दर्शन में भक्ति का समावेश नहीं है अथवा शैव-सिद्धान्त ज्ञान-मीमांसा का प्रतिपादन नहीं करता, बल्कि यह कि काश्मीर शैव दर्शन आगम की ज्ञान मीमांसीय व्याख्या करता है तथा शैव-सिद्धान्त आगम की भक्ति मीमांसीय व्याख्या करता है । दोनों दर्शनों की मान्यताओं का सर्वेक्षण करने से ऐसा प्रतीत होता है कि काश्मीर शैव दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन ज्ञान को मूल में रख कर किया गया तथा शैव-सिद्धान्त को भक्ति पर आधारित संरचित किया गया । इस कथन की पुष्टि दोनों दर्शनों की वैचारिक-संरचना में प्राप्त असमानताओं (मतभेद) के आधार पर की जा सकती है ।

काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि की व्याख्या लीलावाद द्वारा की गई है तथा शैव-सिद्धान्त में यह व्याख्या प्रेमवाद[1] द्वारा की गई है । काश्मीर शैव दर्शन में एक ही

१ शिव आत्माओं के प्रति अपने प्रेम के कारण ही सृष्टि करता है, इसलिये इसे

तत्त्व परमशिव की अवधारणा है, सृष्टि जिसकी लीला है तथा शैव-सिद्धान्त में तीन तत्त्वों (पति, पशु, पाश) की परिकल्पना है। तत्त्व विषयक अवधारणा के इस मतभेद के कारण ही दोनों दर्शनों के मार्ग दो हो जाते हैं। काश्मीर शैव दर्शन का लक्ष्य शिव-ज्ञान प्राप्ति है जबकि शैव-सिद्धान्त का लक्ष्य शिव-सान्निध्य की प्राप्ति है। शिव-ज्ञान प्राप्ति लक्ष्य होने के कारण काश्मीर शैव दर्शन में ज्ञान पर आग्रह विशेष है तथा शिव-सान्निध्य लक्ष्य होने से शैव-सिद्धान्त में भक्ति पर विशेष आग्रह है। इस मान्यता के कारण ही काश्मीर शैव-दर्शन में शिव का हर कृत्य उसकी लीला है तथा शैव-सिद्धान्त में शिव का प्रत्येक कृत्य उसके प्रेम के कारण है।

काश्मीर शैव दर्शन में आत्मा और शिव का मूलतः विभेद नहीं है। शिव जब स्वेच्छा से माया से युक्त होकर प्राणी रूप ग्रहण करता है; तब आत्मा और शिव का विभेद होता है। इस अवस्था में आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है। यह शिव की बद्धावस्था है। काश्मीर शैव दर्शन में इस अवस्था में भक्ति का अभिधान है। आत्मा अपने मोक्ष के लिये शिव की भक्ति करता है। शिव के अनुग्रह से उसे स्वरूप ज्ञान होता है। स्वरूप-ज्ञान हो जाने पर आत्मा शिव हो जाता है। इस अवस्था में ज्ञान का महत्त्व है। ज्ञानोदय हो जाने पर भक्ति भी शिव के लीला में रूपान्तरित हो जाती है।

शैव सिद्धान्त आत्मा और शिव दोनों को शाश्वत तत्त्व मानता है। आत्मा ससीम है और शिव असीम है। आत्मा अनादिकाल से आणव से आवृत्त अथवा संसिक्त है। इस कारण अपने वास्तविक स्वरूप और शक्तियों से अनभिज्ञ है। आत्मा भी शुद्ध चेतन स्वरूप है, उसके पास भी ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति और इच्छा शक्ति हैं परन्तु वे सीमित हैं। अपने मोक्ष के लिये आत्मा शिव पर आश्रित है। आश्रित होने के कारण भक्ति भावना का समावेश स्वाभाविक है। सर्वशक्तिमान् अखिलेश्वर परमशिव ही उसे आणवमल के प्रभाव से बचा सकता है। शैव-सिद्धान्ती यह कभी पसन्द नहीं करेंगे कि उनका शिव किसी की उपासना करे चाहे उपास्य स्वयं शिव ही क्यों न हो। इसलिये वे आत्मा को एक अलग तत्त्व मानते हैं। आत्मा एक स्वतन्त्र तत्त्व है परन्तु वह अपनी हर कार्य विधि के लिये शिव पर आश्रित है। शैव-सिद्धान्ती शिव के परम पद में किसी प्रकार की कमी आने नहीं देते। आत्मा शिव के अनुग्रह से स्वरूप ज्ञान कर लेता है फिर भी सेवक ही कहा गया है। आत्मा शिव के अनुग्रह से ज्ञानोदय के कारण ही स्वरूप ज्ञान करता है परन्तु इस अवस्था में भी भक्ति का ह्रास नहीं होता। यहाँ ज्ञान साधन मात्र है साध्य नहीं। भक्ति आत्मा की हर उन्नति

प्रेमवाद कहा जा सकता है।

के मूल में है और चरम अवस्था में भी बनी रहती है। भक्ति की यह भावना शैव-सिद्धान्त के सम्पूर्ण दार्शनिक संरचना को प्रभावित करती है।

ज्ञान भावना का प्राबल्य किस प्रकार काश्मीर शैव दर्शन को प्रभावित करता है और भक्ति भावना का प्राबल्य किस प्रकार शैव-सिद्धान्त को प्रभावित करता है, यह दोनों दर्शनों के सृष्टि-प्रक्रिया के क्रम में देखा जा सकता है। इस क्रम में सर्वप्रथम शिव का स्वरूप निरूपण आता है। दोनों दर्शनों में शिव को शुद्ध चेतन होने पर भी आत्म चेतना से युक्त माना गया है। शिव को अनुग्रह स्वरूप दोनों दर्शनों में माना गया है। शिव अपने अनुग्रह द्वारा आत्माओं को मोक्ष प्रदान करता है। काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि शिव का सहज कार्य है। वह सृष्टि करने के लिये बाध्य नहीं है। वह चाहे तो सृष्टि नहीं भी कर सकता है। इस प्रकार शिव का अनुग्रह भी सहज कार्य है। वह अपने अनुग्रह द्वारा स्वयं शिवरूप होता है। यदि चाहे तो वह आत्मविस्मृति में ही रह सकता है। यहाँ अनुग्रह भी अन्ततः लीला ही है जो किसी भावना से प्रेरित नहीं हो सकता। इस सन्दर्भ में शैव-सिद्धान्त की स्थिति थोड़ी भिन्न है। शैव-सिद्धान्त में सृष्टि एक दया-कार्य माना गया है। शिव अनुग्रह स्वरूप है। वह आत्माओं को अपने अनुग्रह द्वारा मोक्ष प्रदान करता है। यहाँ भी शिव सृष्टि करने के लिये बाध्य नहीं है। वह चाहे तो सृष्टि नहीं भी कर सकता है। शैव-सिद्धान्त में शिव प्रेम स्वरूप माना गया है। शिव आत्माओं को प्रेम करता है। इस प्रेम के ही कारण वह सृष्टि करता है। जिसका स्वरूप ही प्रेम है वह अपने प्रेमियों पर अनुग्रह करेगा ही। शैव-सिद्धान्त का शिव अपना हर कार्य आत्माओं के प्रति अपने प्रेम के कारण ही संपादित करता है। काश्मीर शैव-दर्शन में शिव के प्रेम स्वरूप पर उतना आग्रह नहीं है जितना शैव-सिद्धान्त में है। प्रेम शब्द दो के बीच सम्बन्ध आपादित करता है। स्वयं को ही प्रेम करना कोई अर्थ नहीं रखता। काश्मीर शैव-दर्शन का शिव नितान्त अकेला है। इसमें ज्ञान हो सकता है लेकिन प्रेम जैसी भावना नहीं। शैव-सिद्धान्त का शिव प्रेम से ओत-प्रोत है। उसे प्रेम करने के के लिए आत्माएँ हैं। दो के बीच सम्बन्ध स्थापन भावनाओं के माध्यम से ही होता है। शिव और आत्मा के बीच यह भावना प्रेम की है जो भक्ति का मूल तत्त्व है।

शिव की स्वरूप सम्बन्धी यह मान्यता दोनों दर्शनों में सृष्टि के प्रयोजन को प्रभावित करती है। काश्मीर शैव-दर्शन के अनुसार सृष्टि में शिव का कोई प्रयोजन निहित नहीं है। सृष्टि शिव के आनन्द का सहज उच्छलन है। शिव आत्मरमण के लिये सृष्टि को अभिव्यक्त करता है। सृष्टि स्वयं के लिये है, इसलिये कोई प्रयोजन निहित होना उचित भी प्रतीत नहीं होता। शिव पूर्ण सत्ता है, उसे किसी भी प्रकार के कुछ और की आवश्यकता नहीं है जिसकी प्राप्ति वह सृष्टि द्वारा करना चाहे।

यहाँ ज्ञान भावना का चरमोत्कर्ष है जहाँ शिव में चेष्टा का भी समावेश नहीं किया गया है। काश्मीर शैव दार्शनिक अपने शिव के परम पद को बनाये रखने के लिये सन्नद्ध हैं। किसी भी प्रकार का चेष्टा या प्रयोजन शिव की सर्वोच्चता में कमी ला सकता है। शैव-सिद्धान्त में भी शिव पूर्ण सत्ता हैं। परन्तु उनका दृष्टिकोण इससे कुछ भिन्न है। शैव-सिद्धान्त की सृष्टि सोद्देश्य है। इसमें एक दिव्य प्रयोजन निहित है। शिव आत्माओं को प्रेम करता है। वह सृष्टि द्वारा आत्मा की भलाई करना चाहता है। वस्तुतः आत्मा के मोक्ष के लिए ही वह सृष्टि करता है। आत्मा आणवमल से ग्रस्त होने के कारण अपने मोक्ष के लिए प्रयास भी नहीं कर सकता। वह अत्यन्त असहाय है। शैव-सिद्धान्त का शिव जो प्रेम स्वरूप है, आत्माओं का कष्ट देख नहीं सकता। वह सृष्टि द्वारा उन्हें सभी अपेक्षित सामग्री प्रदान करता है, यथा—इन्द्रियों से युक्त शरीर और जगत्। यदि शिव आत्माओं की सहायता न करे, उससे प्रेम सम्बन्ध न रखे तो उसमें आस्था भी नहीं रखी जा सकती। भक्ति साधना में आस्था प्राथमिक आवश्यकता है। सामान्यतः व्यक्ति में ईश्वर के प्रति आस्था तभी आती है जब वह अपने को असहाय पाता है और उसे आशा की एक किरण ईश्वर में दिखाई देती है, जो उसकी सहायता कर सकता है। भक्ति भावना का आरम्भ यहीं से होता है। यह भी एक तथ्य है कि बिना आस्था के ज्ञान प्राप्त भी नहीं किया जा सकता। शैव-सिद्धान्ती इस तथ्य को अच्छी तरह समझते हैं। इसलिए उन्होंने शिव को परम उदार और आत्माओं का सहायक माना है। इससे महान् बात और क्या हो सकती है जहाँ सम्पूर्ण सृष्टि ही आत्माओं की सहायता के लिए की गई है। शैव-सिद्धान्त का यह विचार उसे अन्य दर्शनों से विशिष्टता और लोकप्रियता प्रदान करता है।

सृष्टि का प्रयोजन सम्बन्धी यह विचार दोनों दर्शनों में जगत् सम्बन्धी विचार को प्रभावित करता है। काश्मीर शैव दर्शन में जगत् शिव की अभिव्यक्ति है। स्वयं शिव ही जगत् रूप में अभिव्यक्त है। इस प्रकार जगत् शिवमय है। शिव अपने आनन्द के लिए सृष्टि को अभिव्यक्त करता है, इसलिए जगत् आनन्द स्वरूप है। सामान्य अर्थ में इसे शिव के आनन्द अथवा भोग की वस्तु कहा जा सकता है। शैव-सिद्धान्त में शिव जगत् की सृष्टि करता है। यहाँ भी जगत् भोग की वस्तु है परन्तु यह भोग मात्र आनन्द के लिए नहीं है। इस भोग में भी एक दिव्य प्रयोजन निहित है। जगत् आत्मा के लिए साधन है, अभीष्ट नहीं। आत्मा जगत् के भोग द्वारा अनुभव प्राप्त करता है। यह जगदनुभव उसे मलपरिपाक की अवस्था में ले जाता है, जिस अवस्था में उसे मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। जगत् का निषेध न तो काश्मीर शैव दर्शन ही करता है और न शैव-सिद्धान्त ही। दोनों ही जगत् को ग्राह्य करते हैं परन्तु कुछ भिन्न अर्थ में काश्मीर शैव दर्शन का जगत् ग्राह्य है क्योंकि वह शिव रूप है। शैव-सिद्धान्त क

जगत् ग्राह्य है क्योंकि वह अभीष्ट का साधन है। काश्मीर शैव दर्शन में शिव और जगत् का तात्त्विक अद्वैत है। शैव-सिद्धान्त में शिव और जगत का सम्बन्ध अद्वैत है। शिव जगत में अन्तर्भूत है। यहाँ भी दोनों की मान्यताओं में अन्तर उनमें ज्ञान भावना और भक्ति भावना के प्राबल्य के कारण है। काश्मीर शैव दर्शन में शिव-जगत् सम्बन्ध सत्तामूलक अर्थ रखता है। शिव की सत्ता से अलग कोई अन्य सत्ता नहीं हो सकती, इसलिए जगत् शिवमय है। परन्तु शिव अत्यन्त व्यापक है। वह केवल जगत में ही अभिव्यक्त हो कर नहीं रह सकता। वह जगत् से परे भी है इसलिए जगत को शिव का आभास मान लिया जाता है। शैव-सिद्धान्त के शिव की सत्ता जगत् से भिन्न है। वह जगत् से परे है। बिना जगत् से सम्बन्ध स्थापित किए वह आत्मा का हित साधन नहीं कर सकता। इसलिए वह उसी समय जगत् में अन्तर्भूत भी है। दोनों दर्शनों में शिव को जगत् में अन्तर्भूत माना गया है परन्तु शिव की अन्तर्यामिता के कारण भिन्न हैं। काश्मीर शैव दर्शन का शिव जगत् में इसलिए अन्तर्भूत है क्योंकि जगत् उसका आभास है। उससे अलग होकर जगत अस्तित्व में नहीं रह सकता। शैव-सिद्धान्त का शिव आत्मा के प्रति अपने प्रेम के कारण जगत् में अन्तर्भूत होता है। काश्मीर शैव दर्शन के शिव के लिए अन्तर्यामिता एक ज्ञानमीमांसीय बाध्यता है। शैव-सिद्धान्त के शिव के लिए इस प्रकार की बाध्यता नहीं है। वह चाहे तो जगत् से अपना कोई भी सम्बन्ध नहीं रख सकता। परन्तु अपने प्रेम के कारण वह जगत् की सृष्टि करता है। अतः जगत् में अन्तर्भूत होना उसके स्वरूप में ही निहित है। यहाँ भी शैव-सिद्धान्ती अपनी भक्ति का मार्ग प्रशस्त रखते हैं। जगत् में अन्तर्भूत होने से शिव का अनुग्रह आत्मा को बराबर मिलता रहता है। काश्मीर शैव दर्शन का शिव मोक्ष के समय अनुग्रह करता है जो शक्तिनिपात कहा जाता है। शैव-सिद्धान्त का शिव हर समय अनुग्रह करता है। काश्मीर शैव दर्शन का शिव अपने अनुग्रह द्वारा स्वयं को ही मुक्त करता है। यहाँ मोक्ष भी उसकी लीला ही है। शैव-सिद्धान्त का शिव अपने लिए कोई कार्य नहीं करता, वह अनुग्रह द्वारा आत्माओं को मुक्त करता है। इस मान्यता से भी शैव-सिद्धान्त में भक्ति भावना को प्रेरणा मिलती है।

जगत् सम्बन्धी विचार में निहित तत्त्व दोनों दर्शनों के कारणता सिद्धान्त को प्रभावित करते हैं जिस पर दोनों दर्शनों की सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया आधारित है। काश्मीर शैव दर्शन का शिव ही अकेले सब कुछ है, इसलिए वह जगत का निमित्त और उपादान कारण दोनों है। जगत् के उपादान के लिए शिव किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता, इसलिए स्वयं को ही उपादान रूप में प्रयोग करता है। शैव-सिद्धान्त का शिव भी सृष्टि का सब कुछ है परन्तु स्वामित्व के अर्थ में। वह सभी कुछ का स्वामी है। उसके नियन्त्रण में सारी सृष्टि प्रक्रिया संपादित होती है। शैव-

सिद्धान्त का शिव जगत् का केवल निमित्त कारण है। शैव-सिद्धान्ती शिव को जगत् जैसी वस्तु का उपादान नहीं मान सकते। क्योंकि इस प्रकार की धारणा उनकी भक्ति भावना के प्रतिकूल होगी। शैव-सिद्धान्त में जगत् का उपादान कारण माया हैं। शिव की शक्ति माया को उपादान रूप में प्रयुक्त कर सृष्टि करती है। जगत् को शिव से अभिन्न प्रतिपादित करने के लिए ही काश्मीर शैव दर्शन शिव को ही उपादान कारण मानता है। किसी अन्य को उपादान कारण मानने से ज्ञानमीमांसीय दृष्टि में इस अभिन्नता में अन्तर अथवा कुछ कमी आ सकती है। शैव-सिद्धान्त में यह अभिन्नता शिव की अरुल शक्ति द्वारा कायम रखी जाती है। काश्मीर शैव दर्शन का शिव ही स्वयं को सृष्टि के विकास तत्त्वों में अवतरित अथवा विकसित करता है शैव-सिद्धान्त में सृष्टि का सम्पूर्ण विकास माया से होता है। शिव सृष्टि तत्त्वों में अन्तर्भूत होता है। काश्मीर शैव दर्शन में ज्ञानमीमांसा की पराकाष्ठा है जहाँ सृष्टि-विकास के सम्पूर्ण तत्त्व शिव ही हैं। शैव-सिद्धान्त में भक्ति भावना की पराकाष्ठा है जहाँ सृष्टि-विकास के सम्पूर्ण तत्त्वों में शिव अन्तर्भूत है, किन्तु उसका किसी भी प्रकार का अवरोहण नहीं होता। परमशिव का किसी प्रकार का अवरोहण उसकी सर्वोच्चता में कमी ला सकता है जो एक भक्त को कभी मान्य नहीं हो सकता।

काश्मीर शैव दर्शन में शिव स्वयं को सृष्टि तत्त्वों में अभिव्यक्त करता है; जो ज्ञानमीमांसा के लिए उचित है। शैव-सिद्धान्त का शिव सृष्टि का नियन्त्रण करता है जो स्वामित्व का द्योतक है, इसलिए एक उपास्य के लिए आवश्यक है।

●

ग्रन्थ सूची

कामिकागम : प्रतिष्टाद्युत्सवान्त ग्रन्थ, सद्योज्योति शिवाचार्य, १९१६

किरणागम : देवकोट्टै, शिवागम-सिद्धान्त-परिपालन, १९३२

अजीत-आगम : भाग १ (१९६४), भाग २ (१९६७), इन्स्टीच्यूट फ्रैंकैस डी इन्डोलाजी, पान्डिचेरी,

पारमेश्वर-तन्त्रम : तन्त्र संग्रह, सन्करप्पा अचप्पा टोपिगी, मैसूर, १९१८

रौरवागम : भाग १, एल 'इन्स्टीच्यूट फैन्केस डी' इन्डोलाजी पान्डिचेरी, १९६१

मातन्ग-पारमेश्वर-आगम : (विद्यापाद) १९२८, देवकोट्टै शिवागम संघ परिपालन

मृगेन्द्र-तन्त्रम : विद्यापाद और योगपाद पर नारायण कण्ठ की टीका सहित, काश्मीर सीरीज, टेक्स्ट एण्ड सृडीज, १९३०

पौष्कर-आगम : (ज्ञानपाद) उमापति शिवाचार्य के भाष्य सहित, अम्बलवन नवलर, १९२५

सकलागम-सार-संग्रह : शन्मुग सुन्दर मुदलियार, १८९८, मद्रास

सूक्ष्म-तन्त्रम : तन्त्र संग्रह, सन्करप्पा अचप्पा तोपिगी, मैसूर, १९१४

भोगराग, तत्त्व-प्रकाशिका अघोर शिव की टीका सहित : देवकोट्टै शैवागम-संघ परिपालन, १९२६

सद्योज्योति तत्त्व संग्रह : देवकोट्टै-संघ-परिपालन, १९२६

सद्योज्योति तत्त्व-त्रय-निर्णयम : देवकोट्टै-संघ-परिपालन, १९२६

सद्योज्योति, भोग-कारिका : देवकोट्टै-संघ-परिपालन, १९२६

सद्योज्योति, मोक्ष-कारिका : देवकोट्टै-संघ-परिपालन, १९२६

नाद कारिका, भट्टराम कण्ठ : देवकोट्टै-संघ-परिपालन, १९२६

शिवज्ञानबोधम पर भाष्य, शिवाग्रयोगी : १९२०, मद्रास

शिवज्ञान बोध वृत्ति, ज्ञान प्रकाशर : कैलास पिल्लै, जफना १९२७

शैव-परिभाषा, शिवाग्र योगी : ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट प्रकाशन, मैसूर, १९५०

शैव-सिद्धान्त-परिभाषा, श्री सूर्य शिव : देवकोट्टै शैवागम-संघ परिपालन, १९२८

शैव-सन्यास पद्धति, शिवाग्रयोगी : देवकोट्टै, १९२१

शिवार्चना चन्द्रिका, अप्पय दीक्षित : देवकोट्टै, १९२१

शैवोपनिषद : थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाउस, आडियार, १९५३

शिव महापुराणम : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९७२

शिवाद्वैत निर्णय, अप्पय दीक्षित : युनिवर्सिटी ऑफ मद्रास, १९३९

तिरुमुरै

प्रथम तिरुमुरै, सम्बन्दर तेवारम : धरमपुरा आदिनाम, १९५३
द्वितीय तिरुमुरै, सम्बन्दर तेवारम : धरमपुरा आदिनाम, १९५४
तृतीय तिरुमुरै, सम्बन्दर तेवारम : धरमपुरा आदिनाम, १९५५
चतुर्थ तिरुमुरै, अप्पर तेवारम : धरमपुरा आदिनाम, १९५७
पंचम तिरुमुरै, अप्पर तेवारम : धरमपुरा आदिनाम, १९६३
षष्ठम तिरुमुरै, अप्पर तेवारम : धरमपुरा आदिनाम, ११६३
सप्तम तिरुमुरै, सुन्दरर तेवारम : धरमपुरा आदिनाम, १९६४
आठवीं तिरुमुरै, मनिक्कवासकर तिरुवाचकम और तिरुक्कोवै : धरमपुरा आदिनाम १९६९
नवीं तिरुमुरै, तिरुविसैप्पा और तिरुप्पलान्दु, सेन्तनार और अन्य : धरमपुरा आदिनाम १९७१
दसवीं तिरुमुरै, तिरुमन्तिरम, तिरुमूलर : वी० वी० रमन शास्त्री प्रकाशन, मद्रास, १९०९
ग्यारहवीं तिरुमुरै, समाजम, पत्तिनत्तार और अन्य की : मद्रास, १९४१
बारहवीं तिरुमुरै, पिरियापुराणम, शेक्किलार : नावलर प्रकाशन, मद्रास, १९२८

सहायक ग्रन्थ

ज्ञानामिर्दम, विथ ओल्ड कमेन्टरी, वागीश मुनिवर : अव्वै दोरास्वामी पिल्लै, मलै युनिवर्सिटी १९५४
तिरुवन्तियार- उय्यवन्त तेवर : के० वज्जिखेलु मुदलियार मद्रास, १९६९
तिरुक्कडवूर, तिरुक्कलिरुप्पतियार, उय्यवन्त तेवर : समाजम, १९४०
शिवज्ञान बोधम्, मेइकण्डार : समाजम, १९३४
शिवज्ञान बोधम्, नल्लास्वामी पिल्लै, जे० एन, : धरमपुरा आदिनाम १९४९
शिवज्ञान बोधम्, होइसिंगटन, एच० आर० : अन्ग्रेजी अनुवाद, जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरिएन्टल सोसाइटी, IV, १८५३-५४
एन आउटलाईन ऑफ शिव ज्ञान बोधम्, शिवपाद सुन्दरम, एस० : जफना, १९५१
शिवज्ञान बोधम, ए मैनुवल ऑफ शैव रेलिजस डाक्ट्रिन, मैथ्युस, गार्डन : आक्सफोर्ड १९४८
अरुलनन्दी शिवाचार्य, शिवज्ञान सिद्धियार, विथ सिक्स कमेन्टरीज, ४ वो० : मद्रास १९०४
शिवज्ञान सिद्धि सुपक्कम एण्ड परपक्कम, नल्लास्वामी पिल्लै, जे० एन० : मद्रास, १९२७

इरुपा इरुपदु, अंग्रेजी अनुवाद सहित; नल्लास्वामी पिल्लै, जे० एन० : धरमपुरा आदिनाम, १९५०

उन्मैविलक्कम, अंग्रेजी अनुवाद सहित; नल्ला स्वामी पिल्लै, जे० एन० : मद्रास, १९२९

शिवपिरकाशम, अंग्रेजी अनुवाद सहित; सुब्रह्मण्यमपिल्लै के०, : धरमपुरा आदिनाम, १९४९

संकल्प निराकरणम, अंग्रेजी अनुवाद सहित; मुरुकेश मुदलियार, एन० : शैव-सिद्धान्त, वो० २-४, (१९६८-७२)

तिरुवरुत्पयन, अंग्रेजी अनुवाद सहित; नल्लास्वामी पिल्लै, जे० एफ० : धरमपुरा आदि-नाम, १९४५

तिरुवरुत्पयन, अंग्रेजी अनुवाद सहित; पोप, जी० यू० : आक्सफोर्ड, १९००

उमापति शिवाचार्य, कोडिक्कवि, वीणावेन्वा एण्ड उन्मैनेरि विलक्कम, : समाजम, १९४०

सिद्धान्त त्रयम, अंग्रेजी अनुवाद सहित; नल्ला स्वामी पिल्लै, जे० एन० : धरमपुरा आदिनाम, १९४६

साम्स आँफ ए शैव सेन्ट; तम्व्यह, आइसैक : लन्दन १९२५

द मिस्ट्री आँफ गाडलाइन्स; रामनाथन, पी० : न्यू यार्क, १८९५

स्टडीज इन शैव-सिद्धान्त; नल्लास्वामी पिल्लै, जे० एन० : मद्रास, १९१०; धरमपुरा, आदिनाम १९६२ द्वारा पुनः प्रकाशित

शैव-सिद्धान्त; परन जोति, वी०, द्वितीय संस्करण : लूजैक, लन्दन १९५४

शैव-सिद्धान्त थ्यूरी आँफ नालेज, पोन्नियाह, वी०, : अन्नामलै युनवर्सिटी, १९५२

ए लाजिकल प्रसेन्टेशन आँफ शैव सिद्धान्त फिलासफी; पिट, एच० जे० : मद्रास १९५२

द शैव स्कूल आँफ हिन्दुइज्म, शिवपाद सुन्दरम, एस० : एलेन एण्ड अनविन लन्दन १९३४

द शैव सिद्धान्त एज फिलासफी आँफ प्रैक्टिकल नालेज; मरैमलै आदिगल : कजकम, मद्रास १९६६

द कल्ट आँफ शिव आर लेसन्स इन शिवज्ञान बोधम; कान्तिनाथ पिल्लै : कजकम, मद्रास १९६१

शैव-सिद्धान्त, देवसेनापति, वी० ए० : द युनिवर्सिटी आँफ मद्रास १९५८

द डाक्ट्रिन आँफ ग्रेस इन शैव-सिद्धान्त; अरोकियासामी, ए० पी० : त्रिचिनापल्ली, १९३५

लव आँफ गाड एकार्डिग टु शैव-सिद्धान्त; धावमोनो मरियसुसै : आक्सफोर्ड १९७१
द आइडिया आँफ गाड इन शैव-सिद्धान्त; महादेवन, टी० एम० पी० : अन्नामलै युनिवर्सिटी १९५५
'शैव-सिद्धान्त' इन फिलासफी ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न; टी० एम० पी० महादेवन : एलेन एण्ड अनविन, लन्दन १९५२
स्पेशल लेक्चर्स आन शैव-सिद्धान्त; बालसुब्रह्मण्यम, के० एम० : अन्नामलै युनिवर्सिटी १९५९
द रेलिवेन्स आँफ शैव-सिद्धान्त फिलासफी; मुरुगेश मुदलियार, एन०, : अन्नामलै युनिवर्सिटी १९६८
लेक्चर्स आन शैव-सिद्धान्त; वज्जिखेलुमुदलियार, के० : अन्नामलै युनिवर्सिटी, १९५३
ओरिजिन एण्ड अर्ली हिस्ट्री आँफ शैविज्म इन साउथ इण्डिया; नारायण अय्यर, सी० वी० : युनिवर्सिटी आँफ मद्रास, १९३६
द मेटाफिसिक्स आँफ शैव-सिद्धान्त सिस्टम; सुब्रह्मण्यमपिल्लै के० : कजकम, मद्रास १९५८
ए हिस्ट्री आँफ इण्डियन फिलासफी, वॉ० ५; दासगुप्ता एस० एन० : कैम्ब्रिज, १९५७

शुद्धि—पत्र

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
३	२	माना गया है	मानी गई है
३	६	के पूर्णता	की पूर्णता
३	३२	अथव	अथवा
६	१८	शव	शैव
७	२२	शव-सिद्धान्त	शैव-सिद्धान्त
७	२४	दया का प्रतिमूर्ति	दया की प्रतिमूर्ति
८	८	अतः इसलिए	अतः
८	२६	पड	पड़
८	३२	Self conscioussness	Self consciousness
९	१३	जानने	जाने
१०	१५	के भलाई	की भलाई
११	१७	दशन	दर्शन
१३	१०	शिक्षा दिया	शिक्षा दी
१५	६	होना कहा गया है	होनी कही गई है
१७	१८	माना गया है	मानी गई है
२२	२१	कर सकता है	कर सकती है
२४	१९	दपर्ण	दर्पण
२५	१	आँशिक	आंशिक
२६	२६	शद्ध	शुद्ध
३६	२६	हाकर	होकर
३९	३	ईश्वर्रय	ईश्वरीय
३९	१०	?	।
४७	६	बाध्य	बाह्य
४७	३०	)	।
५४	६	विशष	विशेष
५४	८	नपुसक	नपुंसक
५८	७	सकती	सकती

५८	२३	तदनुरुपित	तदनुरूपित
५९	२३	करता	करती
६०	१६	गतिवान	गतिमान
६०	१७	ऋणात्णक	ऋणात्मक
७०	९	अन्तभूत	अन्तर्भूत
७५	३	होता है	होती है
७५	१३	ओर	और
७५	१८	मीमासकों	मीमांसकों
७५	१९	कदाचिदनीट्टशम्	कदाचिदनीदृशम्
७७	२२	नष्तप्राय	नष्टप्राय
७८	५	अश	अंश
८०	२९	की जायगी	किया जायगा
८०	३०	होनी	होने
८३	२	समझा जा सकता है	समझी जा सकती है
८४	१०	कता	कर्ता
८५	१५	रुप	रूप
८५	१६	अरुप	अरूप
८५	१८	रुप	रूप
८६	२१	श्वेताश्वत	श्वेताश्वतर
८६	३०	आविर्भतम	आविर्भतम्
८६	३०	विलक्कम	विलक्कम्
८७	३	हो जाती है	हो जाता है
८७	९	दिखाने लिए	दिखाने के लिए
९०	१५	रुप	रूप
९०	१६	स	से
९०	३२	उसम	उसमें
९१	१	रुप	रूप
९१	५; १४	स्वरुप	स्वरूप
९१	६,८,१८	स्वरुप, रुप	स्वरूप, रूप
९२	१	परिमित	परिणमित
९२	६, ८	रुप, स्वरुप	रूप, स्वरूप
९२	१९	यर्थाथवादी	यथार्थवादी

९३	५	शंव-सिद्धाती	शैव-सिद्धान्ती
९५	११	मिला ना	मिलाना
९६	५	सश्लेपण	संश्लेषण
९६	१६	बौद्धावाद	बौद्ध-सिद्धान्त
९७	२०,२१,२४	सघर्ष	संघर्ष
९९	१३	सख्या	संख्या
९९	३२	अहम ब्रह्ममास्मि	अहम् ब्रह्मास्मि
१०१	२८	ब्रूमहें	ब्रूमहे
१०३	४	सदन्दर्भ	सन्दर्भ
१०५	९	सकता है	सकती है
१०५	१५	निरुपित	निरूपित
१०८	४	अर्न्तसंबधित	अन्तसंबन्धित
१०८	१६	परिणाण	परिणाम
१०९	१२	सयोजन	संयोजन
१०९	२६	समीम	ससीम
११२	९	शिव-सिद्धान्त	शैव-सिद्धान्त
११४	९	घर्तता	धूर्तता
११९	७	ग्रहणार्यं	ग्रहणार्थं
११९	८	सयोग	संयोग
११९	१०	कठ	कंठ
११९	११	म	में
११९	१६	नह	नहीं
१२०	१५	अपुद्ध	अशुद्ध
१२३	८	स्वय	स्वयं
१२५	३२	करके	करने
१२६	३	अशत:	अंशत:
१२९	३	होती	होतीं
१३३	४	की	ही
१३३	१७	प्रक्रियाय	प्रक्रियायें
१३८	३	स्वय	स्वयं
१४३	२१	सिद्धान्तो	सिद्धान्ती
१४४	८	सभावना	संभावना
१४६	३		
१५१	२		
१५२	३२		
१५९	२०		
१६१	२०		
१६२	१		
१६७	१४		
१६८	५		
१७०	२२		
१७०	२३		
१७१	१		
१७१	३		
१७१	९		
१७२	३१		
१७४	११		
१७८	२७		
१८२	१३		
१८३	८		
१८३	२९		
१८४	१०		
१८६	१४		
१८९	१३		
१९१	१७		